हिन्दी की प्रमुख स्त्री आत्मकथाओं में यथार्थ और आकांक्षा का द्वंद्व

(स्त्री अस्मिता के विशेष संदर्भ में)

पी–एच॰डी॰ (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध

शोध–निर्देशक

प्रो॰ गोबिन्द प्रसाद

शोधकर्ता

बबिता

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली – 110067

2017

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY

Centre for Indian Langauges

School of Language, Literature & Culture Studies

New Delhi-110067, INDIA

Date: 21 / 07 /2017

DECLARATION

I declare that the work done in this thesis entitled " **HINDI KI PRAMUKH STRI AATMKATHAON MEIN YATHARTH AUR AKANKSHA KA DWANDWA (STRI ASMITA KE VISHESH SANDARBH MEIN) [THE CONFLICT OF REALITIES AND ASPIRATIONS IN THE REPRESENTATIVE HINDI AUTOBIOGRAPHIES OF WOMEN - WITH SPECIAL CONTEXT OF WOMEN IDENTITY]"** submitted by me is an original research work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/Institution.

BABITA
(Research Scholar)

Prof. GOBIND PRASAD
(Supervisor)
CIL/SLL&CS/JNU

Prof. GOBIND PRASAD
(Chairperson)
CIL/SLL&CS/JNU

समर्पण

मम्मी को....

जिनका शोषण और संघर्ष

स्त्री चेतना से मेरा प्रथम परिचय था।

पापा को...

जो पारम्परिक पति और प्रगतिशील पिता की

भूमिका एक साथ निभाते रहे।

अनुक्रमणिका

पृष्ठ

भूमिका i-v

पहला अध्याय

अस्मिता मूलक चिन्तन की अवधारणा 1–53

1. अस्मिता की अवधारणा
2. अस्मिता के विभिन्न रूप–प्रकार
3. अस्मिता और वर्चस्वशीलता

दूसरा अध्याय

प्रमुख आत्मकथाकार एवं आलोचकों की स्त्री अस्मिता संबंधी दृष्टि 54–81

1. देह पर अधिकार बनाम यौन स्वतंत्रता
2. स्वावलंबन बनाम अर्थतंत्र पर एकाधिकार
3. उदात्त प्रेम बनाम दाम्पत्येतर संबंध
4. व्यक्ति–स्वातंत्र्य बनाम घर–परिवार से मुक्ति

तीसरा अध्याय

आत्मकथाओं में अभिव्यक्त यथार्थ के आयाम 82–152

1. प्रेम, विवाह और परिवार का अन्तर्जाल
2. अधिकार की माँग बनाम पारिवारिक विघटन
3. परिवार और परिवार से बाहर जीवन–संघर्ष
4. स्त्री यौन–शोषण के विभिन्न रूप
5. अभिशाप–दर–अभिशाप : स्त्री अस्मिता के वर्ग–वर्ण संबंधी प्रश्न

चौथा अध्याय

स्त्री आत्मकथाओं में अभिव्यक्त यथार्थ और आकांक्षा का द्वन्द्व तथा उनका रूपायन 153–202

1. प्रेम और विवाह : रूढ़ियों से मुक्ति तथा निर्णय की स्वतंत्रता की आकांक्षा
2. घरेलू हिंसा से मुक्ति एवं सम्मान की आकांक्षा
3. जीवन की त्रासदी एवं स्त्री की भूमिका
4. पैतृक सम्पत्ति में भागीदारी एवं सशक्तीकरण का प्रश्न

पाँचवाँ अध्याय

स्त्री आत्मकथाओं में यथार्थ और आकांक्षा का द्वन्द्व : भाषा–शिल्प 203–234

1. स्त्री आकांक्षा के धागे और आत्मकथाओं की आन्तरिक संरचना
2. स्त्री–पुरुष सम्बंधों में तनाव और टकराव का भाषिक रूपान्तरण
3. दलित एवं गैर–दलित चरित्रों की भाषिक भिन्नता
4. लोकगीतों, लोकोक्तियों एवं मुहावरों में यथार्थ और आकांक्षा के स्वर

उपसंहार 235–236

सहायक ग्रन्थ–सूची 237–246

भूमिका

स्त्रियों के साथ नैतिकता–अनैतिकता संबंधी बंदिशें, वर्जनाएँ, गाली–गलौज, मार–पीट जैसी घटनाएँ और इन सबके प्रति उसकी विवशतापूर्ण, असहाय स्थिति – ये सब कोई नई बात नहीं है। घर–परिवार–समाज में किसी–न–किसी रूप में रोज़ाना इनकी आवृत्ति होती रहती है। फलतः स्त्री की दोयम स्थिति से हर लड़की सामान्यतः बचपन से ही परिचित होती है, और यही समझती है कि ये तो स्त्री की नियति है, उसके जीवन का सत्य है। विकास की प्रक्रिया में शिक्षा एवं ज्ञान के द्वारा जब उसे ज्ञात होता है कि स्त्री जीवन का यह तथाकथित सत्य सत्य नहीं––पुरुष–सत्ता का षड्यंत्र है, तब यहाँ से विचार की दिशा में परिवर्तन शुरू हो जाता है। मेरे साथ भी ऐसा ही हुआ––स्त्री असमानता के विभिन्न कारणों को समझने की चाह में, मैं स्त्री अस्मिता विमर्श से परिचित होती गई। इस परिचय ने मुझे गहन स्त्री अध्ययन की ओर प्रेरित किया और मैंने स्त्री अस्मिता पर शोध का निर्णय लिया।

विषय का चयन अगला चरण था। जिसमें मेरे शोद निर्देश प्रो. गोबिन्द प्रसाद ने बहुत सहयोग किया। उन्होंने जब स्त्री आत्मकथाओं के बारे में सुझाया तो मुझे मेरा रास्ता मिल गया। स्त्री जीवन को सबसे ज्यादा गहराई और प्रामाणिकता के साथ समझने में स्त्री आत्मकथाओं से बेहतर और कुछ नहीं हो सकता था। इस प्रकार विषय बना – 'हिन्दी की प्रमुख स्त्री आत्मकथाओं में यथार्थ और आकांक्षा का द्वन्द्व (स्त्री अस्मिता के विशेष सन्दर्भ में)' जिसे कुल पाँच अध्यायों में विभाजित किया गया है।

शोध के प्रथम अध्याय 'अस्मितामूलक चिंतन की अवधारणा' को 'अस्मिता की अवधारणा', 'अस्मिता के भिन्न रूप–प्रकार' एवं 'अस्मिता और वर्चस्वशीलता' नामक तीन उप–अध्यायों में विभाजित किया गया है। इस अध्याय में अस्मिता के शाब्दिक अर्थ को स्पष्ट करते हुए उसके महत्त्व एवं

स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। अस्मिता विमर्श के प्रमुख तीन रूपों – दलित अस्मिता विमर्श, आदिवासी अस्मिता विमर्श का गहन परिचय देते हुए स्त्री अस्मिता विमर्श के पाश्चात्य एवं भारतीय दोनों संदर्भों का विस्तृत अध्ययन किया गया है। इसी अध्याय में अस्मिता और वर्चस्वशीलता के अन्तःसंबंधों का भी अध्ययन किया गया है।

शोध प्रबन्ध के दूसरे अध्याय–'प्रमुख आत्मकथाकार एवं आलोचकों की स्त्री अस्मिता संबंधी दृष्टि' को चार उप–अध्यायों – 'देह पर अधिकार बनाम यौन स्वतंत्रता', 'स्वावलंबन बनाम अर्थतंत्र पर एकाधिकार, 'उदात्त प्रेम बनाम दाम्पत्येतर संबंध' तथा 'व्यक्ति–स्वातंत्र्य बनाम घर–परिवार से मुक्ति' में विभाजित किया गया है। स्त्री अस्मिता विमर्श के देह, प्रेम, स्वतंत्रता, आर्थिक समानता आदि विभिन्न मुद्दों के बारे में काफी भ्रामक एवं नकारात्मक धारणाओं का प्रचार–प्रसार कर उसे खारिज करने की कोशिश की जाती है। इस अध्याय में स्त्री अस्मिता विमर्श के इन मुद्दों के सभी पक्षों को ध्यान में रखते हुए विभिन्न दृष्टिकोणों का संतुलित अध्ययन किया गया है।

शोध प्रबन्ध का तीसरा अध्याय 'स्त्री आत्मकथाओं में अभिव्यक्त यथार्थ के आयाम' को पाँच उप–अध्यायों – 'प्रेम, विवाह और परिवार का अन्तर्जाल', 'अधिकार की माँग बनाम पारिवारिक विघटन', 'परिवार और परिवार से बाहर जीवन–संघर्ष', 'स्त्री यौन शोषण के विभिन्न रूप', 'अभिशाप–दर–अभिशाप : स्त्री अस्मिता के वर्ग–वर्ण संबंधी प्रश्न' में विभाजित किया गया है। इस अध्याय में अस्मिता विमर्श के अन्तर्गत आत्मकथा विधा की लोकप्रियता एवं महत्त्व के कारणों पर प्रकाश डालते हुए स्त्री आत्मकथाओं के उद्‌भव का अध्ययन किया गया है। साथ ही आत्मकथा की सच्चाई एवं जीवन के प्रति निष्पक्ष आकलन के दृष्टिकोण पर विचार करते हुए स्त्री–शोषण की विभिन्न यथार्थपरक परिस्थितियों, घटनाओं का भी अध्ययन किया गया है।

शोध प्रबन्ध के चौथे अध्याय – 'स्त्री आत्मकथाओं में यथार्थ और आकांक्षा का द्वन्द्व तथा उनका रूपायन' को क्रमशः निम्नलिखित चार

उप–अध्यायों में विभाजित किया गया है – 'प्रेम और विवाह : रूढ़ियों से मुक्ति तथा निर्णय की स्वतंत्रता', 'घरेलू हिंसा से मुक्ति एवं सम्मान की आकांक्षा', 'जीवन की त्रासदी एवं स्त्री की भूमिका' तथा 'पैतृक सम्पत्ति में भागीदारी एवं सशक्तिकरण का प्रश्न'। इस अध्याय में प्रेम और विवाह जैसे जीवन के महत्त्वपूर्ण निर्णयों में स्त्री की भागीदारी, भूमिका तथा पारिवारिक रूढ़ियों के खिलाफ स्त्री के संघर्ष का अध्ययन किया गया है। अपने जीवन की त्रासदियों में पितृसत्ता के साथ–साथ स्त्री की भागीदारी के प्रश्न पर भी विचार किया गया है। घरेलू हिंसा के रूप में अपने साथ होने वाले अत्याचार एवं शोषण के प्रति स्त्री के मानसिक द्वन्द्वों एवं उनसे मुक्ति की आकांक्षा का भी अध्ययन किया गया है। स्त्री को पैतृक सम्पत्ति से वंचित करने के पितृसत्तात्मक षड्यंत्र और अपनी सशक्तिकरण की दिशा में स्त्री के प्रयास का भी अध्ययन किया गया है।

शोध प्रबन्ध का पाँचवाँ अध्याय 'स्त्री आत्मकथाओं में यथार्थ और आकांक्षा का द्वन्द्व : भाषा–शिल्प' चार उप–अध्यायों में विभाजित है – 'स्त्री आकांक्षा के धागे और आत्मकथाओं की आंतरिक संरचना', 'स्त्री–पुरुष संबंधों में तनाव और टकराव का भाषिक रूपांतरण', 'दलित एवं गैर–दलित चरित्रों की भाषिक भिन्नता' तथा 'लोकगीतों, लोकोक्तियों एवं मुहावरों में यथार्थ और आकांक्षा के स्वर'। इस अध्याय में आत्मकथा विधा को गढ़ने वाले तत्वों में स्मृति, फ्लैशबैक आदि पद्धतियों के द्वारा स्त्री आत्मकथाओं की तारतम्यता, घटनाओं की क्रमबद्धता आदि का अध्ययन भी इसी अध्याय में है। स्त्री–पुरुष संबंधों में तनाव और टकराव की भाषा के रूपायन, दलित एवं गैर दलित चरित्रों की भाषा–संस्कृति के अन्तर को भी रेखांकित करते हुए लोकगीतों, लोकोक्तियों और मुहावरों में स्त्री जीवन के यथार्थ और आकांक्षा का गहन अध्ययन भी इस अध्याय में किया गया है।

इस शोध प्रबंध की रूप रेखा से लेकर इसके पूरा होकर इस रूप तक आने में अपने शोध निर्देशक प्रो. गोबिन्द प्रसाद के किन–किन योगदानों का उल्लेख करूँ, अपने गंभीर अस्वास्थ्य के बावजूद सर ने जितना समय दिया,

मेरे दृष्टिकोण का परिमार्जन किया, मेरी अन्तर्दृष्टि को प्रकाशित किया – वह ताउम्र मेरे व्यक्तित्व को गढ़ती रहेगी। इसका ऋण मैं मात्र आभार प्रकट करके नहीं चुका सकती। बस कोशिश कर सकती हूँ कि मैं जहाँ भी रहूँ अपने ज्ञान और कर्म के द्वारा गुरु के नाम का सम्मान बनाए रख सकूँ। हमारी प्रार्थना है कि सर जल्दी स्वस्थ हो जाएँ, हिन्दी साहित्य को और हम सभी शिष्यों को उनकी बहुत आवश्यकता है।

स्त्री आत्मकथाओं से गुज़रते हुए सबसे ज़्यादा मम्मी की याद आई। उनका शोषण और संघर्ष याद आता रहा, मेरे हर फैसले में उनका मेरे साथ बने रहना याद आता रहा। स्त्री अस्मिता विमर्श और पितृसत्ता के टकराव का अध्ययन करते हुए मुझे पापा याद आते रहे, जिन्होंने न केवल मेरा प्रेम विवाह सम्पन्न करवाया बल्कि मेरे लिए अपने समाज के विरोध का भी मजबूती के साथ सामना किया; मुँहतोड़ जवाब देकर सबकी बोलती बंद की। काश सबके माँ–बाप अपनी बेटियों के लिए इतना कर सकें। मेरे बाबूजी (श्वसुर जी) समय–समय पर शोध प्रबंध के विकास की गति की जानकारी लेते रहे, जीवन–उत्कर्ष के लिए अध्ययन को ही एकमात्र विकल्प के रूप में समझते रहे। ऐसे माँ–बाप को धन्यवाद और आभार प्रकट नहीं किया जा सकता। उन पर गर्व प्रकट करते हुए उनका सम्मान और सेवा की जा सकती है।

बहुत से पुरुष ऐसे मिलेंगे जो समाज और साहित्य में स्त्री अस्मिता विमर्श का झंडा उठाए रहेंगे, और अपने स्वयं के घरों में, पति–पत्नी के रिश्तों में पितृसत्ता के पिष्टपोषक बने रहेंगे। राजेश के रूप में मुझे ऐसा जीवन साथी मिला जिसने मुझे सर्वप्रथम न केवल स्त्री विमर्श से परिचित करवाया, बल्कि उसे हमारे घर में और रिश्ते में लागू भी किया। अपनी अस्वस्थता के कारण मैं बिना उनकी देखभाल के और बिना उनके योगदान (प्रूफ रीडिंग, विचार–विमर्श और सुधार) के मैं इतनी बड़ी जिम्मेदारी पूरी कर पाती, इसमें संशय है। अपनी आत्मा के आधे हिस्से का आभार प्रकट करना बड़बोलापन होगा। मेरे ससुराल पक्ष के उन सभी लोगों को धन्यवाद जिन्होंने मेरी ज़रूरत के वक्त मेरा साथ दिया।

मेरे भाई–बहन––अंकित, नितेश, अर्पिता और आरिन, ये सब मेरी दुनिया हैं। अपनी हिटलर दीदी के प्रति इनका प्रेम और विश्वास मेरा आत्मबल है। हम पाँचों भाई–बहन हाथ की पाँच उँगलियाँ हैं, जो एक साथ लड़ने पर ही मजबूत बनते हैं।

शोध प्रबंध में जिन मित्रों का मुझे सहयोग मिला––सुरभि दीदी, अंशिता शुक्ला, प्रियंका सोनकर, मिथिलेश और धीरन्द्र आदि का बहुत–बहुत आभार। उन शुभचिंतकों, जिनसे मुझे हमेशा संबल मिलता रहा––डॉ. जीत सिंह सर, हीरा मैडम, डॉ. रवीन्द्र सरोनिया सर, सरिता मौर्य मैडम, डॉ. दीनदयाल सर, डॉ. देवेश शर्मा आदि के प्रति हार्दिक आभार।

अंत में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय तथा साहित्य अकादमी के पुस्तकालय कर्मियों के प्रति आभार, शोध सामग्री की उपलब्धता में सहयोग किया। टाइपिस्ट सहयोगी खुशीपाल सैनी एवं विक्रम सिंह का भी बहुत–बहुत आभार जिन्होंने इस शोध प्रबन्ध को मूर्त एवं व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया।

अगर मेरा यह अध्ययन स्त्री जीवन के शोषणपरक यथार्थ, समतामूलक आकांक्षा को समझने तथा स्त्री अस्मिता विमर्श के सिद्धान्तों के विकास में थोड़ा भी योगदान देने में सफल होता है तो मैं अपने श्रम को सार्थक समझूँगी।

दिनाँक : 21/07/2017 **बबिता**

पहला अध्याय

अस्मितामूलक चिन्तन की अवधारणा

1. अस्मिता की अवधारणा
2. अस्मिता के विभिन्न रूप–प्रकार
3. अस्मिता और वर्चस्वशीलता

पहला अध्याय

अस्मितामूलक चिंतन की अवधारणा

किसी भी व्यक्ति को अपने शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि विभिन्न आयामों के सन्तुलित विकास का मौलिक अधिकार उसके जन्म के साथ ही प्राप्त होता है। साथ ही उसे यह उत्तरदायित्व भी मिल जाता है कि इस विकास के माध्यम से वह अपने समाज, देश और संसार को सुन्दर, शुभ तथा समतामूलक बनाये। बात बहुत सीधी–सरल प्रतीत होती है, लेकिन ऐसा है नहीं। व्यक्ति के जन्म से लेकर विकास और योगदान तक का यह सफर इतना मुश्किल होता है या बना दिया जाता है कि इससे जूझता–लड़ता हुआ व्यक्ति अपना स्वस्थ–स्वाभाविक विकास कर ही नहीं पाता। जो ऐसा कर पाते हैं उनमें से कुछ विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग से सम्बद्ध होते हैं; जो ऐसे वर्ग से नहीं आते उन्हें कदम–कदम पर अपमान, उपेक्षा, भेद–भाव, सामाजिक प्रताड़ना आदि का शिकार होना पड़ता है। उपेक्षा या प्रताड़ना के कारण वे आधार हैं जो मूलतः हैं तो प्राकृतिक, लेकिन जिनकी व्याख्या वर्चस्वशाली वर्ग की सुविधा और उसके विशेषाधिकार के अनुसार की जाती है। लिंग, वर्ण, जाति, रंग, नस्ल, भाषा, धर्म, संस्कृति, क्षेत्र आदि अनेक सामाजिक–सांस्कृतिक, धार्मिक–राजनैतिक घटक हैं जो ऐसी भेद–भावपरक परिस्थितियों की उत्पत्ति का आधार बनाये जाते हैं।

समाज में जब किसी व्यक्ति, समूह, समुदाय, वर्ण, वर्ग, जाति, लिंग आदि को सोची–समझी साजिश के तहत कुछ काल्पनिक आधारों पर मुख्यधारा से ढकेलकर हाशिये पर रहने को मजबूर किया जाता है; उसे मनुष्य होने के अधिकार तक से वंचित किया जाता है तो यहाँ से एक नये तरह का संघर्ष शुरू हो जाता है– अस्मिता, आत्मसम्मान, सांस्कृतिक पहचान का संघर्ष, मुनष्य होने के नाते अपनी आशाओं–आकांक्षाओं को पूरा करने के अधिकार के लिए संघर्ष।

दरअसल स्वयं को उच्चवर्णीय, अभिजात, महान, पवित्र, बलवान आदि मानने की भावना ने कुछ व्यक्तियों एवं धार्मिक, जातीय, आर्थिक, राजनैतिक, लैंगिक समूहों में अहंकार और वर्चस्व की भावना भर दी है। फलस्वरूप स्वयं को

श्रेष्ठ तथा दूसरे को हेय मानने की प्रवृत्ति ने समाज में असंतुलन, असहिष्णुता और संघर्ष की स्थिति पैदा की है। हाशिए पर ढकेले कुछ वर्गों यथा दलितों, स्त्रियों, आदिवासियों आदि ने यथास्थितिवाद, वर्चस्ववाद के प्रति नकार की दृष्टि अपनाई, जिससे समाज और साहित्य जगत में हलचल पैदा होना स्वाभाविक था।

भारतीय परिदृश्य के अलावा श्रेष्ठ और हेय की यह मनगढ़न्त धारणा कमोबेश वैश्विक पटल पर भी नजर आती है। पश्चिम का नारीवादी आन्दोलन, नस्लभेद के खिलाफ अश्वेत संघर्ष इसी विरोध का परिणाम हैं। सम्पूर्ण अफ्रीकी महाद्वीप और दक्षिणी अमेरिकी महाद्वीप अन्य कई देशों की तरह बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक 'श्वेतों' का उपनिवेश था। साम्राज्यवाद की मूल भावना यह थी कि श्वेत प्रजाति के लोग (गोरे लोग) ईश्वर के दूत, सभ्य और सुसंस्कृत हैं, फलतः पृथ्वी पर सर्वश्रेष्ठ हैं। इसी भावना ने उन्हें सारी दुनिया पर कब्जा करने और वहाँ के निवासियों को तथाकथित सुसंस्कृत एवं सभ्य बनाने की प्रेरणा दी, जिसके परिणामस्वरूप ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड जैसे देशों से अश्वेत मूल निवासी नरसंहार के माध्यम से नष्ट कर दिये गए। इसी श्रेष्ठत्व की अहंकारी भावना के फलस्वरूप सम्पूर्ण अफ्रीकी महाद्वीप का मनमाना बँटवारा किया गया। दक्षिण अफ्रीकी नेता नेल्सन मण्डेला को अश्वेतों की अस्मिता के लिए सन् 1990 तक कुल 27 साल जेल में बिताने पड़े थे। मार्टिन लूथर किंग इसी नीग्रो आन्दोलन की उपज थे।

रंग और नस्ल के आधार पर तथा श्वेतों के इसी अत्याचार के विरुद्ध 'ब्लैक लिटरेचर' या अश्वेत साहित्य का जन्म होता है। इसी आन्दोलन के 'ब्लैक पैंथर' की तर्ज पर मुम्बई में 'दलित पैंथर' की नींव पड़ती है।

हमारे भारतीय समाज में स्त्री को किस प्रकार उठना–बैठना चाहिए, किस प्रकार बोलना चाहिए, उसके कर्त्तव्य क्या–क्या हैं, उसके अधिकारों का दायरा कहाँ तक सीमित–विस्तृत है, इत्यादि बहुत–सी बातों को स्त्री–शिक्षा के अन्तर्गत रखा गया है, जिन पर अनेक पुस्तकें और पत्रिकाओं के विशेषांक निकाले जा चुके हैं। उल्लेखनीय है कि स्त्री–शिक्षा से तात्पर्य स्त्री की पुरुष योग्य निर्मिति से है, जो किसी भी स्त्री को जीवन–पर्यन्त दी जाती है।

यही स्थिति इस समाज में दलितों की है, भारतीय दर्शन (तथाकथित सवर्ण, मनुवादी दर्शन) 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की बात करता है, किन्तु अपने समाज के कुछ मनुष्यों को मनुष्य तो क्या पशु तक भी नहीं समझता। पशु–पक्षियों से बेहद प्रेम करने वाले इस समाज के (सवर्ण समाज, सामाजिक नियंतावर्ग) के लिए कुछ मनुष्य इस हद तक अस्पृश्य हैं कि वह उनकी छाया तक से अपवित्र हो जाता है।

यही हाल यहाँ के आदिवासियों का है; स्वयं को सुसंस्कृत, विकसित, श्रेष्ठ मानने वाला समाज आदिवासियों को उनकी संस्कृति, उनके रहन–सहन, भाषा–बोली आदि को अपनी पूर्वाग्रही मानसिकता से देखने के कारण उन्हें हेय, जंगली, असभ्य, पिछड़ा मानता है।

विकास के भ्रामक सपने दिखाकर आदिवासियों को उनके जल, जंगल, जमीन से दिन–प्रतिदिन बेदखल किया जा रहा है। विस्थापन और अधिकार हीनता की यह स्थिति आदिवासियों को अपनी पहचान हेतु संघर्ष के लिए विवश करती है।

अपने मूल रूप में अस्मिता विमर्श शोषणकारी, भेदभावपूर्ण व्यवस्था से मुक्ति तथा समाज में समता, स्वंतत्रता, बंधुता की स्थापना के लिए संघर्ष है।

1. अस्मिता की अवधारणा

व्यक्ति की बहुआयामी शोषणपरक स्थिति के खिलाफ उसकी पहचान को लेकर समाज और साहित्य में जो भी विद्रोह, आन्दोलन, विचार, बहसें हुईं और हो रही हैं, उन्हें अस्मिता विमर्श के नाम से जाना–पहचाना गया।

अस्मिता शब्द अंग्रेजी के 'Identity' का हिन्दी पर्याय है, जिसका तात्पर्य व्यक्तित्व, विशिष्टता; व्यक्तिगत, सर्वसमता, एकरूपता, पहचान आदि है।[1]

---

[1] अंग्रेजी हिन्दी शब्द कोश, डॉ0 हरदेव बाहरी, पृष्ठ : 334

हिन्दी में प्रचलित 'अस्मिता' संस्कृत का स्त्रीलिंग शब्द है, जो 'अस्मि' से बना है। संस्कृत शब्द 'अस्मि' का अर्थ होता है– 'मैं'। बौद्धिक जगत की चर्चा के केन्द्र में स्थापित 'अस्मिता' शब्द का मूल अर्थ 'बृहद् हिन्दी कोश' में 'अहंता', 'अहंकार' जैसे

नकारात्मक रूप में उल्लिखित किया गया है–

''अस्मिता–स्त्री (सं.) अहंता; अहंकार; अस्तित्व; विद्यमानता
xxx योगशास्त्रोक्त पाँच प्रकार के क्लेशों में से एक।''[2]

'बृहद हिन्दी कोश' में 'अस्तित्व' और 'विद्यमानता' का उल्लेख अस्मिता के गौण अर्थों में किया गया है, और अन्त में योगशास्त्रोक्त पाँच प्रकार के क्लेशों में से एक बताया गया है। यानि 'अस्मिता', दुख और कष्ट का एक कारण–रूप है, क्लेश देने वाला है।

'योगदर्शन में पाँच प्रकार के क्लेश माने गए हैं–
''अविद्यादुस्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः पंचक्लेशाः''

(1)–अविद्या, (2)–अस्मिता, (3)–राग, (4)–द्वेष (5)–अभिनिवेश। भाष्यकार व्यास ने इन्हें 'विपर्यय' कहा है तथा इनके पाँच नाम बताये हैं– (1)–तम (अविद्या), (2)–मोह (अस्मिता), (3)–महामोह (राग), 4) तामिस्र (द्वेष), (5)–अंधतामिस्र (अभिनिवेश)'[3]

योगदर्शन में पाँच क्लेशों में से एक 'अस्मिता' का अर्थ स्पष्ट करते हुए 'हिन्दी साहित्य कोश; (भाग–1) में लिखा गया है–

''दूसरा क्लेश अस्मिता है। अस्मिता अर्थातः अहंकार बुद्धि और आत्मा को एक ही मान लेना। 'मैं' और 'मेरापन' की अनुभूति ही अस्मिता है।''[4]

---

[2] बृहत हिन्दी कोश, सं0–कलिका प्रसाद, राजबल्लभ सहाय, मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव, पृष्ठ : 110

[3] हिन्दी साहित्य कोश, भाग–1, सं0–डा0 धीरेन्द्र वर्मा, पृ0–211

[4] वही, पृष्ठ 211

परम्परापोषित विद्वानों द्वारा भारतीय सन्दर्भ में विभिन्न अस्मिताओं को इन्हीं नकारात्मक अर्थों में प्रचारित–प्रसारित किया जाता रहा है। संभवतः यही कारण है कि पारम्परिक भारतीय संस्कृति के प्रति अंधासक्त या मोहग्रस्त व्यक्ति भारत में तमाम अस्मिता आन्दोलनों को खल चरित्र के रूप में ही देखता है। खास तौर से स्त्री अस्मिता विमर्श को।

माननीय विद्वानों का मानना है कि अस्मिता अधिकार प्राप्त करने की भावना है, जबकि भारतीय आदर्श कर्त्तव्य और त्याग का दर्शन है। कहना न होगा कि स्त्रियों को त्याग और कर्त्तव्य का आदर्श घुट्टी के रूप में पिलाया जाता है। त्याग और सहनशीलता की प्रतिमूर्ति स्त्रियों की अस्मिता का सवाल ही नहीं पैदा होता।

अपने साधारण अर्थ में अस्मिता आत्म की पहचान है। आत्म की पहचान का एक आयाम यानी स्व का विस्तार। पहचान और विस्तार की इस प्रक्रिया में ही मनुष्य स्वयं को समझ पाता है, अपने परिवार–समाज–राष्ट्र को समझ पाता है, उनके प्रति अपनी भूमिका को समझ पाता है, आने वाले समय को समझ पाता है। अस्मिता आत्म को महत्व देती है तो इसका मतलब यह नहीं कि वह सामाजिक पहलू को उपेक्षित या खत्म करने की मंशा रखती है। अस्मिता के अन्तर्गत जब व्यक्ति को महत्व दिया जाएगा तो पारम्परिक, वर्चस्वशील, सामाजिक शोषणपरक मूल्य अपने आप टूटेंगे। कोई जन्मना उच्च या महान नहीं बन पायेगा। यहाँ व्यक्ति को महत्व से तात्पर्य समतामूलक, नैतिक आदर्शों, मानवीय आचरणपरक, सात्विक मूल्यों से युक्त व्यक्तित्व से है, न कि अहंवादी, भोगवादी, भौतिकतावादी प्रवृत्ति से। आत्म को पहचानने और उसका विकास करने के मानवीय गुणों के आधार पर जब समाज में प्रतिष्ठा का मानदण्ड निश्चित होगा तो जाति की अवधारणा कमजोर होकर टूटेगी एवं हर व्यक्ति अपने विकास के लिए अपनी प्रतिष्ठा, अपनी पहचान के लिए उद्यम करेगा, और एक आदर्श समाज की निर्मिति का मानवीय स्वप्न साकार हो सकेगा। इस बिन्दु पर आकर निर्मित समाज की महत्ता हर व्यक्ति को व्यक्तित्व निर्माण एवं निखार के समान स्वस्थ अवसर प्रदान करने के रूप में अधिक महत्वपूर्ण हो उठती है।

हिन्दी के महान कवि अज्ञेय अपनी रचनाओं में आत्म (अस्मिता) और समाज के इसी द्वन्द्व से जूझते हैं। 'नदी के द्वीप' कविता में वे व्यक्ति की 'पहचान' और समाज की 'इयत्ता' दोनों को बराबर रेखांकित करते हैं। अज्ञेय पर व्यक्तिवादी होने का आरोप भी खूब लगता रहा है। भारतीय समाज की विचारधारात्मक विडम्बना यह है कि वह व्यक्ति को महत्व नहीं देता, जबकि बिना दृढ़ व्यक्तित्व के आदर्श समाज का निर्माण नहीं हो सकता। जिसने आत्म को नहीं पहचाना वह समाज को भी नहीं पहचान सकता। इस अर्थ में अस्मिता सामाजिकता की पहली सीढ़ी है। अस्मिता का अर्थ विस्तार अपने शब्द से कहीं ज्यादा है। आत्म के प्रति सजग मनुष्य अपनी पहचान को देश–काल–समाज के परिप्रेक्ष्य में देखता है और उसकी प्रतिष्ठा के लिए प्रयासरत होता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो व्यक्ति और समाज एक–दूसरे के पूरक हैं, किन्तु दोनों को अलग देखने की खंडित मानसिकता ने वैयक्तिकता और सामूहिकता (सामाजिकता) को दो अलग ध्रुवों पर स्थापित किया है।

व्यक्ति अपने जन्म के साथ विभिन्न प्रकार की पहचानों से एक साथ जुड़ जाता है। जन्मना प्राप्त पहचान समाज द्वारा दी गयी होती है। समाज प्रदत्त किसी खास पहचान के कारण जब व्यक्ति को शोषित, उपेक्षित किया जाता है तो अपनी अन्य पहचानों के साथ वह उस एक खास पहचान को भी प्रतिष्ठित करने के लिए, सामाजिक मान्यता दिलाने के लिए संघर्षशील हो उठता है– यह खास पहचान जाति, लिंग, मूर्त–अमूर्त भाव, विचार, वस्तु से जुड़ी हो सकती है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री अमर्त्यसेन का मानना है कि खास पहचान के आधार पर शोषण के पीछे वर्चस्वशाली हिंसात्मक पहचानें सक्रिय होती हैं। पहचान के इस संघर्ष का कारण मनुष्य की अनेक पहचानें हैं। अभय कुमार दूबे द्वारा संपादित पुस्तक 'आधुनिकता के आईने में दलित' के अंत में संकलित 'शब्द, तात्पर्य और धारणाएँ' में अस्मिता को स्पष्ट करते हुए लिखा गया है–

''अस्मिता/पहचान (आइडेंटिटि): यह एक ऐसा दायरा है जिसके तहत व्यक्ति और समुदाय यह बताते हैं कि वे खुद को क्या समझते हैं। अस्मिता का यह दायरा अपने आप में एक बौद्धिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक संरचना का

रूप ले लेता है, जिसकी रक्षा करने के लिए व्यक्ति और समुदाय किसी भी सीमा तक जा सकते हैं। **xxx** मार्क्सवाद अस्मिता की स्वायत्तता को स्वीकार न करके सामाजिक प्रक्रिया के अधीन देखता है। लेकिन वह वर्गीय संरचनाओं को छोड़कर बाकी सभी अस्मिताओं को भ्रांत चेतना मानता है। **xxx** बीसवीं सदी ने अस्मिता के इस विचार पर गंभीर प्रश्नचिह्न लगाये।चिंतकों ने पाया कि अस्मिताएँ सामाजिक–राजनीतिक–सांस्कृतिक परिवर्तनों के मुताबिक बनती–बिगड़ती रहती हैं। उन्होंने देखा कि एक समय में अस्मिता का कोई एक पहलू अधिक प्रमुखता प्राप्त करके उसकी राजनीतिक अभिव्यक्ति बन जाता है।''[5]

मनुष्य अनेक अस्मिताओं यानी पहचानों के साथ जीवन–यापन करता है, उसकी अस्मिता उसके जीवन के विविध सन्दर्भों से जुड़ी होती है विशेष परिस्थिति में अपनी अस्मिता के प्रति सजग मनुष्य उस खास अस्मिता को प्राथमिकता देता है जो परिस्थितिवश विशेष में उपयोगी होती है– जैसे किसी भी लड़ाई–झगड़े, दंगे–फसाद के समय मानवीय पहचान की सर्वोपरिता।

मनुष्यता को बचाने के लिए ये जरूरी है पहचान के सही सन्दर्भ को अपनाना। अमर्त्य सेन बहुत महत्वपूर्ण बात कहते हैं कि–

''लड़ाकू पहचानों को चुनौती देने के लिए समानतापरक पहचानों से प्राप्त शक्ति का ही सहारा लेना पड़ेगा। इसमें हम सबके एक मानव जाति के सदस्य होने की पहचान तो शामिल है ही, वे कई दूसरी पहचानें भी शामिल हैं जो हम सभी को मिली हुई हैं।..... इस प्रकार व्यक्ति की अनेक पहचानों को स्वीकार किया जाना आवश्यक है, साथ ही यह भी बहुत आवश्यक है कि वह अपनी इन विविध पहचानों में से सही पहचान के चुनाव की योग्यता तथा क्षमता हासिल करे।''[6]

गलत पहचान का चुनाव भी हिंसा का एक कारण है। इसलिए यह और भी जरूरी हो जाता है कि लोगों को अपनी कई पहचानों में से एक उस पहचान को

---

[5] आधुनिकता के आइने में दलित, सं0 –अभय कुमार दूबे, पृ0–421–422

[6] अमर्त्य सेन, 'हिंसा और अस्मिता का संकट' अनु0–महेन्द्र कुलश्रेष्ठ, पृ0–22

चुनने की योग्यता प्राप्त करने का अवसर दिया जाय जो स्वयं उनके व्यक्तित्व तथा समाज के विकास में सहायक हों। यही समाज के हित में है। अवसर की प्राप्ति का संघर्ष ही अस्मिता का संघर्ष है।

2. अस्मिता के विभिन्न रूप–प्रकार

स्त्री अस्मिता

स्त्री और पुरुष सामाजिक संरचना के या यूँ कहें कि इस पूरी सृष्टि के दो महत्वपूर्ण घटक हैं, तथा ये दोनों अब तक हुए मानव सभ्यता के विकास के तमाम सोपानों के महत्वपूर्ण कारक रहे हैं, तो इसमें कोई दो राय नहीं होगी। किंतु विकास के इन तमाम सोपानों में स्त्री पुरुष के समकक्ष नहीं अपितु निचले पायदान पर बड़ी रही। क्यों? क्योंकि स्त्री; पुरुष से भिन्न है। पुरुष से भिन्न है इसलिए पुरुष से कमतर है, यही तर्क है हमारी पितृसत्तात्मक व्यवस्था का। स्त्री–पुरुष के बीच फर्क को रेखांकित करते हुए जगदीश्वर चतुर्वेदी बहुत सटीक विश्लेषण करते हैं,

''स्त्री–पुरुष का फर्क शारीरिक है, किंतु इन दोनों की अस्मिता का निर्माण, क्षमताओं–अक्षमताओं की पहचान एवं सांस्कृतिक रूपों की पहचान का आधार नहीं। कोई व्यक्ति स्त्री है या पुरुष यह तो प्रकृति प्रदत्त चीज है। किंतु उसकी लिंग के रूप में पहचान को सांस्कृतिक कारकों के माध्यम से निर्मित किया जाता है।''[7]

जैविक संरचनागत भिन्नता के कारक एक स्त्री–पुरुष में लैंगिक अंतर होता है, इस अन्तर के परिणामस्वरूप स्त्री को प्रजनन–शक्ति मिला है, किंतु इसके आधार पर स्त्री–पुरुष जहाँ एक–दूसरे के पूरक बनने चाहिए, स्त्री को सृजन के अधिकार के बदले जहाँ विशेषाधिकार मिलना चाहिए; विशेषाधिकार न सही, कम–से–कम समान अधिकार निश्चित रूप से मिलना चाहिए, वहाँ पितृसत्ता के

---

[7] जगदीश्वर चतुर्वेदी– 'स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, पृष्ठ 01

प्राक्तन षड्यन्त्र के तहत बहुत ही सफाई और मनोवैज्ञानिक तरीके से स्त्री की स्थिति पूरी दुनिया में कमजोर, लाचार, मंदबुद्धि, मूर्ख कुल मिलाकर दोयम दर्जे की बना दी गई।जबकि विज्ञान साबित कर चुका है कि नर शिशु की अपेक्षा मादा शिशु की प्रतिरक्षा प्रणाली ज्यादा मजबूत होती है, विपरीत परिस्थितियों से लड़ने और जीवित रहने की संभावना उनमें ज्यादा होती है। मादा शिशु के प्रति उपेक्षा का भाव रखते हुए ग्रामीण समाज में आज भी यह मान्यता है कि लड़कियों को ज्यादा देखभाल की जरूरत नहीं है वे किसी भी परिस्थिति में जीवित रह लेती हैं उन्हें जल्दी मौत नहीं आती... वगैरह..... वगैरह। स्त्री के प्रति इस तरह के अनेक नकरात्मक दृष्टिकोण में भी स्त्री की जैविकीय मजबूती छिपी हुई है। अनेक शोध यह प्रमाणित कर चुके हैं कि जैविकीय संरचना के आधार पर स्त्री किसी भी तरह से पुरुष से कमजोर नहीं होती। किंतु पितृसत्तात्मक समाज में रक्त की तरह व्याप्त दूषित धारणा के तहत पुरुष का 'पुरुषत्व' गर्व का, अभिमान का और स्त्री का 'स्त्रीत्व' गाली का, हीनता का, अपमान का विषय बन गया। मृणाल पाण्डे भी इस साजिश को बड़ी गहराई से पकड़ती है, लिखती हैं–

''पुरुषत्व की मूल अवधारणा हमारे समाज में हमेशा सकारात्मक और केन्द्रीय रही है। यानी पुरुष का जन्मना एक सम्पूर्ण मानव ही नहीं, मानवता का सही और आदर्श स्वरूप होना सहज स्वीकृत रहा है। अपनी सामर्थ्य और सामाजिक सार्थकता का यह बुनियादी अहसास अस्तित्व के समुद्र में तल्लीनता से गोता लगाने, और वहाँ से नाना ज्ञानमुक्ताएँ लेकर बार–बार वापस लौटने के लिए हर पुरुष की अस्मिता को एक ठोस और सुरक्षित आधार देता है।.... इसके ठीक विपरीत समाज में स्त्रीत्व की मूल अवधारणा ही नकारात्मक है। लगभग सभी धार्मिक और दार्शनिक दायरों में स्त्री को पुरुष के सन्दर्भ में एक अपूर्ण और सापेक्ष जीवन के रूप में ही देखा गया है।''[8]

स्त्री के जन्म के साथ ही उसे शोषणपरक नागपश में बाँधने के लिए तरह–तरह की बंदिशें और वर्जनात्मक अनुष्ठान शुरु हो जाते हैं।

---

[8] मृणाल पाण्डे, 'स्त्री देह की राजनीति से देश की राजनीतिक; पृष्ठ 13–14

''संस्कारों के बहाने स्त्री को अपनी पहचान मिलती है। स्त्री की पहचान जन्मजात न होकर सामाजिक निर्मिति है। स्त्री की अस्मिता को तय करने वाला प्रमुख कारक है उसका पुरुष सन्दर्भ। पुरुष सन्दर्भ के कारण ही उसे पत्नी, माँ, बहन, बेटी या रखैल का दर्जा मिलता है। इसके अलावा उसकी अस्मिता को पहचानने का अगर कोई और रूप सामने आता है तो समाज आज भी उस रूप में स्त्री को पहचानने से इंकार करता है।''[9]

स्त्री को अगर इस समाज में जीना है तो उसे पितृसत्तात्मक समाज द्वारा निर्देशित आदर्शों को अपनाकर ही जीना पड़ेगा, वरना यह समाज तरह–तरह के लांछनों, बहिष्कार द्वारा स्त्री को प्रताड़ित करने का कोई मौका नहीं चूकता। ये सब किया जाता है स्त्री को संस्कारित करने के बहाने से। पितृसत्ता का स्वरूप इतना खतरनाक है कि अपने जाल से बाहर वह स्त्री के अन्य रूप या अधिकार की संभावना को ही खत्म कर देना चाहता है। स्त्री का स्वरूप तथाकथित आदर्शवादी नहीं है तो वह स्त्री ही नहीं है। इस आदर्शीकरण के पीछे स्त्री के विकास की तमाम संभावनाओं को उसके गुणों को बर्बरतापूर्वक दबाया जाता है। मृणाल पाण्डे लिखतीं हैं–

''अच्छी मानी जाने के लिए स्त्री होना ही पर्याप्त नहीं; स्त्रियोचित होना भी जरूरी है। स्त्रीयोचित गुणों की पड़ताल आप करेंगे तो पायेंगे कि वे तमाम गुण एक मनुष्य की स्वाभाविक शारीरिक और मानसिक ऊर्जा को कुंठित कर, उसे एक आदर्श गुलाम के रुप में ढालने वाले दबाव हैं, सचमुच के वे गुण नहीं जो व्यक्ति को मजबूत बनाते हैं।''[10]

एक स्त्री के रुप में विकसित होने की तमाम निर्मित परिस्थितियाँ वस्तुतः स्त्री को उपनिवेश में ढालने वाले साँचे हैं। स्त्री जिस पर शासन किया जा सके, जिसका विनिमय किया जा सके, जिसका बहुउद्देशीय इस्तेमाल किया जा सके।

---

9 जगदीश्वर चतुर्वेदी– ' स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, पृ0–01

10 मृणाल पाण्डे, 'स्त्री देह की राजनीति से देश की राजनीति तक', पृ0–22

यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि स्त्री दुनिया का पहला उपनिवेश है, जिस पर पुरुषों ने किसी–न–किसी रूप में शासन किया है।

स्त्री अस्मिता विमर्श का पश्चिमी संदर्भ

''आमतौर पर नारीवाद के नाम पर जिस बात की चर्चा की जाती है, वह मूलतः पश्चिमी देशों के अनुभवों पर आधारित है। पश्चित के अनुभवों का वैश्वीकरण कोई नई बात नहीं है। स्वयं मार्क्स ने दुनिया के बारे में अपनी सारी सैद्धान्तिक स्थापनाओं को पश्चिम के अनुभवों पर ही आधारित किया था, लेकिन शुद्ध अनुभवों के बजाय चिंतन की एक वैज्ञानिक पद्धति के रूप में मार्क्सवादी दर्शन के विकास ने उसे एक सार्वभौमिक रूप दे दिया। इसीलिए नारीवादी चिंतन का मूलतः पश्चिमी अनुभाव पर टिके होना, उसका कोई बहुत बड़ा दोष नहीं है।''[11]

एक संघर्षशील आन्दोलन के रुप में बाकायदा स्त्री विमर्श की शुरुआत पश्चिम में हुई, यह बात काफी हद तक सही है। क्योंकि सभी देशों में जैसे–जैसे शिक्षा आदि माध्यमों से नवजागरण आता गया, हर देश के स्त्री–पुरुष समानता, स्वतंत्रता आदि अवधारणाओं को प्रमुखता देने लगे और इसके लिए प्रयासरत होते गए। सम्पर्क का दायरा जैसे–जैसे विस्तृत होता गया हर देश, हर महाद्वीप एक दूसरे से प्रभावित, प्रेरित होता गया। पश्चिम का नारीवादी आन्दोलन, विचार–विमर्श अन्य देशों से इसीलिए जुड़ सका कि स्वयं उन देशों में भी स्त्री की स्थिति, उसके शोषण के आयाम थोड़े से बदले स्वरुप के साथ वही थे। इसीलिए नारीवादी विमर्श जिस–जिस देश में फैल गया उस देश का स्वरुप अख्तियार कर उसी देश का हो गया।

पश्चिम में नारीवाद के प्रथम चरण को 'उदारवादी नारीवाद' की संज्ञा भी दी जाती है।

---

[11] सरला माहेश्वरी, 'नारी प्रश्न', पृ0– 13

''उदारवादी नारीवाद उदारवाद की दार्शनिक परम्पराओं का अनुगमन करता है, जो 17वीं सदी के परवर्ती से 18वीं सदी के परवर्तीकाल तक पश्चिमी जगत में सम्पन्न सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक बदलावों की उपज थीं। विज्ञान में प्रगति और जीव विज्ञान, भूगोल तथा भौतिक में सामने आई नई खोजें और वैज्ञानिक नियमों के सन्दर्भ में प्रगति आदि के चलते परम्परा की तुलना में तर्क विधान को अधिक महत्व दिया। xxx अमरीकी और फ्रांसीसी क्रांति द्वारा सम्पन्न बदलावों, औद्योगिकरण तथा शहरीकरण आदि के कारण नई वर्ग संरचनाओं विशेषकर नए मध्य वर्ग का उदय हुआ जिसने राजाओं तथा कुलीन वर्ग के दैवी अधिकारी, चर्च के प्राधिकार आदि पर प्रश्न उठाए और संपत्तिहीन वर्गों और आम आदमी की राजनीतिक सहभागिता पर जोर दिया। xxx यह उदारवाद का दर्शन था जो व्यक्तिगत आजादी के सिद्धान्त पर आधारित था जिसका मतलब था चयन की स्वतंत्रता, समान अवसर और नागरिक अधिकार। xxx लेकिन सार्वभौमिक अधिकारों के सिद्धान्त की बुनियाद बनी मानवीय गरिमा और समानता की दृष्टि ने सभी समाजों के उत्पीड़ित तबकों को अधीनता की अपनी स्थिति का प्रतिवाद करने के लिए तार्किकता प्रदान की।''[12]

यह समय पश्चिम में आमूल परिवर्तन का समय था। इस बदले हुए परिवेश ने स्त्रियों के लिए वह जमीन तैयार की जिस पर खड़ी होकर वे अपने अधिकारों के लिए आवाज उठा पाईं। नए आलोक में स्त्रियों के भीतर मुक्ति की चेतना का बीजारोपण हुआ।

''अमेरिकी क्रान्ति (1776–83) के दौरान मर्सी वारेन और एबिगेल एडमस के नेतृत्व में स्त्रियों ने पहली बार मताधिकार और सम्पत्ति के अधिकार सहित सामाजिक समानता की माँग करते हुए जार्ज वाशिंगटन और टॉम्स जैफर्सरपर दबाव डाला कि इन मुद्दों को संविधान में शामिल किया जाए, लेकिन बुर्जुआ वर्ग के एक बड़े हिस्से के विरोध के कारण यह सम्भव नहीं हो सका। यूरोप में संगठित नारी–आन्दोलन की शुरुआत जन–प्रदर्शनों सहित सभी राजनीतिक

---

[12] नारीवादी राजनीति : संघर्ष एवं मुद्दे, संपादकः साधना आर्य, निवेदिता मेनन, जीनी लोकनीता, पृष्ठ–22

कार्रवाइयों में हिस्सा ले रही थीं। उस दौरान स्त्रियों के क्रांतिकारी क्लबों के रुप में स्त्रियों के पहले संगठन अस्तित्व में आए जिन्होंने सामंतवाद–विरोधी संघर्षों में खुलकर भागीदारी करते हुए यह माँग की कि आजादी, समानता और भ्रातृत्व के सिद्धान्तों को बिना किसी लिंग भेद के, सार्विक रूप से लागू किया जाना चाहिए।''[13]

पश्चिमी नारीवादी विमर्श में मेरी वोल्स्टन क्राफ्ट को यूरोप और अमेरिकी स्त्री आन्दोलन की जननी के तौर पर देखा जाता है। इनकी पुस्तक Vindication of the Right Women- 1972 (स्त्री अधिकारों का औचित्य साधन) अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अपनी पुस्तक में मेरी ने स्त्रियों के विकास में शिक्षा, अधिकार, कर्त्तव्य, यौनिक अवधारणाओं शालीनता, प्रेम आदि पर विस्तृत विचार किया है। और इनमें से उन बिन्दुओं को प्रमुखता से उभारा है जो स्त्रियों के शोषणपरक हैं। साथ ही वह अपनी पुस्तक में ऐसे कई लेखकों की कड़ी आलोचना करती हैं, जिन्होंने अपने पांरपरिक और एकांगी दृष्टिकोण के कारण स्त्रियों को पुरुषों से कमजोर, लाचार, नाजुक, छुई–मुई, बौद्धिक रूप से कमतर इत्यादि माना है। ऐसे लेखकों में रूसो सबसे पहले मेरी के निशाने पर आते हैं। स्त्रियों को कमतर मानने वाले लेख के ऐसे अनुच्छेदों को चुन–चुन कर उद्धृत करते हुए मेरी लिखती हैं–

''मैंने इस अनुच्छेद को इसलिए उद्धृत किया है ताकि मेरे पाठकों को यह संदेह न रहे कि अपने तर्क के समर्थन में मैंने लेखक के तर्क को विकृत कर दिया है। मेरा पहले से ही इस पर बल रहा है कि स्त्रियों की शिक्षा में ये मूलभूत विचार चालाकी और विलासिता के एक तंत्र को जन्म देते हैं।''[14]

पुरुष कितना भी उदार हो, पुरुषवाद की सीमाओं से मुक्ति लगभग असंभव है। इसीलिए मेरी वोल्सटन क्राफ्ट ने रूसो की सीमाओं को रेखांकित किया है। इन प्रयसों से स्त्री अधिकारों और स्त्री समानता को लेकर एक बार जो जागरुक

---

13 कात्यायनी, सत्यम (संपादकीय), 'स्त्री अधिकारों का औचित्य साधन, मेरी वोल्सटन क्राफ्ट अनु0–मीनाक्षी, पृष्ठ 15–16

14 वही, पृष्ठ 117

चेतना की लहर उठी वो फिर बढ़ती चली गई। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ तक स्त्रियों की स्वतंत्रता एवं समता की माँग सशक्त रूप लेने लगी थी।

जॉन स्टुअर्ट मिल तथा उनकी पत्नी हेरिएट टेलर मिल एवं अमेरिका की एलिजाबेथ केडी स्टैन्टन इस समय के प्रमुख नारीवादी विचारक थे।

''स्टैन्टन सिर्फ लेखिका ही नहीं बल्कि आधी सदी से भी ज्यादा काल तक अमरीका के नारीवादी आन्दोलन की एक सक्रिय कार्यकर्ता थीं। उन्होंने ही प्रसिद्ध 'सेनेकाफाल कन्वेंशनअ आफ 1848' लिखा, 1776 के अमरीका के स्वतंत्रता की घोषणा की तर्ज पर ही लिया गया एक ऐसा घोषणा पत्र था जिसमें महिलाओं के लिए मतदान का अधिकार तथा राजनीति और गिरिजाघरों में सार्वजनिक भागीदारी के अधिकार की माँग उठाई गयी थीं। स्टैन्टन ने महिलाओं की गुलामी के पीछे धर्म की भूमिका की साफ पहचान की थी।''[15]

ब्रिटिश लेखक जॉन स्टुअर्ट मिल की किताब 'On the Sabjection of women' 1873 में प्रकाशित हुई थी। महिला अधिकारों को लेकर लिखी गई इस किताब में मिल जोरदार ढंग से उन स्थापनाओं पर प्रहार करते हैं जो महिलाओं के बारे में बनी–बनायी रूढ़ियों पर आधारित हैं। मिल महिलाओं के दासत्व को इतिहास के एक क्रूर मजाक के रूप में बेनकाब करते हैं। नारीवाद की पृष्ठभूमि को मजबूत करने में मार्क्स और एंगेल्स का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उनकी पुस्तक 'दि आरिजिन ऑफ दी फैमिली', प्राइवेट प्रॉपर्टी, एण्ड दी स्टेट (परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति) इस दृष्टि से बहुत उपयोगी और विशिष्ट है।

मार्क्स ने कभी अलग से महिलाओं के बारे में कुछ नहीं लिखा। लेकिन उन्होंने जो शोषण वर्ग और शोषिक वर्ग की पहचान की, मार्क्सवाद द्वारा सामाजिक विकास की जो नई अवधारणा पेश की, उसने चिंतकों को समाज में स्त्रियों की दशा के प्रति भी विचार और सुधार करने की ओर प्रेरित किया। नारीवाद में मार्क्स और एंगेल्स के अवदान के बारे में सरला माहेश्वरी लिखती हैं–

---

[15] वही, पृ0–18

''मार्क्स और एंगेल्स कोई नारीवादी चिंतक नहीं थे, फिर भी नारीवाद के किसी भी सैद्धान्तिक विवेचन में मार्क्स–एंगेल्स का अवदान एक प्रकार का सर्वथा मौलिक अवदान रहा है। नारी–समाज की प्रतिकूल स्थितियों को उन्होंने समाज के अन्य उत्पीड़ितजनों की स्थिति के साथ जोड़ते हुए उनके विशेष ऐतिहासिक विकास को भी लक्षित किया, और नारी–मुक्ति के प्रश्न को मेहनतकशों की मुक्ति के साथ अनिवार्य रूप से जोड़कर देखने की आधार भूमि तैयार की।''[16]

निश्चय ही नारीवादी आंदोलन को मजबूत करने में मार्क्स और एंगेल्स की कोई प्रत्यक्ष भूमिका नहीं थी, लेकिन सर्वहारा के प्रति उनके दृष्टिकोण ने स्त्रियों को उनकी दुर्दशा से मुक्ति के प्रति विचार विकसित करने का अवसर दिया। इसका कारण शायद यह भी है कि स्त्री स्वयं सर्वहारा है। इन प्रयासों के फलस्वरूप पश्चिमी देशों की नारियों की स्थिति में काफी सकारात्मक बदलवा आया।

''18वीं सदी के अंतिम दिनों तथा 19वीं सदी में मेरी वालस्टन क्राफ्ट, काल्पनिक समाजवादियों, विलियम थाम्पसन, जेम्स मिल से लेकर सेनेकाफाल कन्वेंशन तथा जॉन स्टुअर्ट मिल तक के प्रारंम्भिक नारीवादियों ने नारियों के जनतंत्रिक अधिकारों माँगों को ब्रिटेन तथा अमरीका में कानूनी तौर पर मान लिया गया था। यद्यपि, वास्तविकता, समानता का अधिकार अभी दूर की चीज थी, लेकिन महिलाओं में शिक्षा का विस्तार हुआ, ऑफिस–अदालतों में महिलाऐं काम करने लगी।''[17]

इतने लम्बे संघर्ष, आन्दोलन और राजनीतिक कवायद का हासिल ये रहा कि बीसवीं सदी के प्रारम्भ में स्त्रियों के मताधिकार की जमीन पूरी तरह तैयार हो गई। इसके बाद समय–समय पर विभिन्न देश स्त्रियों के लिए मताधिकार का प्रावधान करने लगे।

---

16 सरला माहेश्वरी, नारी प्रश्न, पृ0–21

17 वही, पृ0–27

''संयुक्त राज्य अमरीका की संसद ने 1919 में महिलाओं को मताधिकार देने के लिए संविधान में संशोधन किया। ब्रिटेन में महिलाओं को मताधिकार 1927 में मिला, जबकि फ्रांस की महिलाओं को इसके लिए 1944 तक इंतजार करना पड़ा (अन्य पश्चिमी देशों में यह अधिकार और भी देरी से मिल पाया, जैसे कि स्विट्जरलैंड में, यहाँ सन 1959 में महिला अधिकार प्रस्ताव राष्ट्रीय संसद में पराजित हो गया। इस पराजय के बाद जिला, कस्बा और शहर के स्तर पर मताधिकार प्रस्तावों को पारित कराने की कोशिश करनी पड़ी)''[18]

मताधिकार की प्राप्ति के साथ ही महिलाओं के संघर्ष का एक चरण पूरा हुआ। महिलाएँ विभिन्न संस्थाओं, क्षेत्रों में अधिकार के साथ शामिल होने लगी। महिलाओं के लिए विभिन्न कल्याणकारी योजनाएँ, प्रसूति भत्ता, विशेष रुप से सुरक्षा के प्रावधान वगैरह सरकारी स्तर पर लागू हुए। पति–पत्नी दोनों के कामकाजी होने के कारण परिवार के परम्परागत ढाँचे में परिवर्तन आने लगा। उपभोक्तावादी तकनीक के विकास से घरेलू श्रम के बोझ से राहत मिलने लगी। इन सारे परिवर्तनशील घटकों के माध्यम से नारी जीवन में स्वतः विकास और बदलाव के लक्षण दृश्यमान हुए। इस बीच 1930 से लेकर दो–तीन दशकों में नारी–जीवन से जुड़े अन्य मुद्दे सामने आने लगे। 1950 और 1960 के दशकों में अमेरिका तथा यूरोप में औद्योगिक विकास के कारण श्रम की माँग बढ़ी जिससे स्त्रियों के लिए भी अवसर उपलब्ध हुए। रोजगार के माध्यम से स्त्रियों की आर्थिक स्थिति मजबूत होने के साथ–साथ उनकी मुक्ति चेतना का भी विकास हुआ। लेकिन बदली हुई स्थितियों में भी महिलाओं के लिए कानून द्वारा प्रदत्त समानता और समाजिक व्यवहार में अन्तर स्पष्ट होने लगा, समान वेतन, कार्यस्थल पर शोषण, घरेलू श्रम का अतिरिक्त बोझ, राजनीतिक प्रतिनिधित्व में विरलता आदि ऐसे अनेक मुद्दे थे जो नए रूप में नारीवादी आन्दोलन में महत्वपूर्ण रूप से उठाये जाने लगे। ऐसे अनेक प्रश्नों के साथ –

---

[18] मेरी जॉन, नारीवादी राजनीति : सघंर्ष एवं मुद्दे, सं0– साधना आर्य, निवेदिता मेनन, जिनी लोकनीता, पृ0–107

''एक बार फिर नये विद्रोही तेवर के साथ नारीवाद का उभार दिखाई देने लगा जो नवजागरण, ज्ञान–प्रसार से लेकर 19वीं और 20वीं सदरी के प्रथमार्द्ध तक की सारी उपलब्धियों पर प्रश्न चिह्न लगाने लग। 30 के दशक से लेकर 60 के दशक तक नारीवादी आन्दोलन के मौन रूप को भी पुरुष प्रधान विचारधाराओं के दमन का परिणाम बताया जाने लगा और नये रूप में नारी मुक्ति की आवाज उठने लगीं। 60 के दशक में अन्य कई प्रकार के कथित विद्रोही आन्दोलनों के साथ ही उस कथित आधुनिक नारीवादी आन्दोलन का जन्म हुआ जिसकी अनेक शाखाओं–प्रशाखाओं को हम पूरे पूँजीवादी विश्व में फैलते हुए देख सकते हैं। इस नये दौर में एक बार फिर कुछ पुराने प्रश्नों को भी उठाया गया।''[19]

फ्रांसीसी लेखिका सिमोन द बोउवार आधुनिक नारीवादी आन्दोलन का सबसे महत्वपूर्ण नाम हैं। नारीवादी संघर्ष में मील का पत्थर इनकी प्रसिद्ध किताब 'द सेकेंड सेक्स' (स्त्री उपेक्षिता–हिन्दी अनुवाद) 1949 में प्रकाशित हुई थी।

अपनी किताब में सीमोन ने स्त्री से जुड़े तथ्यों, संस्कारों की गहरी पड़ताल की और निष्कर्ष रुप में कहा कि –'स्त्री पैदा नहीं होती बल्कि बना दी जाती है।' अपने जीवन में भी सीमोन रुढ़ियों को नकार कर अस्तित्व वादी दार्शनिक लेखक ज्याँ पाल सार्त्र के साथ स्वतंत्र रूप से जुड़ी रही। सीमोन मानती थी कि औरत को अपने उस औरतपन से मुक्त होना होगा जो उसे शोषण की सीमाओं बाँधते हैं।

अमेरिकी लेखिका बेट्टी फ्रीडेन (Betty Frideeon) की 1963 में प्रकाशित किताब 'The Feminine Mystikue' भी आधुनिक नारीवादी विमर्श की एक महत्वपूर्ण कृति है। फ्रीडेन भी मानती थी कि सिर्फ घर की चारदीवारी में कैद होकर एवं पारम्परिक भूमिकाएँ निभाकर महिलाएँ अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं विकसित कर सकती, आश्रिता की जिंदगी कभी सुखदायी नहीं हो सकती। फ्रीडेन अमरिकी समाज में एक सक्रिय नारीवादी कार्यकर्त्ता थीं।

---

[19] सरला माहेश्वरी, 'नारी प्रश्न; पृ0–33

''1963 में ही अमरीका में समान वेतन कानून पारित हुअ था तथा 1964 में नागरिक अधिकारों के कानून में लिंग के आधार पर भेदभाव पर प्रतिबंध लगाने का प्राविधान जोड़ा गया था। फ्रीडेन ने 1960 में 'नेशनल आर्गेजनाइजेशन ऑफ वुमेन, (Now) की स्थापना की जिसकी संस्थापक अध्यक्ष उन्हें ही चुना गया।''[20]

कालान्तर में नारीवादी आन्दोलन में बहुत सारी बातें ऐसी भी आ गई थीं जो इस आन्दोलन को मुद्दे से भटकाने के सिवा कोई योगदान न दे सकीं। सोसायटी फॉर कटिंग अप मेन (SCUM)–1968, पुरुषों का कद छोटा करने जैसे संगठनों की स्थापना हुई, जिसकी संस्थापक बेंलरी सोलोनस थीं। इस संदर्भ में सरला माहेश्वरी की टिप्पणी दिलचस्प है की ''नारीवादियों को ब्रा–बर्नर अर्थात नारीत्वसूचक हर चीज को ठुकराने वाले तबके के रुप में पेश किया जाना लगा।''[21]

बेट्टी फ्रीडेन यह कहते हुए 1980 के दशक में महिला आन्दोलन से अलग हो गईं कि यह आन्दोलन जरूरत से ज्यादा ही बढ़ गया है। विमर्श की इसी कड़ी में संयुक्त राज्य अमरीका का ब्लैक नारीवादी संघर्ष (1970–80 का दशक) भी जुड़ता है। इसके साथ–साथ अन्य मुद्दे यथा– लेस्वियन आन्दोलन, गे आन्दोलन भी नारीवादी विमर्श को विस्तार देने लगे।

''मुख्यधारा के नारीवादी पितृसत्ता और लैंगिक भेद–भाव के सवालों को अवश्य उठाते हैं, लेकिन वे स्त्री–पुरुष संबंधों की प्राकृतिकता अथवा स्वाभाविकता पर कोई सवाल नहीं उठाते हैं। लेस्वियन नारीवादियों का मानना है कि और संस्कारों की तरह स्त्री–पुरुष यौनिकता (विषम लैंगिक यौनिकता) भी प्रकृति–सुलभ या कुदरती नहीं बल्कि समाज द्वारा निर्मित संस्कार है।''[22]

पश्चिमी महिला आन्दोलन में बीसवीं सदी का उत्तरार्ध और इक्कीसवीं सदी की शुरूआत विशेष महत्वपूर्ण है। अनेक नए मुद्दे, विचार उभरकर सामने आ रहे

---

[20] वही, पृ0–38

[21] वही, पृ0–38

[22] मेरी जॉन, नारीवादी राजनीति : संघर्ष एवं मुद्दे, संपादक : निवेदिता मेनन, साधना आर्य, जिनी लोकनीता, पृष्ठ : 124

हैं। शिथित पड़ चुके कई मुद्दे फिर से उठाये जा रहे हैं, पुनर्जागरण हो रहा है। पर्यावरण की क्षति, राजनीतिक चुनावों में भागीदारी, प्रतिनिधित्व नारी विमर्श के महत्वपूर्ण आयामों में जुड़ते चले जा रहे हैं।

स्त्री अस्मिता विमर्श का भारतीय सन्दर्भ

स्त्री विमर्श के भारतीय स्वरुप पर जब भी चर्चा होती है तो इस पर पहला आक्षेप इसके पश्चिम से आयतित होने का लगाया जाता रहा है। यह पुरुषवादियों द्वारा स्त्री अस्मिता को वास्तविक मुद्दों से भटकाने का षड्यंत्र मात्र है। रोहिणी अग्रवाल ने जाहिदा हिना के हवाले से लिखा है कि ''पाकिस्तानी नारीवादी एक्टिविस्ट जाहिदा हिना का मानना है कि स्त्री का इतिहास हर देश और व्यवस्था में कमोबेश एक–सा है – तिरस्कृत, लांछित और दलित।''[23]

स्त्रियाँ दुनिया के हर कोने में हैं– भारत में भी। अन्य देशों की तरह इन पर शोषण, जुल्म, प्रताड़ना की संस्कारी मंशा यहाँ भी विद्यमान रही है। जब शोषण का स्वरुप भारतीय हो सकता है, तो उस पर चिंतन, उससे विद्रोह, उसकी अभिव्यक्ति अभारतीय कैसे हो सकती है ? बहुत से विद्वान स्त्रियों की दुर्दशा को मुगलों के आक्रमण से जोड़कर देखते हैं, मानो उनसे पहले भारत में स्त्रियों को कोई कष्ट नहीं था, वे बहुत अच्छी स्थिति में थीं। जबकि ऐसी धारणा सही नहीं है। मुगलों के आक्रमण से बहुत पहले –

''ई0पू0 5वीं शताब्दी में पालि भाषा में बौद्ध–वचनों का संकलन किया गया था, जिसके अन्तर्गत दो महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं– थेरगाथा एवं थेरीगाथा। ये ग्रन्थ खुद्दक निकाय के अंग हैं। थेरगाथा में भिक्षुओं एवं थेरीगाथा में भिक्षुणियों की कविताएँ संकलित हैं। थेरीगाथा में तिहत्तर थेरियों की गाथाएँ हैं।''[24]

इन थेरीगाथाओं में स्त्रियों की दुर्दशा, अपमान और उनसे मुक्ति की उल्लसित अनुगूँजें साफ सुनी जा सकती है।

---

[23] रोहिणी अग्रवाल, 'स्त्रीलेखनः स्वप्न और संघर्ष', पृ0–41

[24] सुमन राजे, 'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास', (उद्धृत भरत सिंह उपाध्याय सेसाभार) पु0–23

'मुक्ता नाम की दरिद्र ब्राह्मण कन्या की मुक्ति का स्वर–

''मैं सुमुक्त हो गयी। अच्छी विमुक्त हो गयी।
तीन टेढ़ी चीजों से। अच्छी विमुक्त हो गयी।
ओखली से। मुसल से और अपने कुबड़े पति से भली विमुक्त हो गयी।

सुमंगलमाता नाम की भिक्षुणी का मुक्ति गीत–

अहो मैं मुक्त नारी। मेरी मुक्ति धन्य है
पहले मैं मूसल से धान कूटा करती थी

आज उनसे मुक्त हुई
मेरी दरिद्र अवस्था के वे छोटे–छोटे बर्तन
जिनके बीच मैं मैली–कुचैली बैठा करती थी
आज उनसे मुक्त हुई।

और मेरा निर्लज्ज पति मुझे उस छाते से भी तुच्छ समझता था।
जिन्हें वह अपनी जीविका के लिए बनाया करता था।'[25]

तात्पर्य यह है कि अनादिकाल से ही स्त्री और यंत्रणा का चोली–दामन का साथ रहा है। संभव हुआ तो लिखित रुप से वरना मौखिक रूप में ही स्त्री अपने दुख–दर्द को लोकगीतों, लोककथाओं में ढालती रही है। पीड़ा की यह परम्परा पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तांतरित होती गई और हर बार इसमें कुछ नया जुड़ता रहा। आज भी स्त्रियों का जो अशिक्षित तबका है उनके पास लोकगीतों, लोक कहानियों के रूप में उनका मौखिक साहित्य है, जिसमें उनके प्रति शोषण और उसके प्रतिरोध की मारक अभिव्यक्ति सुनी जा सकती है। उमा चतुर्वेदी के अनुसार–

''यह हमारा अपना स्त्रीवाद है। यह कोई आज का या पश्चिम से आया हुआ स्त्रीवाद नहीं है। स्त्रियों का स्वयं को पहचानना या अपनी अस्मिता के लिए

---

[25] वही, पृ0–23

संघर्ष करना, इसके लिए सामाजिक या सांस्कृतिक स्तर पर पुरुषों के द्वारा उठाये जाने वाले स्त्री–विरोधी प्रश्नों को खारिज करने के लिए उन्हें उलट देना, उन प्रश्नों की जगह अपने प्रश्न खड़े कर देना दुनिया के सभी समाजों में बड़े पुराने जमाने से –पितृसत्ता के उदय से ही चला आ रहा है। इसे पश्चिमी देशों से आयी हुई चीज समझना और यह समझना बिल्कुल गलत है कि हम पिछड़े हुए हैं, इसलिए हमारे यहाँ पितृसत्ता कायम है। पितृसत्ता अत्यंत बढ़े हुए देशों में भी कायम है और उसका विरोध भी तभी से हो रहा है– यहाँ भी और वहाँ भी जबसे यह कायम हुई है।''[26]

हिन्दी साहित्य में पितृसत्ता का प्रबल विरोध पहली बार मीरा (जन्म 1504ई0, मृत्यु 1558–63) के यहाँ स्पष्ट रुप से दिखाई पड़ता है। स्त्री अस्मिता के लिए प्रतिरोध एवं संघर्ष की यह धारा सशक्त रुप में हिन्दी साहित्य में पहली बार मीरा के काव्य में सुनाई पड़ती है। सुमन राजे और रोहिणी अग्रवाल स्पष्ट रुप से मीरा को हिन्दी की पहली स्त्री विमर्शकार स्वीकार करती हैं। अपने अस्तित्व के लिए जूझती मीरा स्त्री विमर्श के लिए मध्यकाल की अनुपम प्रेरणा हैं। मीरा का समूचा जीवन अपनी चेतना, अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष की मिसाल है। इस संघर्ष में धर्म को हथियार बनाकर पितृसत्तात्मक धर्म के खिलाफ लड़ाई लड़ती हैं। 'गिरधर नागर' को अपना आराध्य बनाकर मीरा एक स्त्री के लिए प्रेम करने की, उसकी अभिव्यक्ति की, अपने स्त्रीत्व की, एक स्वतंत्र मनुष्य होने की स्वतंत्रता का वरण करती हैं।

''म्हांरां री गिरधर गोपाड़ दूसरा णा कूयां।
दूसरां णां कोयां साधां सकड़ ड़ोक जूया
भाया छाड्यां बंधा छाड़्यां छाड्यां सगा सूयां।
साधां संग बेठ बेठ लोक–लाज खूयां।
भगत देख्यां राजी ह्यायां जगत देख्यां रूयां।
असवां जड़ सींच–सींच प्रेम बेड़ बूयां।
दध मथ घृत काढ़ लयां डार दयां छूयां।

[26] उमा चक्रवर्ती, 'आज का स्त्री आन्दोलन' संपा0–रमेश उपाध्याय, संध्या उपाध्याय पृ0–13

राणा विषरो प्याड़ा भेज्या पीय मगन हूयां।
अब त बात फेड़ पड्या जाण्यां सब कूयां।
मीरां री लगण लग्यां होणा हो जो हूयां।।''[27]

ये है मीरा के भीतर की स्त्री का आत्मबल, उसकी पारदर्शिता, सम्बंधों में ईमानदारी। मीरा का मध्यकालीन समाज जितना रूढ़िवादी था, उतना न आज है, न उनके पहले रहा होगा। फिर भी उन्होंने अपने विचारों, अपनी इच्छाओं की मुक्ति अभिव्यक्ति की है। उनके संदर्भ में रोहिणी अग्रवाल लिखती हैं–

''मीरा संबंधों में स्पेस चाहती है, संबंधों से मुक्ति नहीं। उसकी मानसिक संरचना के ताने–बाने में पितृसत्तात्मक व्यवस्था की रूढ़ छवियों के साथ स्वप्नशील व्यक्ति की सघन संवेदनशीलता है; कर्त्तव्यपालन की एकनिष्ठ दृढ़ता के साथ 'स्व' की सुरक्षा और सम्मान की मानवीय आकांक्षा भी। एक औसत स्त्री की तरह मीरा सरल हृदय है, किन्तु औसत स्त्री से भिन्न ज्ञान पिपासु। सत्संगति के महत्व की जो सैद्धान्तिक बातें वह पोथियों में पढ़ती आई है, क्यों न उन्हें जीवन में उतार जीवन सफल बना ले। साधु संगति मीरा के लिए ज्ञानार्जन और आत्मविस्तार का जरिया है– भौतिक जगत् के रहस्यों को जानने, जगत के साथ अपने संबंधों को गुनने और अपनी मानवीय सत्ता को एक सार्थक दिशा देने का। मीरा के अनुभव सीमित हैं– अपने ही वृत्त में बंद स्त्री–जीवन की नियति के कारण। वह आरोपित स्त्री नियति से ऊपर उठकर 'अपने' को तलाशना और संवारना चाहती है। उल्लेखनीय है कि इस तलाश में परिवार और संबंधों का निषेध नहीं है, बल्कि उनके अर्थ और अंतरंगता का विस्तार है।''[28]

मध्यकाल एवं रीतिकाल में राजनीतिक प्रभुत्व एवं सत्ता मुगलों के हाथ में थी, किंतु मुगल सम्राज्य धीरे–धीरे अपनी चमक खोता जा रहा था। रीतिकाल तक आते–आते साहित्य के रुप में कविता प्रशस्तिगान और नायिका भेद के आवरण में सिमटने लगी थी। वासना, विषय–विलास की इतनी अधिकता हो गयी कि –

---

27 मीरा का काव्य, संपा0– डॉ0 भगवानदास तिवारी, उद्धृत–प्रामाणिक पदावली का मूलपाठ, डाकोर की प्रति, पृ0–9

28 रोहिणी अग्रवाल, 'स्त्री लेखनः स्वप्न और संकल्प; पृ0–14–15

''नारी को अपनी संपत्ति मानकर ही उसका भोग इनके जीवन का मूल मंत्र हो गया था। विलास के उपकरणों की खोज और उनका संग्रह तथा सुरा–सुंदरी की आराधना अभिजात वर्ग का शगल था और मध्यम तथा निम्नवर्ग के लोगों में उसका बोलबाला उसके अनुकरण के कारण था। किसी की कन्या का अपहरण अभिजात वर्ग के लोगों के लिए साधारण बात थी। कदाचित् इसलिए अल्पायु में लड़कियों का विवाह अधिक प्रचलित हो गया था। उधर बेगमों और रक्षिताओं की अगणित संख्या के होते हुए भी ये लोग वैश्याओं के यहाँ पड़े रहते थे, उनके इशारों पर लोगों के भाग्य का निर्माण तक हो जाया करता था। इस प्रकार विलास में डूबे हुए ये लोग अपनी संतान की देखभाल तक नहीं कर पाते थे। और शिक्षक ऐसे घटिया व्यक्ति होते थे कि कामकला की शिक्षा देकर अपने कर्म की इतिश्री समझते थे। अतएव लड़कियों के साथ छेड़छाड़, तीतर–बटेर पालना और उन्हें लड़ाना शहजादों और राजकुमारों की दिनचर्या बन गयी थी।''[29]

शोषण की पाटियों में सदियों से पिसती स्त्री के लिए उन्नीसवीं सदी मुक्ति की आकांक्षा बनकर आयी। इस सदी में स्त्री प्रश्न, उनके मुद्दे प्रभावशाली ढंग से उठाये जाने लगे। नवजागरण की आहट में तमाम समाज सुधारकों ने स्त्री शिक्षा, उनकी सामाजिक–आर्थिक स्थिति, बाल–विवाह, परदा प्रथा विभिन्न कुरीतियों–रूढ़ियों आदि पर गंभीरता से सोचना एवं उनके उन्नमूलन की दशा में प्रयास शुरू किया। उल्लेखनीय है कि सुधार की इस प्रक्रिया में पुरुषों की प्रगतिशील तबका भी बढ़–चढ़कर आगे रहा। राजाराममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, केशवचन्द्र सेन, ज्योतिबाराव फुले आदि के साथ स्त्री वर्ग में सावित्री बाई फुले, पंडिता रमाबाई आदि समाज–सुधारक संघर्षपूर्ण भूमिकाएँ निभाते हैं।

''राजाराममोहन राय द्वारा सती प्रथा की अमानुषिकता के विरूद्ध अभियान; ईश्वरचन्द्र विद्यासागर द्वारा विधवाओं की स्थिति में सुधार को लेकर संघर्ष, ज्योतिबा फुले द्वारा सत्यशोधक समाज की स्थापना, आर्य समाज द्वारा वैदिक धर्म की पुनर्व्याख्या और ब्रह्म समाज द्वारा हिन्दू–अंग्रेजी सभ्यता के सम्मिश्रण की

[29] डॉ0 महेन्द्र कुमार, हिन्दी साहित्य का इतिहास, संपादक–डॉ0 नगेन्द्र, डॉ0 हरदयाल, पृ0–263

प्रगतिशील कोशिशें– भारतीय नवजागरण के सकारात्मक पक्ष को सामने लाती हैं जहाँ हिन्दू धर्म की जड़ताओं और रूढ़ियों को साफ–साफ पहचानने और फिर उन्हें दूर करने की सजगताएँ स्पष्ट परिलक्षित होती हैं।''[30]

अपने शुरूआती स्वरूप के कारण ये आन्दोलन भले ही महत्वपूर्ण हैं लेकिन स्त्री मुद्दों से जुड़े इन आन्दोलनों का विशेष फर्क तात्कालिक स्त्री–जीवन पर नहीं पड़ा। एक और बात इन आन्दोलनों के उत्स में स्त्री–सुधार से ज्यादा समाज सुधार, स्वस्थ प्रगतिशील समाज राष्ट्र निर्माण की भावना ज्यादा प्रबल थी। चूँकि स्त्री जननी है भावी संतति की निर्मात्री है अतः इन सुधारों के रास्ते में स्त्री स्वयं आ गई, वरना इन आन्दोलनों की मंजिल स्त्री मात्र नहीं थी। भारतीय समाज में स्त्री की आदर्श छवि है–मातृत्व। इस छवि से इतर भारतीय समाज को स्त्री के किसी और रुप को स्वीकारने में बहुत कठिनाइयाँ होती हैं– यह छवि वर्तमान युग में भी प्रसारित होती रहती है, फिर विवेच्य युग में तो इससे इतर दृष्टि स्वाकार्य हो ही नहीं सकती थी।

''स्त्रियों की जीवन दशा सुधारने की आवश्यकता इसलिए नहीं महसूस हुई कि वे बहुत कठिन दौर से गुजर रहीं थीं, बल्कि उनकी दशा में सुधार उनके पति तथा बच्चों के लिए जरूरी था। कई वर्षों बाद यह विचार बड़े पैमाने पर प्रभावशाली तरीके से उभरा कि स्त्री की भूमिका माँ के रूप में अधिक स्वीकार्य है। अतः भारत में स्त्रियों की जीवन दशा सुधारने के लिए आन्दोलन चलाए गए।''[31]

भारतीय समाज का यही स्परुप है। स्त्री को यहाँ कभी पूर्ण मनुष्य माना ही नहीं गया, उसे हमेशा रिश्तों की बाड़ के अन्दर ही परिभाषित किया गया। यह मानसिकता हर युग में पाई जाती है। रोहिणी अग्रवाल नवजागरण कालीन परिप्रेक्ष्य में इस चालाकी को पैनी निगाह से पकड़ती हैं–

''भारतीय नवजागरण का यह एक और बड़ा स्खलन है। उदार चेहरे का मुखौटा लगाकर वह स्त्री की राहों को कीलने का कोई भी जतन नहीं छोड़ता।

---

30 राधा कुमार, 'स्त्री संघर्ष का इतिहासः अनु0–रमाशंकर सिंह 'दिव्यदृष्टि', पृ0–23

31 वही, पृष्ठ–57

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर 1850 में विधवा पुनर्विवाह पर लगे प्रतिबंध को समाप्त करने के लिए अभियान चलाकर 1856 में एतद्विषयक कानून अवश्य पारित करा लेते हैं किन्तु समाज इसे मुक्त ह्रदय से कभी स्वीकार नहीं कर पाया। यह बात इस तथ्य से पुष्ट होती है कि कानून पारित होने के बाद 40 वर्षों में कुल पाँच सौ विधवा विवाह ही सम्पन्न हो पाए।''[32]

40 वर्षों में मात्र 500 विधवा विवाहों का होना अधिनियम की दुर्बलता नहीं बल्कि भारतीय समाज की दुर्बलता है, जो किसी भी नयेपन से भयभीत रहता है। यही नहीं, वह हर पुरानी वस्तु, पुरानी अवधारणा के प्रति रूढ़ होता है। इस रूढ़िवादी 'रूढ़ि' से रवीन्द्रनाथ टैगोर तक नहीं बच पाये थे। ''यही कारण है कि अपनी तमाम प्रगतिशीलता के बावजूद रविन्द्रनाथ टैगोर जैसे महान साहित्यकार भी बाल विवाह के समर्थक के रुप में नजर आते हैं।''[33]

दरअसल स्त्री को केवल यौन दासी और माँ के रूप में ही देखा जाता रहा है। महापुरुषों को भी यह लगता रहा है कि वह पुरुषों की यौनकुंठा शांत करने, संतान उत्पन्न करने और चूल्हा–चौका करने के अलावा कुछ नहीं कर सकती। इसलिए उसे अन्य कार्यों के लिए अवसर भी नहीं दिए गए। जबकि स्त्री हर वह कार्य कर सकती है जो पुरुष कर सकता है–

''सन 1857 के विद्रोह ने राष्ट्रीय नवजागरण में देश की स्वतंत्रता का आयाम जोड़ दिया। इस क्रांति में महिलाओं की प्रमुख हिस्सेदारी रही। इस आन्दोलन की शुरूआत मेरठ, उत्तर प्रदेश से हुई और शीघ्र ही यह पूरे उत्तर भारत में फैल गया।..... 1857 की क्रान्ति में झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने अहम भूमिका निभाई। इतिहास में संभवतः पहली बार उन्होंने 'स्त्री सेना' का गठन किया और अंग्रेजों के दाँत खट्टे कर दिये। अपनी शहादत से उन्होंने स्वतंत्रता की नींव रखी।..... इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना के साथ (सन् 1886) राष्ट्रीय

---

32 रोहिणी अग्रवाल, 'स्त्री लेखनः स्वप्न और संघर्ष, पृ0–55

33 राधा कुमार– 'स्त्री संघर्ष का इतिहास', पृ0–68

आन्दोलन विधिवत् संगठित रूप से आरम्भ हुआ। महिलाओं की भागीदारी इसमें भी बराबर बनी रही।''[34]

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के आन्दोलनात्मक माहौल में कुछ ऐसे स्त्री रचनाकारों के नाम सामने आते हैं, जिनकी उपस्थिति ने स्त्री प्रश्नों को एक नई दिशा दी– सावित्रीबाई फुले, पं0 रमाबाई (हिन्दू स्त्री का जीवन), ताराबाई शिंदे (सरलाः एक विधवा की आत्मजीवनी; 1915–16 स्त्री दर्जण पत्रिका): आदि। ये सभी स्त्रियाँ स्त्री–दृष्टि से समृद्ध हो स्त्री समस्याओं से टकराती हैं। दरअसल स्त्रियों को एक बँधे–बँधाये पारम्परिक साँचे से बाहर न निकलने देना पितृसत्तात्मक व्यवस्था की पुरानी रणनीति है। पितृसत्तात्मक समाज की दृष्टि अपनी सारी प्रगतिशीलता के बावजूद स्त्री के मुद्दे पर धुँधली हो जाती है, इनसे लड़ने के लिए इनके खिलाफ साहित्यिक रुप से उठा खड़ा होने में कुछ स्त्रियों को हमेशा के लिए अपनी पहचान छिपानी पड़ी यहाँ तक कि वे अज्ञात हिन्दू महिला के रुप में जानी गईं, विडम्बना यह है कि अज्ञातवास में भी 'हिन्दू' से पीछा नहीं छूटा।

''नैतिकता के ये दोहरे मानदंड पितृसत्ता की मुख्य पहचान और उसकी आलोचना के रूप में सामने आते हैं। ताराबाई शिंदे की पुस्तक 'स्त्री–पुरुष तुलना' तो पितृसत्ता की बड़ी जबरदस्त आलोचना है। यह आलोचना सुधारवादी पुरुषों के द्वारा स्त्रियों के पक्ष में किये गये लेखन से बहुत भिन्न है। उदाहरण के लिए, पुरुष जब सती–प्रथा या वैधव्य के कारण स्त्रियों की दुर्दशा को देखकर स्त्रियों के पुनर्विवाह की बात करते हैं तो शास्त्रों में से प्रमाण खोजते हैं, जबकि स्त्रियाँ समाज में प्रचलित उन परम्पराओं की आलोचना करती हैं जिनमें पुरुष के लिए नैतिक नियम एक प्रकार हैं और स्त्रियों के लिए दूसरे प्रकार के।''[35]

बीसवीं सदी के राजनीतिक परिदृश्य में गाँधी का अवतरण एक ऐसे महापुरुष के रूप में होता है, जिसने समूचे भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन को एक

---

[34] सुमनराजे 'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास; पृ0–227–228

[35] उमा चक्रवर्ती, 'आज का स्त्री आन्दोलन; पृ0–16

महत्वपूर्ण दिशा दी। किन्तु स्त्रियों के मामले में वे भी भारतीय पुरुष के पारम्परिक दृष्टिकोण से मुक्त नहीं हो पाये। उस गाँधीवादी दृष्टिकोण से हिन्दी साहित्य के अनेक रचनाकार ग्रसित रहे, जिनमें प्रमुख उदाहरण प्रेमचंद का है अपने अनेक उपन्यासों में वे स्त्री के परम्परापोषित स्वरूप के हिमायती रहे। प्रेमचंद क अन्तर्विरोधी दृष्टिकोण का परिचय शिवरानी देवी कृत 'प्रेमचंद घर में' में भी मिलता है। इसके विपरीत गाँधीयुग–प्रेमचंद युग में स्त्रियाँ स्वतंत्रता आंदोलन में बढ़–चढ़कर सक्रिय भूमिका निभा रही थीं।

''भारत में स्त्री आन्दोलन की परम्परा औपनिवेशिक शासन के खिलाफ राष्ट्रीय संघर्ष से शुरू होती है और स्त्रियाँ इस संघर्ष में अनेक रुपों में संघर्ष करती नजर आती हैं। क्रान्तिकारी गुटों की कारवाइयों में स्त्रियों ने सक्रिय रूप से हिस्सा लिया। गाँधी जी के शांतिपूर्ण संघर्ष में बढ़–चढ़कर हिस्सा लिया, साथ ही स्वतंत्र महिला संगठनों के जरिए भी स्वाधीनता संग्राम लड़ा। इस त्रि–स्तरीय प्रक्रिया में संघर्ष के बाद स्त्रियों को पुरुषों के बराबर संवैधानिक दर्जा मिला और उसे उसका व्यक्तित्व और अस्मिता की प्राप्ति हुई।''[36]

आजादी की लड़ाई के वक्त पूरे भारतीय जनमानस की आँखों में एक आदर्श स्वप्न था। सभी समस्याओं से मुक्ति का एकमात्र लक्ष्य था–आजादी। किन्तु जब 1947 ई0 में आजादी मिली देश के बँटवारे के साथ मिली, उसके साथ ही मारकाट और रक्तपात की भीषण त्रासदी भी मिली। और इस त्रासदी की सबसे ज्यादा शिकार औरतें हुईं। इस त्रासदी ने आजादी के स्वप्नों को फलीभूत करने की जगह उन्हें खण्डित कर दिया। स्वतंत्रता के उपरान्त स्थितियों में बहुत ज्यादा फर्क नहीं हुआ, बस ये हुआ कि 'जॉन की जगह गोविन्द' शासन पर विराजमान हो गए। स्त्रियों की स्थिति में भी कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ–

''भारत में स्वतंत्रता के उपरान्त स्त्रियाँ ठीक उसी तरह घरों में वापिस भेज दी गईं जिस तरह रूसी क्रान्ति के बाद वहाँ स्त्रियों को घरों में लौटा दिया गया था।''[37]

---

[36] जगदीश्वर चतुर्वेदी, 'स्त्रीवादी साहित्य विमर्श; पृ0–183–184

[37] रेखा कस्तवार, 'स्त्री चिंतन की चुनौतियाँ', पृ0–90

स्थितियां विकट थीं फिर भी स्वाधीन भारत की ओर पूरे देशवासियों की निगाहें टिकी थीं– सब कुछ ठीक होने की आशा में। सरकार की ओर से भी प्रयास किए गये उन आकांक्षाओं पर खरा उतरने की। शोषितों, दलितों, वंचितों (जिनमें महिलाएँ निश्चित रूप से शामिल थीं) के लिए जीवनभर संघर्षरत बाबा साहेब डॉ0 भीमराव अम्बेडकर ने संविधान निर्माण में इनका पूरा ख्याल रखा।

''संविधान सभा द्वारा भारत के सभी नागरिकों के लिए सामाजिक–आर्थिक न्याय, स्वतंत्रता और समानता सुनिश्चित करने के लिए मौलिक अधिकारों की व्यवस्था की गई। न केवल स्त्रीवादी माँगों बल्कि संविधान सभा के अध्यख डॉ0 भीमराव अम्बेडकर के विशेष प्रयासों के फलस्वरूप समाज के वंचित तबकों, जिनमें मुख्यतः दलित, आदिवासी व स्त्रियाँ शामिल थे, के सशक्तीकरण एवं सामाजिक न्याय सुनिश्चित करने के उद्देश्य से संविधान में कुछ विशेष प्रावधान जोड़े गये। स्वतंत्र भारत में एक व्यक्ति एक वोट के विचार को अपनाया गया, जिससे स्त्रियों को भी पुरुषों के ही समान मताधिकार मिला। न केवल मताधिकार, बल्कि बहुत से प्रशासनिक निकायों में सरोजिनी नायडू, विजयलक्ष्मी पंडित, अरुणा आसफ अली जैसी महिलाओं को प्रतिनिधित्व देकर स्वतंत्र भारत की सरकार ने स्त्रियों को राजनीतिक–प्रशासनिक स्तर पर शामिल करने का लोकतांत्रिक प्रयास किया।''[38]

स्वतंत्रता के पश्चात तथा भारतीय संविधान लागू होने के बाद अनेक ऐसे कानूनी प्रावधान लागू हुए जिन्होंने भारतीय स्त्रियों के जीवन–स्तर को सुधारने में मदद की। यह अलग बात है कि या तो समाज ने इन नियमों को पूरी तरह स्वीकार नहीं किया, या इन्हें नीति–नियताओं द्वारा ठीक तरह से लागू नहीं करवाया जा सका– फलतः इनकी कुछ सीमाएँ भी रह गईं।

''महिला संगठनों और उनके समर्थकों को कानूनी क्षेत्र में संशोधन में भी काफी सफलता मिलीं। भारतीय संविधान में लिंग के आधार पर समानता दी गई है। 1944 में हिन्दू कोड बिल प्रस्तावित हुआ इसमें कई सुधार थे, जैसे शादी के लिए रजामंदी की उम्र बढ़ाना, महिलाओं को तलाक का अधिकार, गुजारा भत्ता, महिलाओं का संपत्ति पर अधिकार और दहेज को स्त्रीधन माना जाना। परन्तु कई

[38] मुस्कान, (महिला आन्दोलन लेख)–समकालीन भारत में विकास प्रक्रिया और सामाजिक आन्दोलन, संपा0 अभय प्रसाद सिंह, पृ0–220

कांग्रेसी इसके विरूद्ध थे। अंत में 1955–56 में यह बिल कई टुकड़ों में बँटकर चार अलग–अलग अधिनियमों के रूप में पारित हुआ। यह अधिनियम थे– हिन्दू विवाह अधिनियम, हिंदू उत्तराधिकारी अधिनियम, हिन्दू अल्पसंख्यक व अभिभावक अधिनियम, गोद लेने एवं गुजारे भत्ते का अधिकार। यह सभी कानून काफी प्रगतिशील थे किंतु समाज में उन्हें अभी आंशिक सफलता ही मिल सकी है। यही बात 1961 में पारित दहेज के कानून पर भी लागू होती है, जिसके तहत दहेज लेना और देना दोनों ही अपराध है।''[39]

स्वतंत्र भारत में बढ़ते आर्थिक दबावों, संयुक्त परिवारों का विघटन औद्योगिकरण, मध्यवर्ग का उदय इत्यादि ने भारतीय समाज के परम्परागत स्वरूप में अन्तर किया है, जिसके फलस्वरूप भी महिलाओं की भूमिका बदली है, चारदीवारी में कैद स्त्रियाँ पारिवारिक एवं निजी जरूरतों की वजह से बाहर निकली।

''अच्छा पढ़–लिखकर उन्होंने डॉक्टर, इंजीनियर, आर्कीटेक्ट, डिजाइनर और उन सभी क्षेत्रों में कदम जमाए जो अब तक पुरुष वर्चस्व के समझे जाते थे। लड़कियों को अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा दी जाने लगी। शिक्षा से स्त्री में आत्मविश्वास, आत्मसम्मान और आत्मनिर्भरता का भाव उत्पन्न हुआ है, परन्तु इस शिक्षा ने अच्छी हैसियत वाले वर तलाशने की सुविधा अधिक जुटाई है एवं आम भारतीय मध्य वर्ग ने इस आधुनिक स्त्री का पर्यवसन परम्परागत छवि वाली पत्नी में होते देखना चाहा। घर के बाहर एक आधुनिक, सोसायटी वुमन और घर के अन्दर पारम्परिक स्त्री। यद्यपि आधुनिक मुद्रा स्त्री को बराबरी पर खड़ा रखने को मजबूर करती रही। भारतीय समाज में स्त्री का यह इच्छित रूपान्तरण जीवन में, साहित्य में, फिल्मों, टी0वी0 सीरियल्स में आसानी से देखा जा सकता है। जो स्त्री को अन्ततः अधीनस्थ की भूमिका में रूपान्तरित करता है।''[40]

---

39 दीप्ति प्रिया महारोत्रा–(लेख–समकालीन भारत में महिला आन्दोलन) नारीवादी राजनीतिः संघर्ष एवं मुद्दे, संपा0–साधना आर्य, निवेदिता मेनन जीनी लोकनीता, पृ0–264

40 रेखा कस्तवार, 'स्त्री चिंतन की चुनौतियाँ; पृ0–83

स्त्री की वर्तमान लड़ाई इसी अधीनस्थ की भूमिका को लेकर है। सब कुछ बदलने के बावजूद, हर तरह से काबिल होने के बावजूद, अपेक्षाओं पर खरा उतरने की क्षमता को साबित करने के बावजूद स्त्री का संघर्ष परम्परागत सोच की इसी अधीनस्थ मंशा से है जो स्त्री के हर कदम के आड़े आ जाती है। स्त्री की लड़ाई अभी कहीं खत्म नहीं हुई है– न समाज में, न राजनीति में, न परिवार में और न जीवन में। वह आज भी हर मोर्चे पर लड़ रही है– दहेज के खिलाफ, मँहगाई के खिलाफ, बलात्कार के खिलाफ, ऑनर किलिंग के खिलाफ, कार्यस्थल पर छेड़छाड़ के खिलाफ, चलती सड़क पर घूरती नजरों के खिलाफ, अपनी राजनीतिक भागीदारी में रोड़े अटकाने वाली मंशा के खिलाफ आदि। स्त्री आंदोलनों की व्यापकता के सन्दर्भ में दीप्ति प्रिया मेहरोत्रा लिखती हैं–

''महिला आन्दोलन की शुरुआत कोई अभी हाल में नहीं हुई है न दिल्ली में और मुम्बई की सड़कों पर हुई है। इसकी शुरुआत हजारों स्थानों पर हजारों तरह से हुई है। इसकी तुलना उस नदी से नहीं की जा सकती जो एक स्पष्ट स्त्रोत से शुरू होकर एक स्पष्ट जगह समाप्त हो जाती है। वरन इसमें सैकड़ों धाराएँ मिलती हैं जो स्वयं हजारों धाराओं और झरनों से मिलकर बनी है।''[41]

भारतीय स्त्री विमर्श की मुकम्मल तस्वीर स्त्री संघर्ष के अनेक छोटे–छोटे टुकड़ों से जुड़कर बनी है, जिसमें हर क्षेत्र, हर तबके की स्त्रियाँ शामिल हैं, इनका संघर्ष इनका आन्दोलन शामिल है। दलित आदिवासी तबके की, मजदूर तबके की, पिछडे तबके की, उच्च वर्ग की हर महिला संघर्षों की आज स्त्री–अस्मिता के लिए संघर्षरत है।

दलित अस्मिता विमर्श

भारतीय समाज में जाति हिन्दू धर्म का सबसे भयावह और सर्वव्यापी सत्य है। इस धर्म में जो बड़े–बड़े आदर्शवादी दर्शनों का बखान है, आत्मा की पवित्रता, एकता–अखण्डता के जो दावे हैं, 'वसुधैव कुटुम्बकम' की जो आवधारणा आदि है,

---

41 दीप्ति प्रिया मेहरोत्रा, नारीवादी राजनीतिः संघर्ष एवं मुद्दे, संपा0–साधाना आर्य, निवेदिता मेनन, जीनी लोकनीता, पृ0–262

इन सब पर तुषारापात जाति करती है; क्योंकि इस धर्म का यथार्थ और दर्शन दोनों अलग–अलग बातें हैं। इस जाति ने कुछ मनुष्यों को निम्न, हेय, नीच, घृणित फलतः अस्पृश्य शूद्र और दलित करार देकर, उनके समस्त मौलिक अधिकार छीनकर उन्हें मनुष्य होने की गरिमा से भी वंचित किया है। दलित की अवधारणा जाति से जुड़ी है और जाति को प्रश्रय देने में विभिन्न हिन्दू धर्म–ग्रन्थ, वेद, उपनिषद आदि कट्टर रहे हैं। जातिगत शोषण एवं वर्चस्व की जड़ें इन धर्मग्रन्थों से ही पोषण प्राप्त करती रही हैं। इन धर्मग्रन्थों ने मनुष्य को चार वर्ण यथा –ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र में बाँटकर शूद्र को हर तरह के अधिकार से वंचित कर दिया।

जाति व्यवस्था को कानूनी स्वरूप प्रदान करने में मनुस्मृति की भूमिका प्रमुख है। मनुस्मृति में सभी चार वर्णों के कर्म निर्धारित किये गए हैं, जिसमें ब्राह्मण का कार्य वेदाध्ययन, पूजा–पाठ, दान–दक्षिणा, धार्मिक कर्मकांड, क्षत्रिय का शासन करना, प्रजा की रक्षा और युद्ध, वैश्य का व्यापार, पशुपालन, अर्थ से जुडे कार्य निर्धारित है। शूद्र के लिए –

''एकमेव तु शुद्रस्य प्रभुः कर्मसमादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया।।91।।[42]

(ईश्वर ने शूद्र के लिए एक ही कर्म का आदेश किया है, वह इन उपर्युक्त तीनों वर्णों की ईर्ष्यारहित होकर सेवा करें।)

वर्ण व्यवस्था की इस कट्टरता पर टिप्पणी करते हुए गीतेश शर्मा लिखते हैं–

''चार वर्णों के लिए प्रतिपादित इन कर्त्तव्यों पर धर्म की मुहर लग जाने के फलस्वरूप धर्म आचरण–संहिताओं की सीमा में जकड़ गया। मानवीय मूल्यों से अनुप्राणित विवेक, न्याय और तर्कसम्मत स्थापनाओं का स्थान समाज में गौण हो गया और मनुस्मृति द्वारा निर्धारित आचार–संहिताओं ने धर्म का रुप धारण कर

---

[42] मनुस्मृति, अध्याय–1, पृ0–18

लिया। इन परिस्थितियों में वेद एवं अन्य धर्मशास्त्रों के श्रवण मात्र से शूद्रों, स्त्रियों के कान में गर्म तेल अथवा शीशा पिघलाकर डालने का कड़ा आदेश एक सामाजिक कानून का रूप ले चुका था।''[43]

इस प्रकार की द्वेषपूर्ण, क्रूर आचार–संहिताओं ने असमानता और शोषण की ऐसी विकृत व्यवस्था को प्रश्रय दिया, जिसने मनुष्यों के एक वर्ग को पीढ़ी–दर–पीढ़ी यातना की खाई में ढकेल दिया। और ये सब होता रहा हिन्दू धर्म के नाम पर। इसी क्रम में 'हिन्दू' शब्द की उत्पत्ति एवं प्रचलन के इतिहास के विषय में दो विद्वानों के मतों को जानना काफी रोचक होगा। गीतेश शर्मा लिखते हैं–

''हिन्दू धर्म का काल अवश्य साढ़े तीन–चार हजार वर्षों का है लेकिन हिन्दू शब्द तेइस–चौबीस सौ वर्ष पूर्व सिकन्दर के भारत आक्रमण (ई0पू0 327) के दौरान पहली बार प्रयुक्त हुआ और लगभग उसके एक हजार वर्ष बाद मोहम्मद बिन कासिम (सन् 712) के भारत आक्रमण के समय व्यापक रूप से प्रचलित हुआ। दरअसल फारस से आए आक्रमणकारी और व्यापारी 'स' को 'ह' उच्चारित करते थे। सिन्धु नदी के इस पार रहने वाले समस्त भारतीयों को वे हिन्दू एवं उनके धर्मों को वे हिन्दू धर्म कहा करते थे। इसके पहले हिन्दू आर्य अथवा भारतवंशी कहलाते थे जो कई–कई सम्प्रदायों, उपसम्प्रदायों में विभक्त थे। हिन्दू धर्म वैदिक अथवा सनातन धर्म कहलाता था। कालान्तर में हिन्दू शब्द एक सम्प्रदाय एवं धर्म विशेष के लिए प्रयुक्त होने लगा।''[44]

गीतेश शर्मा की उपर्युक्त टिप्पणी 'हिन्दू' शब्द की व्याख्या के परम्परागत तर्क पर आश्रित है। सिन्धू, हिन्दू और हिन्दी की उत्पत्ति के संदर्भ में यही तर्क पाठ्यपुस्तकों में भी मिलता है। हिन्दू शब्द की उत्पत्ति की व्याख्या कितनी भ्रामक है इसे इसी क्रम में मुद्राराक्षस के तर्कपूर्ण तथ्यों द्वारा समझा जा सकता है

---

[43] गीतेश शर्मा, 'धर्म के नाम पर', पृ0–46

[44] गीतेश शर्मा, 'धर्म के नाम पर', पृ0–46

''इतिहासकारों ने कहा कि चूँकि फारस के लोग 'स' को 'ह' बोलते थे, इसलिए उन्होंने सिंधु को हिन्दू कहा और यहाँ रहने वालों को हिन्दू कहना शुरु कर दिया यह विचित्र तर्क था। ईरान के लोग अपनी भाषा को फारसी कहते रहे, फारही कभी नहीं कहा, सुल्तान बोलते थे हुल्तान नहीं, पर सिंध को उच्चारित नहीं कर सकते थे, यह अविश्वसनीय है। दरअसल, तथ्य इससे कहीं अलग है।..... विजेता अक्सर विजित समुदाय को निन्दनीय मानता और घोषित करता है। मुसलमान ने भी भारत को जीतकर यही किया। हर विजेता की तरह वह भी भारत के विजित लोगों को हेय समझता और बताता था। उसने भारत में रहने वालों का इसीलिए हिन्दू कहा। फारसी में हिन्दू का अर्थ होता है काला, माशूक के चेहरे का तिल, चोर, लुटेरा या गुलाम। ये अर्थ फीरोजुल्लुगात नामक विख्यात शब्दकोश में है। दिलचस्प है कि ब्राह्मण भारतीयों को इसी भाषा में याद करता है। ऋग्वेद के अनुसार मूलवासी काले, दस्यु और दास हैं। विजित लोगों के लिए हर संस्कृति ने लगभग इसी तरह की संज्ञाओं का इस्तेमाल किया है।''[45]

मुद्राराक्षस के इस तर्क से स्पष्ट है कि हिन्दू शब्द गर्व और सम्मान का नहीं बल्कि अपमान का बोधक है। हिन्दू शब्द का प्रयोग एवं प्रचलन चाहे जिस तरह हुआ या होने लगा, इससे उच्चवर्णीय समाज द्वारा तथाकथित निम्नवर्णीय समाज के शोषण पर कोई फर्क नहीं पड़ा। सामाजिक, आर्थिक, जातिगत शोषण, वैमनस्य वर्चस्व की यह व्यवस्था पूर्ववत बनी रही।

हालाँकि हिन्दू धर्म की जातिवादी, वर्णाश्रम व्यवस्था के विरूद्ध प्रतिरोध की धारा इसकी शुरूआत से ही इसके समानान्तर चलती रही, जिसे लोकायत या चार्वाक दर्शन के नाम से जाना जाता है। लोकायत दर्शन मानवतावादी भौतिकवादी दर्शन है, जिसका उद्देश्य कर्मकांड रहित समतामूलक समाज की स्थापना रहा।

''ईसा पूर्व सातवीं से पाँचवी शताब्दी के दौरान अनीश्वरवादी एवं नास्तिक ऋषि–मुनियों ने अपने अनुभव, बृद्धि, तर्क, प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर वेदान्त

---

[45] मुद्राराक्षस, 'धर्मग्रन्थों का पुनर्पाठ; पृ0–11

अवधारणाओं का खंडन करते हुए पदार्थ की सत्ता को स्थापित किया और आत्मा के स्वतंत्र अपार्थिव, स्वरूप को अस्वीकार किया। लोकायत अथवा चार्वाक दर्शन के प्रणेता ऋग्वेदकालीन आचार्य वृहस्पति हैं।..... वेदों कर्मकांडों, ब्राह्मणवाद और वर्णाश्रम व्यवस्था का वे डटकर विरोध करते थे। आचार्य वृहस्पति का विचार था कि अग्निहोत्र, कर्मकांड, तीन वेद, त्रिदंड, भस्मलेपन आदि उन लोगों के जीविका कमाने के साधन हैं, जिनके पास बुद्धि और शक्ति का अभाव है।''[46]

लोकायत दर्शन को दलित विमर्श का आदि दर्शन माना जा सकता है, क्योंकि उसने धर्म, ईश्वर, बाह्य कर्मकांडों को नकार कर मानव मात्र की प्रतिष्ठा पर बल दिया। दलित विमर्श भी मानवतावादी मूल्यों का विमर्श है, इस प्रकार देखा जाए तो यह कोई तात्कालिक विमर्श नहीं है, इस विमर्श की जड़े सुदूर अतीत तक फैली हुई है।

दलित विचारक पाँचवी–छठी शताब्दी ई0 पू0 (जिस समय गौतम बुद्ध का उदय होता है) को शोषितों, वंचितों, दलितों की चेतना एवं सामाजिक उत्थान का प्रथम जागरण मानते हैं, क्योंकि बुद्ध ने शोषण, असमानता पर टिके समाज के सामने एक वैकल्पिक समाज का ढाँचा प्रस्तुत किया जो मानवतावादी था। ब्राह्मणवादी असमानतावादी वैचारिक आधार पर टिके समाज के बरक्स बुद्ध के स्वतंत्रता एवं समानता पर टिके मानवतावादी समाज के गठन के बारे में सूरज बड़त्या लिखते हैं–

''अन्याय और असमानता पर आधारित वैचारिकी ब्राह्मणवाद और वैदिक संस्कृति से परिचालित थी। चूँकि इसी वैचारिकी ने समाज में असमानता की दीवार को मजबूत और खाई को और गहरा किया था। लेकिन यह असमानता केवल वर्गीय नहीं थी बल्कि कहीं इससे गहरे यह जाति आधारित थी। जातियों की अपनी श्रेणियाँ बनी हुई थीं और उन श्रेणियों में शूद्र सबसे निचले पायदान पर थे। लेकिन इसमें भी 'अछूत' (अंत्यज) तो इनके किसी भी सामाजिक दायरे में शामिल हीं नहीं था। उसे तो समाज को श्रेणीबद्ध करने वाले चिंतकों ने देश

---

[46] गीतेश शर्मा, 'धर्म के नाम पर', पृ0–44

निकाला (नगर–गॉव से बाहर) दिया हुआ था। ऐसे कारुणिक और बर्बर युग में गौतम बुद्ध ने आज के दलित और उस समय के शूद्र एवं अंत्यज को देश भीतर (नगर गाँव में) ठहरने की, रहने की नई व्यवस्था का प्रतिपादन किया। यह कोई छोटी बात नहीं थी, यह अपने आप में एक क्रांतिकारी ऐतिहासिक घटना थी। इसे ऐसे कहें कि यह भारतीय सामाजिक ढाँचे की टूटन की दिशा में बढ़ा पहला सांगठनिक कदम था।''[47]

बुद्ध के बाद मध्यकाल में सिद्धों–नाथों की परम्परा में आने वाले तमाम निर्गुण संतों ने जाति–व्यवस्था पर कठोर प्रहार किया, जिसमें कबीर, रैदास आदि प्रमुख थे। कबीर अपने काव्य के माध्यम से जाति–व्यवस्था और इसके पोषकों को सवालों, तर्कों के कटघरे में खड़ा करते हैं–

''जो तु बाभन बाभनी जाया,
तो आन बाट ह्वै क्यूं नहीं आया।''[48]

''हमारै कैसे लोहु तुम्हारे कैसे दूध
तुम कैसे ब्राह्मण पांडे हम कैसे सूद।''[49]

इसी प्रकार रैदास भी कहते हैं–

''जात–जात में जात है ज्यों केलन में पात
रविदास न मानुस जुड़ सकै जौ लौ जातन जात।''[50]

मध्य युगीन संतों (जो अधिकतर नीची मानी जाने वाली जातियों से आते थे) ने मुनष्य को बाँटने वाली जातिवादी, सामंतवादी व्यवस्था का विरोध किया, क्योंकि वे भुक्तभोगी थे इस शोषण के। इन संतों ने निर्गुण निराकार ईश्वर की परिकल्पना द्वारा अध्यात्म की अलग अवधारणा प्रस्तुत की। उन्होंने श्रम की महत्ता

---

47 सूरजा बड़त्या, हाशिये का वृतान्त, संपादक–दीपक कुमार, देवेन्द्र चौबे, पृ0–237–238

48 डॉ0 पुष्पपाल सिंह, 'कबीर ग्रन्थावली', पृ0–61

49 वही, पृ0–61

50 रैदास रचनावली, संपा0 डॉ0 गोविन्द रजनीश, पृ0–137

स्थापित की, क्योंकि बिना श्रम के जीवन को सरल नहीं बनाया जा सकता। श्रम हर व्यक्ति का कर्त्तव्य है न कि सिर्फ दलितों का।

उन्नीसवीं–बीसवीं शताब्दी में स्वामी अछूतानंद 'हरिहर', हीराडोम, मराठी के महान सुधारक, रचनाकार ज्योतिबा फुले, बाबा साहेब डॉ0 भीमराव अम्बेडकर जैसी विभूतियों ने अपने–अपने तरीकों से जाति के प्रश्न को, शोषणपरक मुद्दों, समस्याओं को दलित विमर्श की पृष्ठभूमि से जोड़कर एक मजबूत आधार तैयार किया।

दलितों के मसीहा के रूप में डॉ0 भीमराव अम्बेडकर (14 अप्रैल 1891ई0) का उदय सही मायनों में दलित अस्मिता के अधिकार और संघर्ष का उदय है, क्योंकि डॉ0 अम्बेडकर ने दलित मुक्ति के सवाल को राजनीति से जोड़ा। 1927 ई0 में महाड़ में सार्वजनिक तालाब से पानी लेना, 20 दिसम्बर 1927 ई0 को मनुस्मृति दहन, 2 मार्च 1930 ई0 को नासिक के कालाराम मंदिर प्रवेश इत्यादि अनेक घटनाएँ डॉ अम्बेडकर के नेतृत्व में दलित मुक्ति के संघर्ष हैं। डॉ0 अम्बेडकर ने शोषितों, वंचितों की मुक्ति के लिए जीवन भर संघर्ष किया, गहन अध्ययन किया, और भारतीय संविधान के रूप में यह सुनिश्चित किया कि समाज का सबसे दबा हुआ निम्न माना जाने वाला तबका भी सम्पूर्ण मानवीय गरिमा के साथ सिर उठाकर जी सके। उसे विकास के तमाम अवसर एवं अधिकार कानूनी रुप से भी प्राप्त हो सकें। हालाँकि यह विडम्बना ही है कि कानूनन अपराध होने के बावजूद दलितों को आज भी जाति के नाम पर सामाजिक, आर्थिक रूप से पीड़ित किया जाता है।

स्वतंत्रता के बाद बदली हुई परिस्थतियों में शिक्षा और ज्ञान की रोशनी पाकर दलित अस्मिता नये तेवर के साथ साहित्यिक स्वरूप ग्रहण करने लगी। कँवल भारती लिखते हैं–

''1975 के बाद दलित चेतना की जो धारा विकसित हुई, वह इसलिए विशिष्ट है क्योंकि उसने हिन्दी जगत में अपनी पृथक और विशिष्ट पहचान बनाने का प्रयास किया है। यह प्रयास अभिनव है, क्योंकि अभी तक ऐसा प्रयास किसी

युग में नहीं किया गया था। एक पृथक धारा के रुप में हिन्दी दलित साहित्य इसी युग में अस्तित्व में आया, बल्कि उसे परिभाषित भी इसी काल में किया गया। यह धारा समग्र रुप से अम्बेडकर के दर्शन से विकसित हुई, और यह दर्शन ही उसका मूलाधार है। अम्बेडकर–दर्शन में दलित–मुक्ति की अवधारणा की अभिव्यंजना ही वर्तमान हिन्दी दलित साहित्य की प्रतिबद्धता है। इसने नये सौन्दर्य शास्त्र की स्थापना की, जो स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व के सिद्धान्तों पर आधारित है। इसने अपने सौन्दर्य शास्त्र से हिन्दी साहित्य का मूल्यांकन किया और उसे काफी हद तक दलितों के लिए अप्रासंगिक बताया।''[51]

बीसवीं सदी के अन्तिम दो दशक अस्मिता विमर्शों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण रहे। दलित अस्मिता भी इसी काल में पूर्ण प्रतिष्ठित हुई, तथा 'दलित' शब्द एवं 'दलित अस्मिता' नये अर्थ–सन्दर्भों से जुड़कर व्यापक विस्तार पाते है। 'दलित' के विभिन्न शब्दार्थों को स्पष्ट करते हुए ओमप्रकाश बाल्मीकि लिखते हैं–

'' 'दलित' शब्द का अर्थ है– जिसका दलन और दमन हुआ है, दबाया गया है, उत्पीड़ित, शोषित, सताया हुआ, गिराया हुआ, उपेक्षित, घृणित, रौंदा हुआ, मसला हुआ, कुचला हुआ, विनष्ट, मर्दित, पस्त–हिम्मत, हतोत्साहित, वंचित आदि।''[52]

अपने शाब्दिक अर्थ में दलित शब्द बेचारगी, कमजोरी के रूप में ही उद्घाटित होता है, किंतु दलित अस्मिता विमर्श के अन्तर्गत यह शब्द शक्ति और संघर्ष का प्रतीक है। डॉ0 रामचन्द्र लिखते हैं–

'' 'दलित' अस्मिताबोधक शब्द है। यह संबोधन उत्पीड़न और शोषण का बोध भी कराता है। शोषक वर्ग के कृत्यों को याद दिलाते रहने वाला क्रान्तिकारी भाव भी इस शब्द में निहित है। इसमें चेतना की अनुगूँज भी है। 'दलित' शब्द सहानुभूति के बजाय दायित्वबोध का एहसास कराता है।''[53]

---

51 कँवल भारती दलित साहित्य की अवधारणा, पृष्ठ–54

52 ओमप्रकाश बाल्मीकि, 'दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ0–13

53 डॉ0 रामचन्द्र 'दलित लेखन के अन्तर्विरोध, संपादक–डॉ0 रामकली सर्राफ, पृ0–187

भेद–भाव, अन्याय–अत्याचार, शोषण के विरुद्ध लड़ने तथा समता–स्वतंत्रता– बंधुता पर आधारित समाज की स्थापना के लिए संघर्षरत रहने के वावजूद दलित साहित्य पर प्रायः ये आरोप लगता रहा है कि इसने साहित्य को जाति में बाँट दिया। कृष्णदत्त पालीवाल लिखते हैं–

''दलित साहित्य का जातिवादी दर्शन समस्त भारतीय रचनाकारों के जाति–विरोधी दर्शन से अलग है– न केवल अलग है, बल्कि विपरीत दिशा में पूँछ उठाकर भागता है, यह चिन्ता का विषय है।''[54]

विडम्बना ये है कि समाज का सब कुछ बँटा हुआ मंजूर है किन्तु परहेज सिर्फ साहित्य से है। जब भारतीय समाज में गाँव–घर, स्थान, खेत–खलिहान, व्यक्ति, रहन–सहन सब कुछ धर्म और जाति के नाम पर बँटा हुआ है तो साहित्य उससे अछूता कैसे रह सकता है? एक बात और सवर्ण समाज साहित्य के द्वारा अपने बारे में बात करें तो प्रगतिशील, अपने से इतर, निम्न माने जाने वाले समाज के बारे में बात करे तो भी प्रगतिशील किंतु जब दलित अपने बारे में, अपनी पीड़ाओं के बारे में बात करे तो जातिवादी घोषित कर दिया जाता है। उसके समस्त अस्मिता मूलक संघर्ष को जातिवादी घाषित कर दिया जाता है।

दलित विमर्श में एक मुद्दा 'सहानुभूति' और 'स्वानुभूति' का भी रहा है। दलित अस्मिता के मुद्दों, दलित चेतना से सम्पन्न किसी भी रचना को दलित साहित्य के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया जाता है, किन्तु 'स्वानुभूति' को प्राथमिकता दी जाती है। प्रो0 मैनेजर पाण्डे का भी मत है कि–

''मेरा मत है कि सहृदयता, करुणा और सहानुभूति के सहारे गैर–दलित लेखक भी दलितों के बारे में अच्छा साहित्य लिख सकते हैं और लिखा भी है। लेकिन सच्चा दलित साहित्य वही है जो दलितों द्वारा अपने बारे में या सवर्ण

---

[54] कृष्णदत्त पालीवाल, 'दलित साहित्य बुनियादी सरोकार, पृ0– 68

समुदाय के बारे में लिखा जाता है, क्योंकि ऐसा साहित्य सहानुभूति से नहीं बल्कि स्वानुभूति से उपजा होता है।''[55]

दलित अस्मिता विमर्श के अन्तर्गत दलित स्त्री अस्मिता की अनुगूँजें भी सुनाई देने लगीं, क्योंकि दलित पुरुष भी आखिरकार पुरुष ही होता है। दलित स्त्री तो शोषण के सबसे निचले पायदान पर है जहाँ उसे शोषण के अनेक आयामी रूपों से अनेक स्तर पर जूझना पड़ता है।

दलित अस्मिता विमर्श आत्मकथा विधा के माध्यम से ज्यादा सशक्त हुआ है, आत्मकथाओं ने दलित अस्मिता विमर्श की एक तरह से शुरुआत भी की हे, और ऊँचाई भी प्रदान की है। ओमप्रकाश बाल्मीकि की 'जूठन' सर्वश्रेष्ठ दलित आत्मकथा मानी जाती है। प्रमुख दलित रचनाकारों में– ओमप्रकाश बाल्मीकि, डॉ0 धर्मवीर, मोहनदास नैमिषराय, डॉ0 तुलसीराम, डॉ0 श्योराज सिंह 'बेचैन, सूरजपाल चौहान, कँवल भारती, कौशल्या बैसंत्री, सुशीला टॉंकभौरे, अनीता भारती, जयप्रकाश कर्दम आदि महत्वपूर्ण नाम हैं।

आदिवासी अस्मिता विमर्श

आदिवासी के 'आदि' शब्द से 'आदिम' की अवधारण भी जुडी हुई है, जिसकी वजह से आदिवासियों को मूल निवासी की संज्ञा भी दी जाती रही है। आदिवासियों के लिए अन्य नाम यथा–वनवासी, जंगली, आदिम लोग, आदिमजन, पहाडी लोग, गिरिजन, आदि शब्दों का भी प्रयोग होता रहा है। आक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार आदिवासी वह है जो –

''एकाधिक परिवारों से बने परम्परागत समाज का वह वर्ग जो सामाजिक, आर्थिक, संस्कृतिक, भाषिक तथा रक्त के स्तर पर बॅधें हो और जो एक क्षेत्रीय नेतृत्व के अधीन रहते आये हों।''[56]

---

[55] मैनेजर पाण्डेय, चिंतन की परम्परा और दलित साहित्य, संपा0– डॉ0 श्योराज सिंह 'बैचेन' डॉ0 देवेन्द्र चौबे, पृष्ठ 105

इस प्रकार आदिवासी वह है जो जंगलो में, तथाकथित सभ्य कहे जाने वाले समाज से प्रायः अलग–अलग, अपने संस्कारों रीति–रिवाजों, धार्मिक क्रिया–कलापों के अनुसार स्वास्थ जीवन गुजारता है, जो जीवन–यापन के लिए प्रायः जंगलों पर निर्भर रहता है।

भारतीय संविधान में आदिवासी के लिए 'अनुसूचित जनजाति शब्द का प्रयोग किया गया है। जनसंख्या में आदिवासियों की तादात 8 करोड़ से अधिक है। हरिराम मीणा लिखते हैं–

''भारत के आदिवासियों में सीमान्त आदिवासी करीब 11 प्रतिशत है, जो पूर्वोत्तर के राज्यों तथा हिमालय पर्वत श्रृंखला के इर्द–गिर्द बसे हुए हैं, शेष 89 प्रतिशत आदिवासी अन्य प्रान्तों में है, जो उन राज्यों की कुल जनसंख्या मध्यप्रदोश में 23 प्रतिशत, उडीसा 22 प्रतिशत, राजस्थान 12 प्रतिशत, बिहार 8 प्रतिशत,गुजरात 14 प्रतिशत, दादरा नगर हवेली 79 प्रतिशत एवं लक्षद्वीप 94 प्रतिशत है।''[57]

आदिवासियों पर विचार करते हुए बहुत सारे प्रश्न मन में उठते हैं यथा–आदिवासी समाज अब तक तथाकथित विकास की मुख्यधारा से दूर क्यों रहा, वह जंगलों में क्यों रहता आया है। पूरी दुनियॉ पर हावी भौतिकवादी चकाचौंध से उसने स्वयं को क्यों और कैसे दूर रखा है ? आदिवासी अखिर कौन हैं ? इस प्रश्न पर विचार करते हुए हरिराम मीणा लिखते हैं–

''हजारों सालों से पंचनद प्रदेश, गंगा–जमुनी–सरस्वती मैदानों, मध्यभारत व सागरों से सुरक्षित सुदूर दक्षिणांचल तक यहां वहां आदिम अवस्था में विचरती इस देश की मूल मानवता। बाहरी आक्रांता आते हैं– इस जमाने के हिसाब से आधुनिक–विकसित साजों–समाज से लैंस, तुलनात्मक दृष्टि से अधिक तेज–तर्रार, चतुर–चलाक। मूल बांशिंदों में जो मारे गये वे खत्म हुए, जो पकडे गये वे दास–दलित बना दिये गये और जिन्हें घदेड़ते–रगेढते वन–पर्वतों में घंसा दिया गया,

---

[56] हरिराम मीना, आदिवासी दुनिया, पृ0–08

[57] वही, पृ0– 10

उन्हें विद्रोही, आतंकी, दैत्य–दानव, असुर, राक्षस..... न जाने क्या–क्या बना दिया और इन संज्ञाओं की मनगढ़न्त अवधारणाएँ आरोपित कर तद्नरूप उनकी आकृतियॉ, आचरण, संस्कार, सभ्यता, संस्कृति गढ़ी गयी।..... युगों–युगों तक चले इस दीर्घ संघर्ष में जो मूलवासी अपनी आदिम पहचान के साथ दुर्गम वन पर्वत–घाटियों में अब तक बचे हुए है, वे ही निस्संदेह आज के आदिवासी हैं।''[58]

भारतीय सन्दर्भ मं यह कथन आंशिश रूप से ही सत्य 'प्रतीत होता है कि कुछ सुमदायों को बाहरी आक्रांताओं ने खदेडते हुए वन–पर्वत, गुफाओं मं ढकेल दिया और वही आदिवासी हैं। आदिवासी विशव के अन्य देशों मं भी पाये जाते है। जैसे– उत्तरी अमेरिका के रेड इंडियन्स, दक्षिणी के 'बुशनीग्रों,' अफ्रीका के सानुमैाक्सिकों के माया न्यूजीलैंड के 'मोरानी', आस्ट्रेलिया के 'कुरी', नुनगा आदि। यहां तक की एशिया के सेंटनलीज, जारवा इत्यादि। जिस तरह विश्व के अन्य देशों में आदिवासी और गैर आदिवासी समाज दोनों पाए जाते हैं, उसी तरह भारत में भी बाहरी आक्रांताओं के आने से पहले समाज में आदिवासी और गैर आदिवासी समुदाय मौजूद रहे होगें। श्यामाचरण दुवे लिखते हैं–

''प्रजातिय रूप से भारतीय जन एक मिश्रित समूह है, इसके किसी भी अंश का प्रजातिय शुद्धता के अंहभाव से पीडित होने का कोई वैज्ञानिक आधार नही है। यह भी निश्चित है कि हमारी संस्कृति का आज का रूप एक ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है, जिससे अनेक प्रजातियों और संस्कृतिक तथा धार्मिक समुदायों का संविलयन जुड़ा हुआ है।''[59]

संविलयन की इस प्रक्रिया के अनेक कारण हो सकते है जिनसे आदिवासी समाज भी अछूता नही रहा। ऐसा कतई नही प्रतीत होता कि समूची आदिवासी सभ्यता–संस्कृति का विकास विवशता या शोषित होने की मजबूरी के फलस्वरूप हुआ है। अपितु आदिवासी जीवन–शैली एक प्राकृतिक दृष्टिकोण है, उनकी अपनी स्वायत्र संस्कृति है, जो उन्होंनें बहुत मुश्किल से संजों कर रखा है।

---

58 वही, पृ0– 116

59 श्यामाचरण दुवे, 'समय और संस्कृति' पृ0– 63

''कई छोटे– छोटे आदिवासी समुदाय ऐसे सुदूर और अगम्य भागों में रहते थे कि उन्हें लम्बे समय तक छेड़ा नहीं गया। इस तरह एक ओर जहां सामान्य हिन्दू समाज में आदिवासी प्रजातिय और सांस्कृतिक तत्वों का मिश्रण हुआ, दूसरी ओर कुछ आदिवासी समुदाय अपनी प्रजातिय शुद्धता और सांस्कृतिक वैशिष्टय बचाये रख सकें।''[60]

यहॉ पर यह ध्यान दिया चाहिए कि आदिवासियों की 'प्रजातिय शुद्धता' प्राकृति संरक्षण ज्यादा है, आदिवासियों के जीवन में प्राकृति प्रथम है। आदिवासियों से इतर स्वयं को आधुनिक मानने वाले, उच्चतर का दंभ पाले गैर आदिवासी समाज ने आदिवासियों के बारे में मनगढ़न्त एवं काफी हद तक नकारात्मक धारणाओं का अरोपण किया है। किन्तु वे भूल गये हैं कि उन्होंने तथाकथित आधुनिकता, प्रगतिशीलता का ये रूप प्राकृति का दोहन करके पाया है, जिसकी वजह से पूरे विश्व के सामने अस्तित्व का संकट उपस्थित है।

आदिवासी समाज का अपना एक गौरवपूर्ण, वीरतापरक इतिहास रहा है। आदिवासियों का जीवन हमेशा से अत्यन्त कढिन रहा है, तमाम झंझावातो का सामना करते हुए भी उन्होंने अपनी अस्मिता, अपनी सांस्कृतिक धरो हरों को सुरक्षित रखा। किन्तु ब्रिटिश सरकार के औपनिवेशिक युग में आदिवासियों के शोषण का आगाज प्रत्यक्ष हो चुका था। ब्रिटिश सरकार की शोषणपरक नीतियों के खिलाफ आदिवासियों के अनेक विद्रोह यथा– 'राजमहल में पहाडियां विद्रोह (1766–80 के दौरान), तिलकामांझी विद्रोह (1784), भील विद्रोह (1857 ई0), कोल विद्रोह (1832), संथाल विद्रोह (1855–57), विरसा आन्दोलन (1895–1900), तानाभगत आन्दोलन (1914)''[61] आदि आन्दोलन उनकी वीरता के, अपने अस्तित्व के प्रति विकर संघर्ष के ऐतिहासिक तथ्य हैं।

आदिवासियों के शोषण के लिए कई कानून भी जिम्मेदार थे, जिनमें 'वन अधिनियम 1865' भी एक था।

---

60 वही,–पृ0– 64

61 शरद यादव, 'समकालीन भारत में विकास की प्रतिक्रिया और सामाजिक आन्दोलन, संपा0– अभय प्रसाद सिंह, पृ0– 249–251

''ब्रिटिश उपनिवेश वादियों ने वन अधिनियम 1865 लागू किया। इसके प्रावधानों के तहत एक ही झटके में वन अधिकारों से आदिवसियों को अलग कर दिया गया और उन्हें वनों पर अतिक्रमी के रूप में देखकर अपराधियों का दर्जा दिया जाने लगा। इस कदम से एक ओर बाहरी तत्वों को प्राकृतिक सम्पदा के शोषण की छूट दे दी गयी। दूसरी ओर आदिवसियों के परम्परागत अधिकार छीन लिये गये। इस दौर में तथाकथित वन–नीति की आड़ में देशी सामंतो के साथ वन्य जीवों का जमकर शिकार किया गया और इन्हीं आखेट गतिविधियों को वीरता की संज्ञा दी जाने लगी।''[62]

आदिवासी ईधन के लिए थोड़ा–बहुत जंगलों का उपयोग करते हैं, या भूख की विवशता के फलस्वरूप जंगली जानवरों का शिकार करते हैं तो उन्हें अपराधी की संबा दी जाती रही है। किन्तु सरकारें एवं बहुराष्ट्रीय कम्पनियां जब विकास के नाम पर पूरे–पूरे जंगलों का सफाया करती हैं तो वह उनकी उपलब्धि बन जाती है। यही शोषणपरक दृष्टिकोण है, जो वर्तमान समय में आदिवासियों को विकास के नाम पर भ्रमित करता है। आजादी की शुरूआत में नये सिरे से राष्ट्र के गठन के समय संवैधानिक दृष्टि से आदिवासी समस्या पर विचार किया गया था। जिसमें प्रधानमंत्री पं0 जवाहरलाल नेहरू की अग्रेंणी भूमिका थी। – श्यामचारण दुवे लिखते हैं–

''आदिवासी समस्या पर राष्ट्रीय सोच नेहरू– एलविन के सिद्धान्त से प्रभावित हुआ। नयी नीति आदिवासियों के प्रति संवेदनशील थी। उसके अन्तर्गत यह प्रयत्न किया गया कि जहॉ तक हो सके, आदिवासी परम्पराओं को छेड़ा न जाये और आदिवासी क्षेत्रों को अति–शासन के दोषों से मुक्त रखा जाये। यह भी प्रयत्न था कि आदिवासियों पर अनावश्यक सुधार न थोपे जायें। प्रतिपूरक विभेदीकरण की नयी नीति विकसित की गयी, जिसके अन्तर्गत आदिवसियों को विधायी संस्थाओं सार्वजनिक संवाओं और शैक्षिक संस्थाओं में आरक्षण दिया गया। राष्ट्रीय बजट में आदिवासी विकास के लिए विशेष प्रावधान किया गया। यह नीति सत् उद्देश्य से

---

[62] हरिराम मीना, 'आदिवासी दुनिया', पृ0– 174

प्ररित थी, उसका क्रियान्वयन जिस तरह से किया, उसके परिणाम संतोषजनक सिद्ध नहीं हुए।''[63]

आदिवासी समाज सदिस्यों से जंगलों में प्रकृति के बीच, प्रकृति के साथ रहता आया है, जो आवश्यकता भर प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग और जीवन भर प्रकृति का संरक्षण करते हैं। कठोर श्रम पर टिके उनके जीवन में जल, जंगल, जमीन का बहुत महत्व है। उनकी आवश्यकताएँ बहुत सीमित हैं, इसलिए वे किसी और की सीमा में, किसी और के जीवन में अनाधिकृत प्रवेश नहीं करते। आवयकताएँ तो गैर–आदिवासी समाज की असीमित है, जिसका खामियार्जा आदिवासी सदियों से भुगतते चले आ रहें हैं। तथाकथित सभ्य समाज की असीमित मांगों ने, भौतिकतावादी विकास की अंधी दौड़ ने आदिवासियों के सामने अस्तित्व का संकट उपस्थित कर दिया है। उनके जल, जंगल, जमीन, भाषा, संस्कृति, समाज, जीवन पर हो रहे अतिकक्रमण ने उनके सामने विस्थापन की समस्यामूलक स्थिति पैदा कर दी है।

आदिवासी–हितों की प्रमुख पैरोकार रमाणिका गुप्ता इस समस्या की बहुत सटीक पहचान करते हुए लिखती है– ''आदिासियों के विकास, उनकी भाषा–संस्कृति तथा उनकी पहचान की रक्षा के केन्द्र में मुख्यतः जमीन है। झारखण्ड हो या छत्तीसगढ़ अथवा अन्य आदिवासी बहल प्रदेश, वहॉ की गरीब जनता के लिए भूमि का प्रश्न महत्वपूर्ण है। ..... दरअसल आदिवासियों की त्रासदी का मुख्य कारण है– उनका पूर्वजों के गॉवों से विस्थापन और जमीन तथा जंगलों के परम्परागत स्वामित्व से वंचित किया जाना।''[64]

अपनी जडों से उखाड़े जाने की शोषणपरक परिस्थितियों ने आदिवासियों को भाषा, संस्कृति से लेकर उनके गौरवमय इतिहास तक से विस्थापित करने का षड़यन्त्र रचा है। जिसकी वजह से आदिवासियों के सामने अपनी पहचान, अपने अस्तित्व का संकट उपस्थित हो गया है।

---

63 श्यामाचरण दुबे, 'सयम और संस्कृति,' पृ0– 67

64 आदिवासी विकास से विस्थापन, संपा0–रमणिका गुप्ता, पृ0– 10–11

इन शोषणपरक परिस्थितियों के प्रति आदिवासी समाज में जो चेतना और जागरूकता आई है, एवं जो आन्दोलन, विरोध हो रहें हैं, तथा आदिवासी साहित्य में इनकी जो अनुगूँजें सुनाई दे रही हैं, उसे आदिवासी अस्मिता विमर्श के नाम से अभिचिह्नित किया जा रहा है। आदिवासी अस्मिता विमर्श साहित्यिक जगत मे नवीन विमर्श के रूप में सामने आया है किन्तु इसकी जड़ें अतीत से लेकर वर्तमान तक फैली हैं।

हरिराम मीणा उचित ही लिखते हैं कि– ''आदिवासी जन की अस्मिता के सवाल सम्पूर्ण मानवता के मौलिक सरोंकारों से जुड़े हुए दिखाई देंगे। जहॉ से चलकर सभ्यता, संस्कृति व विज्ञान ने जितनी प्रगति की है। उसके पश्चात् परिस्थितिकीय वैश्विक संकट तक पहॅूचने के बाद उस संकट का समाधान उन्हें ही खोजना होगा जहॉ से मनुष्य ने विकास की अपनी यात्रा आरम्भ की है। और यह समाधान मौलिक सरोकारों को ध्यान में रखकर ही संभव होगा।''[65]

आज पारिस्थितिकी और पर्यावरण की जो संकटपूर्ण स्थिति है, उसने मानव समाज के लिए केवल भोजन–पानी का ही संकट नहीं उत्पन्न किया है, बल्कि आज पूरी मानव प्रजाति के अस्तित्व पर ही संकट है। इन सबका कारण स्वयं मुनष्य ही है। इनसे निपटने का उपाय भी मनुष्य के ही पास है। एक दिन संसार भर के सभ्य लोगों को आदिवासियों की जीवन–शैली से सीख लेते हुए 'प्रकृति की ओर लौटो' का नारा देना पड़ेगा।

3. अस्मिता और वर्चस्वशीलता

Hegemony 'हेजेमनी' (हिन्दी–वर्चस्व) यूनानी शब्द हेजेमॅन से बना है जिसका अर्थ होता है– नेता, मार्ग दर्शक या शासक।'[66] 'हेजेमनी' (वर्चस्व) शब्द को प्रचलित करने का श्रेय इटली के महान विचारक एंतानियों ग्रीम्शी को है।

---

65 हरिराम मीणा, आदिवासी दुनिया

66 समाज विज्ञान विश्वकोश (खण्ड–1), सं0 : अभय कुमार दुबे, पृष्ठः 1708

इनसे पहले हेजेमनी का प्रयोग किसी महासंघ के घटक राज्यों पर किसी एक राज्य के प्रभुत्व के लिए किया जाता था। लेकिन ग्राम्शी के बाद अब– 'वर्चस्व का तात्पर्य प्रभुत्व की उस संरचना से है जो सहमति के आधार पर लागू की जाती है या जो जोर–जबरदस्ती के बिना नफीस किस्म के तौर–तरीकों (आर्थिक सत्ता, मीडिया, शिक्षा, प्रचार और लोकोंपकारी नीतियों) को इस्तेमाल करके समाज में अपने लिए सहमति कायम कर लेती है।''[67] ग्राम्शी के अनुसार– किसी शासक वर्ग का वर्चस्व तब स्थापित होता है ज बवह बाकी सभी वर्गो को यह यकीन दिला देता है कि उसी के हित में सभी का हित है।'[68]

अस्मिता जिसके प्रतिरोध में विकसित होती है है (अपने उग्ररूप में) वह वर्चस्वशशील है। वर्चस्वशाली शक्तियां अपने से कमजोर जनता पर अपना प्रभुत्व बनाये रखने के लिए मीठी कटार का इस्तमाल करती हैं, कभी हितैषी बनकर, कभी धर्म का डर दिखाकर या किसी अन्य बहाने से।

दिलितों पर सवर्णों अपना वर्चस्व दलितों के मन में जन्मना नीच होने की भावना भरकर, ईश्वरीय था अघौकिक शक्ति द्वारा सवर्णों को विशेषाधिकार दिये जाने की कहानी गढकर करते हैं। इन तथाकथित नफीस किस्म के उपायों से भी अगर बात नही बन पाती तो फिर अपने उग्ररूप में बल का प्रयोग किया जाता है।

यही रवैया पुरुषवादियों का स्त्रियों के प्रति है। पुरूष समाज स्त्रियों पर वर्चस्व स्थापित करने के लिए उन्हें जन्मजात कमजोर, अबला, कोमल जैसे साँचों में फिट कर चुका है साथ ही स्त्रियों को अपने उच्चतर गुणों को प्राप्त करने के लिए एक भ्रामक आदर्श की स्थापना करता है जिसके लिए स्त्रियों को सतत् बाध्य किया जाता है। स्त्रियां जन्म के साथ ही संस्कारशील होने के लिए प्रयासरत हो जाती है, या फिर उन्हें जबरदस्ती संस्कारों के तिलिस्म में ढकेला जाता है। ये वर्चस्व के नफीस तौर–तरीके हैं, जिसमें बिना ज्यादा जोर–जबरदस्ती के एक कौम सदियों तक खुशी–खुशी गुलामी को ढोने के लिए तैयार की जाती है। इन

---

67 वही, पृष्ठ : 1708

68 वही, पृष्ठ : 1708

तरीकों को पीढ़ी दर पीढ़ी संस्कार के तौर पर, धर्म पाप–पुण्य भय आदि के द्वारा हस्तांतरित किया जाता है।

रेमंड विलियम के अनुसार– ''हेजेमनी (वर्चस्व) कोई ऐसी चीज नही जिसे एक बार हासिल कर लेने बाद बेफिक्र हुआ जा सकता है। यह निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है। चुनौती देती ताकतों से क्रिया प्रतिक्रिया करते हुए शासक वर्ग को अपनी नीतियों का नवीनीकरण करते रहना पड़ता है।''[69]

मार्क्सवाद के परिप्रेक्ष्य में हेजेमनी (वर्चस्व) पर विचार करते हुए ग्राम्शी मानते हैं कि – ''यदि सर्वहारा वर्ग–विहीन समाज का निर्माण करना चाहता है तो उसे बूर्ज्वा वर्चस्व के बरअक्स अपने वर्चस्व की रचना करनी होगी। तमाम शोषितों एवं वंचितों को साथ लेकर उसी भॉति ऐतिहासिक ब्लॉक बड़ा करना होगा जिस भाँति बूर्ज्वा वर्ग ने कर रखा है। इस पर कोई राय नही बन पायी है कि सर्वहारा को पहले क्या करना चाहिए। वह सत्ता पर काबिज होने के उपरान्त वैकल्पिक वर्चस्व की रचना करे अथवा उससे पहेले।''[70]

अस्मिताओं के परिप्रेक्ष्य में वर्चस्व की भूमिका थोडी अलग है। वर्चस्वशाली शक्तियां चाहती है कि उनके बरअक्स कोई नयी अस्मिता उन्हें चुनौती न दे पाये, लेकिन अस्मिताओं को दबाने के लिए वे ज्यादा जोर आजमाइश करने में हिचकती है, क्योंकि अस्मितायें जिसके प्रतिरोध में खडी हुई हैं, अगर वहां उन्हें दबाया जायेगा तो वे दुगुनी शक्ति के साथ विरोध करेगी। अस्मिता की चेतना अगर एक बार प्रस्फुटित हो जाये तो फिर इसे खत्म करना मुश्किल होता है। ऐसा नहीं है कि अस्मिता हमेशा वर्चस्व के विरोध में ही प्रस्पुरित होती है वह स्वयं चेतना सम्पन्न होकर भी उदित हो सकती है, और वर्चस्व के विरोध में भी। जिस प्रकार ''वितृसत्तात्मक व्यवस्था के पास स्त्री और पुरूष को सवर्ण और दलित को नापने के प्रतिमान अलग–अलग हैं, अतः नैतिकता और दायित्व, अधिकार और स्वतंत्रता

---

69 वही, पृष्ठ : 1710

70 वही, पृष्ठ : 1710

की परिभाषाएं स्थिति के अनुसार बदलने लगती है।''[71] उसी प्रकार वर्चस्व और अस्मिता भी है परिस्थितियों के अनुसार इनके मापदण्ड लगातार बदलते रहते हैं।

ऐसा नही है कि अस्मिताओं का उदय वर्चस्वशाली सत्ता का हस्तांतरण है या ये अस्मिताये अपने विकास में वर्चस्वशाली संस्थान में तब्दील हो जायेगी जैसा कि ग्राम्शी मार्क्सवाद के परिप्रेक्ष्य में सर्वहारा वर्ग को व्याख्यापित करते हैं। स्त्री अस्मिता विमर्श के लिए हमें रोहिणी अग्रवाल के कथन को देखना चाहिए, जहां वो स्पष्ट रूप से स्त्री विमर्श को किसी सत्ता हस्तांतरण में रूपान्तरित होने की संभावना से इंकार करती है– ''स्त्री विमर्श का अर्थ स्त्री के पक्ष में खडे होकर लैंगिक विभाजन को मजबूत करना नही है, लैंगिक विभाजनों से आक्रांत मनुष्य की मुक्ति की साझा लडाई है– सृजन की महागाथा। मानव मुक्ति के सर्जनात्मक संकल्प से स्त्री–मुक्ति को किन्ही अन्य अर्थों में गॅूथने–बूझने वाले लाल बुझक्कड़ों की बात मैं नही जानती, लेकिन मेरे तई स्त्री–विमर्श अपने भीतर 'मनुष्य' को खोजने और प्रतिष्ठित करने की 'लगन' का नाम है जिसे सिर्फ आस्था (संवेदनात्मक विवेक) के सहारे पाया जा सकता है। स्त्री विमर्श को राजनीतिक प्रतिबद्धता का अखाडा बनाने वाली प्राथमिकताएं/विवशताएं अपनी स्वार्थपूर्ण दुर्बलताओं का ढोल ही पीटती हैं– स्त्री को अधिक स्त्री (हीन और भोग्य) और पुरूष को और अधिक पुरूष (वर्चस्ववादी और उच्छंखल) बनाकर ।''[72]

पितृसत्ता स्त्रियों पर अपने वर्चस्व के लिए जिन हथियारों का इस्तेमाल करती है उनमें विवाह, परिवार, धर्म, न्याय, मीडिया आदि महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ये ताकतें इतनी नफासत से पूरे स्त्री समुदाय का ब्रेनवाश' करती है सामने वाले को अपने प्रति किये जा रहे शोषण का प्रत्यक्षतः आभास नही हो पाता, या फिर आभास होता भी है तो उसकी पूरी एक लम्बी प्रक्रिया होती है और उसमें समय लगता है। ''समाज में स्त्रियों पर पुरूष का वर्चस्व किस प्रकार काम करता है इसको समझने के लिए पैतृकवाद (Dominant) समूह और अधीन (Subordinate) समूह (जिसे कमजोर समझा जाता है) के बीच संबंध को

---

[71] रोहिणी अग्रवाल, स्त्री लेखन : स्वप्न और संघर्ष, पृष्ठः 35

[72] रोहिनी अग्रवाल, भूमिका वही, पृ0–07

पैतृकवाद तब कहा जाता है। जब वर्चस्व को परस्पर दायित्वों और एक दूसरे के अधिकारों के माध्यम से मंद (Mitigate) कर दिया जाता है।... जब स्त्री और पुरूष स्त्रियों की अधीनता की असस्था को प्राकृतिक' मानने लगते हैं और परिणाम स्वरूप अधीनता की स्थितियां दिखना बंद कर देती है तभी पितृसत्ता की जड़े गहरे पैठ जाती हैं और वह एक वास्तविक और एक विचारधारा के रूप में स्थापित हो जाती है।''[73]

यहां पर वर्चस्व विचारधारा का पयार्य नहीं बनता वरन विचारधारात्मक होना उसका एक पहलू बन जाता है, अपने मूल रूप में वह वहीं रहता है। वर्चस्व बदलती परिस्थितियों या जरूरत के मुताबिक किसी भी रूप में परिवर्तित हो सकता है। जैसा कि ग्राम्शी मानते हैं– 'हेजेमनी विचारधारा नहीं है। विचारधारा जबरन थोपी जा सकती है लेकिन हेजेमनी नहीं/विचारधारात्मक होना इसका एक पहलू है जो जरूरत पड़ने पर आर्थिक रूप भी ले सकता है और राजनीतिक भी।''[74]

स्त्री अस्मिता के उदाहरण से वर्चस्व की प्रक्रिया, स्थापना आदि को समझने के उपरान्त प्रश्न उठता है कि इन अस्मिताओं का विकसित रूप क्या वर्चस्व मे तब्दील हो सकता है, क्या ये अस्मिताएं वर्चस्व का पूर्णरूप हैं। इस सारे प्रश्नो का जबाव बहुत सख्ती से नही दिया जा सकता है।

अपनी अस्मिता के लिए विभिन्न समुदायों के संघर्ष और उनकी आंशिक सफलता के बावजूद यह दावा नही किया जा सकता कि इन संघर्षशील समुदायों का वर्चस्व स्थापित हो रहा है या बढ़ रहा है। ऐसी कोई संभावना भी नही है। इसके विपरीत, जब अस्मिता की चेतना नहीं थी, तब इनके विपरीत ध्रुवों का वर्चस्व था। शोषण और वर्चस्व के खिलाफ खडी हुई अस्मिताओं में पुनः वर्चस्व में, तब्दील होने की संभावना नही बन पायेगी, अगर वो चाहें तो भी नहीं; क्योंकि सामंतवाद, राजतंत्र और पुरूषवाद (पितृसत्ता) जैसी परिस्थितियां किसी समुदाय

---

[73] उमा चक्रवर्ती, नारीवादी राजनीतिः संघर्ष एवं मुददे, सं0ः साधना आर्य, निवेदिता मेनन, जिनी लोकनीता, पृष्ठ : 3–4

[74] समाज विज्ञान विश्व कोश (खण्ड–1), सं0 अभय कुमार दुबे, पृ0–1709

की वर्चस्वशीलता के अनुकूल थी–, जब अस्मिता की भावना का उदय नहीं हुआ। आज स्थितियां इसके विपरीत हैं। व्यवस्थाओं का लोकतंत्रीकरण हुआ है। लोग अपनी पहचान के प्रति जागरूक हैं। ऐसे में यह भय, आरोप या संभावना भ्रामक है कि अस्मिता विमर्श की परिणति सम्बद्ध अस्मिता के पक्षकारों के वर्चस्व में होगी। यानि वर्चस्व एक समुदाय से हस्तांरित होकर दूसरे समुदाय के अधिकार क्षेत्र में चला जायेगा। वर्चस्वशाली ताकतें जो पहले से अधिकार चेतना सम्पन्न हैं वे भी इन अस्मिता विमर्शों का सतत् आक्षेप पूर्ण मूल्यांकन करती रहेगी, अतः सत्ता हस्तांतरण जैसी, भ्रामक संभावना बेबुनियाद है। दूसरे सामाजिक विकास का प्रत्येक चरण पूर्व की अपेक्षा अधिक विकसित होता जाता है अतः अस्मिताओं का संघर्ष के बाद पुनः वर्चस्व की सत्ता में परिवर्तित होकर उसकी पुनरावृत्ति संभव नहीं है।

समता–स्वतंत्रता बंधुता की आकांक्षा से भरे लोकतंत्रीकृत समाज में ऐसी किसी संभावना की अनुमान, भय या मिथ्या आरोप वास्तव में अस्मिता–विमर्श और उसके समर्थकों के विरूद्ध एक अन्य प्रकार का षडयंत्र ही है, ताकि इन्हें हराया जा सके। समाज के वर्चस्वशील वर्ग का यह एक और नया हथियार है, जिससे बचाव करना, जिसे बेनकाब न करना यथास्थितिवाद को पालना, पोसना और दूसरा मौका देना साबित होगा। अस्मिता विमर्श के तमाम संघर्षों, घटकों के मध्य इस सच्चाई से रूबरू होने की जरूरत है।

हां इतना जरूर होना चाहिए कि इन विमर्शों की आखें खुली रहें, इन्हें इनके किसी भी अतिवादी रूप को अख्यितर करने के सतर्क रहने की जरूरत है, इन्हें अपनी दृष्टि को हमेशा चौकस और पैना रघने की जरूरत है, क्योंकि सेंध और प्रहार किसी भी दिशा से हो सकता है'/ स्वयं का बराबरी का तुला पर रखकर संतुलित करने की जरूरत है, आगे की राह तभी सूझेगी। गोविन्द प्रसाद विमर्शों का संघर्ष और वर्चस्व की राजनीतिक मंशा दोनों को पहचानते हुए लिखते हैं–

''विखंडन ने पार्थक्य को बढ़ावा दिया या कि केन्द्रीयता ने समग्रता के नाम पर जिन उपेक्षितों पर परदा डाला हुआ था, विखंडन ने पाठ के माध्यम से उस परदे को हटाकर दमित, वंचित और दवे–कुचलों की असलियत उघाड़ दी। यहाँ तक एक सकारात्मक सोच का परिणाम है। लेकिन जहां तक राजनीति और भारतीय राजनीति का प्रश्न है उसने पिड़ित, शोषित, वंचित और उपेक्षित आदि के रूप में अस्मिता जागरण के नाम पर सत्ता पर वर्चस्व बनाए रखने और काबिज रहने के लिए एक राजनीतिक अस्त्र के रूप में उसका उपयोग किया और कर रही है। विमर्श इन दिनों शक्ति वर्चस्व और इससे भी दो कदम आगे जाकर आतंक और बर्बरता की गूँज से मुक्त नहीं है। अस्मिता विमर्श के नाम पर जाति, धर्म, सम्प्रदाय, क्षेत्र से भी आगे लैंगिक आधार पर राजनैतिक सशक्तिकरण हो रहा है। दलित और स्त्री के नाम पर जो विमर्श का दौर चल रहा है। संगठित दलीय राजनीति के संदर्भ में वह सोने की डली का दिखावा भर है और भविष्य में आखिरकार मखमल में लपेटकर जूती मारने जैसा ही साबित होगा (यद्यापि इसका अर्थ यह नहीं कि ये विमर्श बैमानी हैं और इनसे कुछ हासिल नही होगा। लेकिन मैं यहां राजनीतिक परिप्रेक्ष्य की बात कर रहा हूँ जिससे आगाह रहने की जरूरत है)– सब्जबाग दिखाने से ज्यादा कुछ नही है।''[75]

गोविन्द प्रसाद विमर्शों में निहित जिस 'आतंक और बर्बरता' की बात कर रहे हैं, दरअसल वह संघर्षों स`उपजी चिंगारियों की चमक भर हैं। जो अपनी भूमिका निभाकर बुझ जाएंगी, उन्हें 'आग' समझकर डरने की जरूरत नहीं हैं। हर व्यापक और महत्वपूर्ण आन्दोलन में आंशिक दुर्बलता और नकारात्मकता की संभावना होती है, लेकिन केवल इसी आधार पर उन्हें खारिज नहीं किया जा सकता। विमर्शों की स्वरूपगत आयाम चाहे राजनीतिक हो या सामाजिक–संस्कृतिक आर्थिाक, इनके भूल में सभ्यता का ही आदर्श है। उन आदर्शों तक पहुँचने के लिए मार्ग की बाधाओं को दूर करने की जरूरत है न कि

---

[75] गोविन्द प्रसाद 'आलाप और अंतरंग'– पृ0– 71–72

रास्ता छोड़ देने की। पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर विमर्शों की कमजोरियों को दूर करने के पश्चात निश्चय ही समता मूलक समाज की स्थापना में सहायता मिलेगी। मंजिल दूर है, असंभव नहीं।

विकास का यह सिद्धान्त है कि वह अग्रगामी होता है, यही बात अस्मिता विमर्शों के मामले में भी लागू होती है, अतः उम्मीद कर सकते हैं कि अस्मिता विमर्श वर्चस्वशीलता के बदले समता, स्वतंत्रता, बंधुता और शांतिपूर्ण समाज की स्थापना में सहायक होगा।

दूसरा अध्याय

प्रमुख आत्मकथाकार एवं आलोचकों की स्त्री अस्मिता संबंधी दृष्टि

1. देह पर अधिकार बनाम यौन स्वतंत्रता

2. स्वावलंबन बनाम अर्थतंत्र पर एकाधिकार

3. उदात्त प्रेम बनाम दाम्पत्येतर संबंध

4. व्यक्ति–स्वातंत्र्य बनाम घर–परिवार से मुक्ति

दूसरा अध्याय

प्रमुख आत्मकथाकार एवं आलोचकों की स्त्री अस्मिता संबंधी दृष्टि

वैचारिक विनिमय की गुंजाइश किसी भी विमर्श में उत्तरोत्तर विकास की संभावना बनाये रखती है। विमर्शों के किसी भी मुद्दे को लेकर पक्ष–विपक्ष की दृष्टि से पड़ताल अस्मिता आन्दोलन के विकास में महत्वपूर्ण आलोचनात्मक भूमिका को रेखांकित करता है।

अब तक के सफर में स्त्री विमर्श अपना शुरुआती स्वरूप ग्रहण कर चुका है। अपने विभिन्न मुद्दों, माँगों को वह सामाजिक प्रतिपक्ष के सामने रख भी चुका है। ऐसे में स्त्री विमर्श के विभिन्न मुद्दे, माँगें क्या हैं ?, इन पर विभिन्न आलोचकों, रचनाकारों आदि की दृष्टि क्या कहती है इसकी पड़ताल स्त्री विमर्श को पूरे व्यापक परिप्रेक्ष्य में जानने में सहायता करेगी। किसी भी विमर्श के एकांगी स्वरूप में उसके एक तरफा और अतिवादी होने का खतरा बना रहता है, लेकिन विभिन्न दृष्टिकोणों के आलोक में स्त्री विमर्श को परखना, उसके मुद्दों को जानना 'सार–सार गहने और थोथा उड़ाने' की प्रक्रिया में सहायक होगा। स्त्री की देह, उसकी स्वतंत्रता उसका यौनिक शोषण, शिक्षा, आर्थिक उपार्जन स्त्री के जीवन को कैसे और कहां तक प्रभावित करते हैं, बेहतर जीवन और संतुलित समाज के लिए यह जानना बेहद ज़रूरी है।

1. देह पर अधिकार बनाम यौन स्वतंत्रता

''हमारे सारे परम्परागत सोच में नारी को दो हिस्सों में बांट दिया गया है। कमर से ऊपर की नारी और कमर से नीचे की औरत। हम पुरुष को उसकी सम्पूर्णता में देखते हैं, उसकी कमियों और कमजोरियों के साथ उसका मूल्यांकन करते हैं। नारी को हम सम्पूर्णता में नही देख पाते। कमर से ऊपर की नारी महिमामयी है, करुणा–भरी है, सुन्दरता और शील की देवी है, वह कविता है,

संगीत है, अध्यात्म है और अमूर्त है। कमर से नीचे वह काम–कन्दरा है, कुत्सित और अश्लील है, ध्वंसकारिणी है, राक्षसी है और सब मिलाकर नरक है।''[1]

कमर से नीचे उतरी नारी नरक का द्वार है। कमर से नीचे के हिस्से की बात करती नारी, अपने शरीर के आधे हिस्से की प्रतिष्ठा करती नारी, अपना अधिकार माँगती नारी कुलच्छनी है, कुलटा है, पतिता है, वैश्या है। यह सोच सदियों से इस पितृसत्तात्मक समाज में व्याप्त है, इसमें नया कुछ नहीं है, नया तो ये है कि अब नारी अपनी देह को अपना समझने लगी है न कि पुरुष के वीर्य रूपी बीज को बोने वाली खेत। यह कैसी विडम्बना है, पुरुष समाज का कैसा विरोधाभास है कि वह स्त्री शरीर में महिमामंडन मातृत्व का और चिंतन स्त्री के रमणित्व का करता है, स्त्री का कामिनी रूप ही उसकी अभिलाषा है। वह चाहता है कि स्त्री जीवन भर माँ बनने के लिए जिये और वह माँ बनाने के बहाने जीवन भर उसका उच्श्रृंखल उपभोग कर सके। यानी पुरुष लाठी भी मारे और स्त्री को दर्द भी न महसूस हो ।

यही है पितृसत्तात्मक समाज की स्त्रियों के प्रति कुत्सित विचारधारा। ''सामाजिक आचार–संहिताओं यानी मनु और और याज्ञवल्वय स्मृतियों से लेकर व्यक्तिगत काम सूत्र तक औरत को बांधने और जीतने की कलाएं है। क्या यह आकस्मिक ही है कि औरत को जीतने या उसे अपना गुलाम बनाने के लिए अनगिनत वशीकरण, साधनाएं, सिद्धियाँ, औषधि, आसन हैं, पौरुष और काम संवर्धन के लिए दुनियां भर के कुश्ते और दवाइयाँ हैं। एक भी नुस्खा औरत की कामशक्ति बढ़ाने के लिए नहीं है, न उसके लिए कोई कामसूत्र है। बल्कि यहां ऐसी गोपनीयता और निजता बरती गयी है कि ये सारे गुर या मन्त्र सिर्फ पुरुषों के लिए हैं, औरत को इसका पता भी नहीं लगना चाहिए।''[2]

स्त्री जीवन की अनेक विडम्बनाएँ हैं,उन विडम्बनाओं में से एक यह है कि पूरी दुनिया में स्त्री अपनी देह से पहचानी जाती है लेकिन जब स्त्री स्वयं अपनी

---

1 राजेन्द्र यादव, आदमी की निगाह में औरत, पृष्ठ : 4

2 वही पृष्ठ : 15

देह को पहचानने लगती है तो अनेक भृकुटियाँ उसे अपनी ओर तनी मिलती हैं। अपनी देह पर बात करना स्त्री की उद्दंडता है, समाज में भी और साहित्य में भी। राजेन्द्र यादव स्त्री देह के बारे में ठीक ही लिखते हैं कि– ''देह, स्त्री की एकमात्र पहचान के रूप में उसका गुण भी है और गाली भी। जब तक वह पुरुष की इच्छा और वासना के नियंत्रण में है, वह सौन्दर्य है, उद्दीपन है और ऐसा अवयव–समूह है जो वांछनीय है, अगर उससे निरपेक्ष और उसके नियंत्रण से बाहर है तो भर्त्सनीय और दंडनीय है। हमारी भाषा की सारी अश्लील गालियाँ या तो पुरुष की असमर्थता, अक्षमता की घोषणाएं हैं या फिर काम–दीवानी स्त्री के द्वारा अपने शरीर के 'दुरूपयोग' की सामाजिक भर्त्सनाएं या वासना के आवेश में नैतिक मर्यादाओं के उल्लंघनों पर लांछन बाप, भाई या बेटों के साथ संभोग सबसे बड़ी गाली है या फिर अपने पति से ही संतुष्ट न रहकर अनेक पुरुषों से वासनातुष्टि–अजीब विरोधाभास है : पुरुष औरत को सिर्फ शरीर या उसके कुछ अंगों को ही उसकी सम्पूर्ण पहचान के रूप में देखने की जिद में रहना चाहता है, लेकिन जब औरत स्वयं अपने को इस रूप में देखने या मानने लगती है तो बौखला उठता है– स्त्री शरीर रहे, लेकिन अपने आपको सिर्फ उतना ही शरीर माने जितने की मुझे जरूरत है। उससे अधिक मानना उसकी 'उच्छृंखलता' और 'अमर्यादा' है।''[3]

स्त्री–विमर्श इसी पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण से दो–दो हाथ करता है। स्त्री के नख–शिख वर्णन से पुराने से लेकर आधुनिक साहित्य तक भरा पडा है, लेकिन स्त्री जब अपने सम्पूर्ण अस्तित्व की बात करती है, अपने शरीर की बात करती है, देह की मौलिक जरूरत की बात करती है तो पूरा स्त्री विमर्श देह–विमर्श में बदल जाता है। स्त्री अपनी देह को कैसे देखती है, अपनी देह को शोषण के किन आयामों से मुक्त करना चाहती है, इसे बिना समझें, स्त्री लेखन को नकारा जाता है नैतिकता के नाम पर स्त्री को सिर्फ देह रूप में देखने से स्त्री पुरुष सम्बधों को सिर्फ दैहिक जरूरत मानने से पितृसत्ता यह भूल जाती है कि यह बहुत सतही और सरलीकृत विचारधारा है। स्त्री सिर्फ देह होगी तो स्त्री–पुरुष सम्बन्ध सिर्फ

---

[3] वही, पृष्ठ : 16

दैहिक होंगे, इसके साथ ही समाज के अन्य, सम्बन्ध गौण हो जायेंगें क्योंकि अन्य सामाजिक सम्बन्ध भी परोक्ष रूप से इन्हीं सम्बन्ध से बनते है, और संचालित होते हैं। इसलिए स्त्री अपनी देह पर अधिकार चाहती है, अपनी देह के बारे में बोलने का अधिकार चाहती है, देह की अपनी मांग को सबके सामने रखने का अधिकार चाहती है, बिना किसी अपराध बोध के। क्योंकि स्त्री अब सिर्फ स्त्री नहीं रही, अब वह मानवी बनने की ओर अग्रसर है, अब वह बिना किसी लाग लपेट या शर्म–शंकोच के अपने बारे में बात करना चाहती है, वह पुरुषों के 'कामिनी' वाले खोल से बाहर निकल चुकी है। स्त्री को स्त्री बनाये रखने की साजिशों को समझते हुए रोहिणी अग्रवाल लिखती है– ''स्त्री को 'स्त्री' बनाये रखने की प्रगतिशील साजिशों में स्त्री मुक्ति के एजेंडें को गुमराह करने और स्त्री विमर्श को 'देह विमर्श' में रिड्यूस करने की कोशिशें निहित हैं। दुर्भाग्यवश हिन्दी आलोचना 'आरोप' लगाकर स्त्री–लेखन के महत्व को खारिज करती आई है या उसे घर सम्बन्धों के संकुचित दायरे से बाहर निकलकर बृहत्तर मुद्दों से जुडनें की 'सीख' देती रही है। प्रकारान्तर से दोनों ही स्थितियां स्त्री–लेखन के बुनियादी सरोकार से मुँह चुराने की कोशिशें हैं।''[4]

शोषित तबका जब भी शोषण से मुक्ति की बात करता है, तथाकथित उदार वर्ग उसे संकीण दायरे से बाहर निकलकर आत्मविस्तार की ही नसीहत देता है। स्त्री अस्मिता विमर्श के संदर्भ में यही दृष्टिकोण आलोचकों का भी है। जो स्वयं को आदर्शवादी दर्शाते हैं, वो स्त्री को आदर्श गृहणी बनने की सीख देते हैं और जो स्वयं को उदारवादी दर्शाते हैं वो उसे अपने संवेदना स्त्री मात्र नहीं बल्कि संपूर्ण मानवता तक पसारने की सीख देने लगते हैं। जबकि यही पुरुष उसकी दासता का कारण है।

''स्त्री की अधीनता की स्थिति का मुख्य कारण पितृसत्ता द्वारा यौनिकता की राजनीति रही है। यह सच है कि पुरुष प्रवृत्ति मात्र पुरुष निर्मित समाज व्यवस्था में स्त्री की यौन–कामना को तुष्ट करने तक सीमित रही है। स्त्री के सुख का यहां कोई महत्व नही रहा है। नारीवाद इस पुरुष केन्द्रिय मानसिकता का

[4] रोहिणी अग्रवाल, स्त्री लेखन स्वप्न संघर्ष, पृष्ठ : 6

विरोध करता है। नारीवाद का मानना है कि पुरुष केन्द्रिय यौनिकता नारी को गुलाम बनाती है।''[5]

यौनिकता के मामले में प्रभा चेतान के मानना है कि यौन–सुख स्त्री और पुरुष दोनों का समान होना चाहिए, न कि केवल पुरुष का। यदि ऐसा नहीं हो सकता तो स्त्री–पुरुष संसर्ग की आवश्यकता ही क्यों हो।[6]

स्त्री की मुक्ति का संघर्ष बहुत बडा है। स्त्री ने कहीं घोषित नहीं किया है कि दैहिक रूप से विचरने की उसे उन्मुक्तता चाहिए। यदि स्त्री लेखन में कहीं यह चिंतन आता है तो वह उसकी परिस्थितिकीय दृष्टि है, लेकिन स्त्री अपनी देह को किसी और की सम्पत्ति मानने से इंकार करती है। स्त्री ''अपनी कातरता को कर्मठता में परिवर्तित कर वह जिस रूप में उभरी है, उस के लिए एक ही बिंब आखें के आगे कौंधता है– बहेलिए के जाल को उड़ाए चले जाती चिडियों का समूह। पुरुष ठगा–सा बहेलिया– किं कर्त्तव्य विमूढ़! पराजित! अवसन्न! हतवाक! न छाती कूट–कूट स्यापा नहीं कर सकता– पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने इसे औरताना खिताब दिया है। झोंटा पकड़ औरतों को उनकी औकात नहीं बता सकता– डेमोक्रेटिक सोसाइटी के मानवाधिकार–रक्षक अभिजात्य की शीलन मुद्रा इससे ओछी पड़ती है। अतः फिर वही रणनीति– लक्ष्मन रेखाओं का विस्तार, संस्कृति की गुहार तभी न, स्त्री–विमर्श स्त्री–अस्मिता की मानवीय पहचान और सह–अस्तित्वपरक समाज के पुनः निर्माण का संवेदनात्मक अभियान न रहकर स्त्री–पुरुष का अघोषित युद्ध बन जाता है जिसके एक ओर है उत्तरदायित्वों से पिसा बेचारा पुरुष और दूसरी तरफ नैतिकता की चिंदियाँ उड़ाती अभिमानिनी–उच्श्रृंखल स्त्री। द्वेष और दूरियां ! वर्चस्व और दमन की पैंतरेबाजी।''[7]

हालांकि इस अंधेरे के बावजूद रोहिणी अग्रवाल मानती हैं कि परिदृश्य बहुत ज्यादा भयावह नहीं है, कुछ सकारात्मकता अभी बची हुई है, बेहतर पुनर्निर्माण के लिए वैचारिक लड़ाइयां संतुलित ढंग से लड़ी जा रही हैं।

---

[5] श्रीधरम,– स्त्री संघर्ष और सृजन पृष्ठ –69

[6] प्रभा खेतान 'उपनिवेश में स्त्री': मुक्ति कामना की दस वार्ताएँ, पृ0–149

[7] रोहिणी अग्रवाल स्त्री लेखनः स्वप्न और संघर्ष, पृ0– 244

देह पर अधिकार की वकालत करती स्त्री अपनी देह को अर्थिक उपार्जन हेतु 'ब्राड' में तब्दील करती नजर आती है, और इसमें ऐसा नहीं है कि सारी परिस्थितियां, सारा लाभ स्त्री के हिस्से आया है। बल्कि वहां भी स्त्री छली गई है, ''देह की क्रान्ति ने स्त्री को सारे विकल्प उसके पक्ष में ही नहीं सौंपे हैं। देह के स्वामित्व और देह की छवि से पैसा कमाने की स्त्री की आकांक्षा को बाजार ने अपने हित में भुनाया है। स्त्री की इस स्वतंत्रता को सैक्स उद्योग ने हाथों–हाथ लपक लिया और स्त्री फिर खेल बन गई।''[8]

इस बाजार ने स्त्री को मुक्त करने की बजाय उसे 'सैक्स डॉल' में परिवर्तित किया हैं, उसे यौनिक क्रिया में आक्रामकता के साथ पेश कर मनु के उसी सदियों पुराने राग को पुनरावतार में प्रस्तुत करता है। ''मनु की दृष्टि में तो स्त्रियां पुरुषों में न तो रूप का विचार करती हैं और न उसकी आयु की परवाह करती हैं, सुरूप हो अथवा कुरूप, जैसा भी पुरुष मिल जाए उसी के साथ भोगरत हो जाती है।''[9]

वास्तव में इस तरह के जितने सारे दुर्गुण पुरुषों में व्याप्त हैं उससे अपने सभी दुर्गणों को, व्यवसनों को स्त्रियों पर आरोपित कर दिया है। बहुत ही चतुराई और गहरी साजिश के साथ।

''पितृसत्ता स्त्री को निम्पोमेनिक ही समझती है।..... बाजार साहित्य को अपने मुनाफे के लिए स्त्री को निम्प (ग्रीक भाषा में अप्सरा) या भारतीय परम्परा में कामातुर अप्सरा में बदल देना चाहता है। रचनाकार तैयार, संपादक उत्सुक, प्रकाशक बेचने को तत्पर, पुरुष पाठक लपकने को तैयार। इन 'साहसी' पुरुष लेखकों के यौन–वर्णन को देखें तो वे स्त्री के अंगों का वर्णन विस्तार से करते है। क्यों भई, ये पुरुष के अंगों का वर्णन क्यों नही करते? क्योंकि पाठक पुरुष हैं।

---

[8] रेखा कस्वार– 'स्त्री मुक्ति का सपना, सं0 : प्रो0 कमला प्रसाद, पृ0–111

[9] डॉ0 अमरनाथ– 'नारी का मुक्ति संघर्ष पृ0– 63

यौन–विकृति सिर्फ स्त्री में ही दिखलाई जाती है, पुरुष में नहीं क्योंकि यौन विकृति वाली स्त्री पुरुष पाठकों को लुभाती है।''[10]

देह मुक्ति के भ्रम में बाजार का हिस्सा बनती स्त्री को इस चालाकी को समझना होगा, उसे अपनी देह को खेल का हिस्सा मात्र बनने से रोकना हागा। उसे समझने हागा कि ''आज बाजार और पितृसत्ता का गठजोड़ है। इसलिए स्त्री के अंतरंग, उसके गोपन को सार्वजनिक करने के तरीके ढूँढें जा रहे है।''[11]

स्त्री विमर्श को देह विमर्श का पयार्य आलोचकों (स्त्री विमर्श) ने कुछ लेखिकाओं की रचनाओं के आधार पर मान लिया है, जबकि लखिकाओं का मानना है कि यह उनका हथियार है उस पितृसत्ता से लडने का जिसने उसे सिर्फ 'मादा' में तब्दील कर दिया है। उसकी बुद्धि, उसकी मेघा शरीर के आगे गौण जाती है। स्त्री डॉक्टर हो, वकील हो, इंजीनियर हो, सांइटिस्ट हो चाहे कुछ भी हो, अतः वह स्त्री है, मादा है। पितृसत्ता की इस मानसिकता के कारण ही साठ साल की बुढ़िया भी बलात्कार की शिकार हो जाती है।

रोहिणी अग्रवाल लिखती हैं– ''मीरा का स्त्री–विमर्श कृष्णा सोबती और मृदुला गर्ग के जरिए आगे बढकर यदि मैत्रेयी पुष्पा तक न आया होता तो क्या स्त्री अपनी दैहिक मुक्ति की मुखर घोषणा के साथ देह को अस्त्र बनाकर प्रतिद्वंदी पुरूष को पटकनी दे पाने का हौसला बटोर पाती ?..... मर्दवादी आलोचना समकालीन स्त्री विमर्श को पितृसत्तात्मक व्यवस्था का अतिक्रमण कर अपने लिए मानवीय स्पेस की आकांक्षा करती स्त्री–मुक्ति की अवधारण के रूप में नही पढ़ती, देह–विमर्श में गूँथकर थू–थू करती है।''[12]

यह जानते हुए भी कि ''इस पुरूष प्रधान समाज में स्त्री की देह ही पुरूष के लिए स्त्री का अस्तित्व होता है। और इस देह शोषण के लिए वह उम्र की सीमा भी लांघ जाता है।''[13] फिर भी स्त्री को एक दायरा खींचना होगा। वरना

---

[10] अरुण प्रकाश, स्त्री मुक्ति का सपना', कमला प्रसाद (सं) पृ0– 63

[11] वही, पृष्ठ 66

[12] रोहिणी अग्रवाल, स्त्रीलेघनः स्वप्न और संघर्ष, पृ0– 35

[13] श्री धरम, स्त्री संघर्ष और, सृजनः पृ0– 114

पुरूष तो चित्त भी मेरी, पट्ट भी मेरी, वाली स्थिति में है और हमेशा रहेगा। सबसे पहले इस बात की पड़ताल करनी होगी कि समस्या कहां है , किस बात से है, लड़ाई किस मुद्दे से है। सम्बंधों के परिप्रेक्ष्य में पुरूष के अन्य स्त्री से सम्बंधों को लेकर है या स्त्री को भी वैसी छूट चाहिए, इस बात को लेकर है। अगर पुरूष जैसी छूट चाहिए तो इसका मतलब कि पुरूष गलत नहीं है कि वह संभोग सुख की विविधता को भोगता है, उस व्यवस्था का पोषण करता है। और अगर पुरूष का व्यवहार गलत है, ऐसा कार्य अनुचित है तो स्त्री को अपनी देह को लेकर नये प्रतिमान गढ़ने होंगे। पाला बदलने से काम नहीं चलेगा, वरन इस खेल को ही खत्म करना होगा, नये नियम तलाशने होंगे।

इसके साथ ही स्त्री लेखन को आगे की राह पकडने के लिए विमर्श के अन्य मुददों के साथ 'देह के मुद्दों के प्रति भी निष्पक्ष और आत्मालोचन की दृष्टि अपनानी पड़ेगी। क्योंकि कुछ आलोचकों की नजर में – '' हमारे नारीवादी लेखन में आत्मालोचना न के बराबर है तो नारी वादी आलोचना है ही नहीं। तभी मिशेल फूकों (हिस्ट्री ऑफ सेस्सुअलिटी) के आधुनिक नजरिये– गोपन को अगोपन करो– को हिन्दी के कुछ मर्दवादी 'नारीवादी' चिंतक मुक्तिमार्ग के रूप में प्रचारित कर रहें है। क्या नारीवाद का पहला मुक्ति द्वार देह से ही होकर गुजरता है? ''[14]

स्त्री विमर्श को यहां पर यह स्पष्ट करना पड़ेगा कि देह से मुक्ति सेक्स की छूट से कहीं ज्यादा उस दैहिक हीनताबोध की मानसिकता से मुक्ति है जो स्त्रियों में जन्म से ही भरी जाती है, देह की मुक्ति उन कामुक, लपलपाती नजरों से, लिज लिजी छेड़छाड़ स्पर्श और घृणित बलात्कार जैसे अपराधों से है जिनसे स्त्री देह हर घड़ी जूझती रहती है।

2. स्वावलंबन बनाम अर्थतंत्र पर एकाधिकार

पितृसत्तात्मक समाज का डर है कि यदि स्त्री को आर्थिक स्वावलम्बन की छूट दी गई तो वह हमारे संसाधनों पर, हमारी सत्ता पर कब्जा करके बैठ

[14] अरूण प्रकाश– स्त्री मुक्त का सपना सं0– प्रो0 कमला प्रसाद, पृ0– 67

जाएगी। किंतु सत्ता का हस्तांतरण तो बहुत दूर की बात है, पहले स्त्री बराबरी पर तो आए। आर्थिक दृष्टि से स्त्री को पुरुष के समकक्ष आने में अभी तो न जाने कितनी सदियां गुजरेंगी। पितृसत्तात्मक समाज को ये समझना होगा कि स्त्री–पुरुष जिस स्वरूप में सर्वाधिक जुडें हुए है–यानी कि सेक्स उसमें भी बगैर समानता के एक स्वस्थ सम्बन्ध की निर्मिति नहीं हो सकती। बगैर आर्थिक समानता के स्त्री–पुरुष सम्बन्ध असंतुलित ही हो सकता है। डॉ0 रणजीत के अनुसार – ''स्त्री और पुरुष की समानता अपने वास्तविक रूप में तभी मूर्तिमान हो सकती है, जब स्त्री आर्थिक दृष्टि से पुरुष पर निर्भर न रह जाये। बिना स्त्री के आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त किये स्त्री और पुरुष के प्रति सामाजिक और यौन दृष्टि से समान व्यवहार स्वाभाविक रूप से स्त्री के प्रति क्रूर व्यवहार का रूप धारण कर लेगा।''[15]

स्त्री के स्वालंबन की दिशा में रोड़ा अटकाने वाले बेतुके विचारों को महादेवी वर्मा श्रृंखला की कडियाँ में चुन–चुन कर उजागर करती हैं– ''अनेक व्यक्तियों का विचार है कि यदि कन्याओं को स्वावलम्बिनी बना देंगे तो वे विवाह ही न करेंगी, जिससे दुराचार भी बढेगा और गृहस्थ–धर्म में भी अराजकता उत्पन्न हो जायेगी। परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि स्वाभाविक रूप से विवाह में किसी व्यक्ति के साहचर्य की इच्छा प्रधान होनी चाहिए, आर्थिक कठिनाइयों की विवशता नही। यदि मनुष्य में किसी के आजीवन साहचर्य की इच्छा प्रधान न होती तो जिन देशों में स्त्रियाँ सब प्रकार से स्वावलम्बिनी हैं वहां इस प्रथा का नाम भी न रह गया होता। रह गई दुराचार की बात– तो इस सम्बन्ध में यह निर्भ्रान्त सत्य है कि सामाजिक परिस्थितियों से असंतुष्ट व्यक्ति जितनी सरलता से इस मार्ग के पथिक बन सकते हैं उतने संतुष्ट नहीं।''[16]

कितनी सीधी और सच्ची बात कही है महादेवी जी ने कि असंतुष्ट व्यक्ति ही, चाहे वो आर्थिक, सामाजिक इत्यादि कोई भी कारण हो उसकी संभावना ज्यादा है, कुमार्गों पर जाने की। इसके आगे भी वे लिखती हैं कि –''यह धारण

---

[15] डॉ0 रणजीत, 'स्त्री परम्परा और आधुनिकता,' सं0– राजकिशोर पृ0– 158

[16] महादेवी वर्मा 'श्रृंखला की कडियाँः पृ0– 72

कि स्वालंबन के साधनों से युक्त स्त्री गृहणी के कर्त्तव्य को हेय समझेगी, अतः गृह में अराजकता उत्पन्न हो जायेगी, भ्रान्ति मूलक सिद्ध होगी।''[17]

आज समाज की अधिकांश कामयाजी स्त्रियाँ नौकरी या व्यवसाय तथा घरेलू काम–धंधे की दोहरी भूमिका को पूरी जिम्मेदारी और कुशलता से निभा रही हैं। ऐसे में उन पर अराजक होने का आरोप मुक्ति में बाधा उत्पन्न करने का एक और षड्यंत्र है।

''एक ओर सामाजिक व्यवस्थाओं ने स्त्री को अधिकार देने में पुरुष की सुविधा का विशेष ध्यान रखा है, दूसरी ओर उसकी आर्थिक स्थिति भी परावलम्ब से रहित नहीं रही। भारतीय स्त्री के सम्बन्ध में पुरुष का भर्ता नाम जितना यथार्थ है उतना संभवतः और कोई नाम नहीं। स्त्री, पुत्री, पत्नी, माता आदि सभी रूपों में आर्थिक दृष्टि से कितनी परमुखापेक्षिणी रहती है, यह कौन नही जानता इस आर्थिक विषमता में पक्ष और विपक्ष दोनों में ही बहुत कुछ कहा जा सकता है और कहा जाता रहा है। आर्थिक दृष्टि से स्त्री की जो स्थिति प्राचीन समाज में थी, उसमें अब तक परिवर्तन नहीं हो सका, यह विचित्र सत्य है।''[18]

धर्म और परम्परा ने भारतीय स्त्री को हर जगह से, आर्थिक रूप से कमजोर किया है। पिता के घर में वह सम्पत्ति की अधिकारी नहीं, पति के घर में मकान, धन एवं सभी वस्तुओं का मालिक पति, बूढ़ी होने पर या पति की अनुपस्थिति में बेटे, आखिर स्त्री की कमाई क्या रह जाती है ? जीवन भर जिन सम्बन्धों के लिए स्वयं को होम करती है उसमें भी मात खाती हैं। जीवन को सरल एवं सम्मानपूर्ण तरीके से जीने के लिए धन का क्या महत्व है यह किसी से छिपा नहीं है, हालांकि इसकी अधिकता, या फिर इसके संग्रह मात्र की प्रवृति कितनी हानिकारक है यह बात भी सब जानते है, खैर अति किसी चीज की बुरी होती है।

---

[17] वही, पृ0– 73

[18] वही, पृ0–87

स्त्रियाँ पिता, पति, पुत्र भाई, पर निर्भर रहकर आर्थिक रूप से मजबूत होने से रही इसके लिए उन्हें स्वावलंबित होना पड़ेगा, जो कि आंशिक ही सही वर्तमान समाज में हो रही हैं। स्त्री चेतना ने इस दिशा में स्त्रियों को प्रेरित किया है। स्त्री स्वावलंबन की दिशा में शिक्षा स्त्रियों के लिए सबसे ठोस और कारगर उपाय है। इसके साथ एक प्रश्न यह भी उठता है कि शिक्षित, स्वावलंबित स्त्री का जीवन कैसा होना चाहिए, कर्तव्य क्या होने चाहिए। हालांकि यह सवाल पुरुष वर्ग पर भी समान रूप से लागू होता है, मगर फिलहाल बात स्त्रियों की। स्त्री के प्रति समाज में इस समय जो नजरिया प्रचलित है उसमें स्त्री की शिक्षा, शिक्षित पुरुष के बरक्स शिक्षित या उच्च भावी पत्नी की तैयारी है।

''यदि कटु सत्य कहा जाय तो केवल दो ही प्रकार की महिलाएं उच्च शिक्षा की ओर अग्रसर होती है, एक वे जिन्हें पुरुषों के समान स्वतंत्र जीवन–निर्वाह के लिए उपाधि चाहिए और दूसरी वे जिनका ध्येय इसके द्वारा विवाह की तुला पर अपने आपको गुरु बना लेना है। इसके द्वारा वे सुगमता से ऐसा पति पा सकती हैं जो धन तथा विद्या के कारण उन्हें सब प्रकार की सामाजिक सुविधाएँ बिना प्रतिदान की इच्छा के दे सकता है और वे आडम्बरपूर्ण सुख का ऐसा जीवन व्यतीत करने को स्वतंत्र हो जाती हैं जिस पर कर्त्तव्य की धूमिल छाया और त्याग का भार नही पड़ता। जो केवल जीविका के लिए, स्वावलंबन के लिए, ऐसी शिक्षा चाहती हैं वे भी इन्हीं के समान अपनी विद्या–बुद्धि को धन के साथ एक ही तुला पर तोलने में उसकी चरम सफलता समझ लेती है, जो उनके कर्त्तव्य को भी कहीं–कहीं अकर्त्तव्य का रूप दे देता है। केवल मनुष्य बनने के लिए, जीवन का अर्थ और उपयोग समझने के लिए कौन विद्या चाहता है, यह कहना कठिन है। हम केवल कार्य से कारण की गुरुता या लघुता जान सकते हैं। यदि वास्तव में इन सब की शक्तियों का सर्वतोमुखी विकास होता, यदि ये हमारी संस्कृति की रक्षक तथा भविष्य की निर्माता होती तो क्या इन्हें खिलौनों का सा सार शून्य आडम्बर शोभा देता।''[19]

[19] वही, पृ0– 100

लेखिका के इस प्रश्न का जवाब निश्चय ही नहीं में दिया जा सकता है, लेकिन इसके साथ ही प्रश्न यह उठता है कि इस व्यवस्था का जिम्मेदार कौन है, ऐसी परिस्थितियों का निर्माता कौन है, निश्चय ही नारी नहीं है। इसकी जिम्मेदार यह पितृसत्तात्मक व्यवस्था है, शिक्षित स्त्री को शीशे के सामने बैठने और क्रीम पाउडर तक सीमित करने की भूमिका के पीछे भी यही प्राचीन मंशा चली आ रही है कि स्त्री का कार्य है अपने पति को रिझाए रखना ताकि उसका ध्यान पत्नी के अलावा किसी और स्त्री की तरफ न जाए। स्त्री को अपने सौन्दर्य का विशेष ध्यान रखने की शिक्षाा भी यही समाज देता है– पति के मनोरंजन और सुख के लिए, स्त्री के पास उसके सौन्दर्य के अलावा और कोई गुण पनपने ही नहीं दिया जाता, मसलन–शिक्षा, चतुरता, चिंतनशीलता आदि। उसे बस घरेलू कार्यों, धार्मिक पुस्तकों, त्याग और दया तक सीमित कर दिया जाता है। एक और बात, शिक्षित स्त्रियों की भूमिका पर कर्त्तव्य पर सवाल जरुर उठाये जाने चाहिए, लेकिन उसके साथ ही शिक्षित पुरुष की भूमिका पर, कर्त्तव्य पर भी उँगली उठनी चाहिए। हालांकि लेखिका यह प्रश्न उठाती है– ''इसमें अतिशयोक्ति नही कि हम जिस मार्ग पर अग्रसर हो रही है, शिक्षित पुरुष–समाज की एक बहुत बडी संख्या उसके दूसरे छोरे तक पहुँच चुकी है, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि गिरने वाले की संख्या आधिक होने पर सब उन्हीं का अनुकरण करें और जो खडा रहना चाहे वह मंद बुद्धि समझा जावे ?''[20]

निश्चय ही नहीं। लेकिन आज का समय महादेवी के समय से कही आगे निकल चुका है। वर्तमान समय की परिस्थितियां यह है कि आर्थिक रूप से सक्षम, घर–परिवार को पूरी जिम्मेदारी से निभाने–चलाने वाली भी शोषण की शिकार है। उसका उसकी कमाई पर अधिकार नहीं है। बाहर कमाने के बाद भी घर के काम खत्म नहीं हुए हैं, बल्कि जिम्मेदारी दोहरी बढ गयी है। कमाई के साथ काम का बोझ और उसके साथ मारपीट ये नई स्त्री की परिभाषिक स्थितियाँ है। स्त्री–विमर्श इसी पितृसत्तात्मक शोषण से लड़ना चाहता है, जिसमें स्त्री को किसी

[20] वही, पृ0– 101

भी रूप में तो सुकून मिल सके। कही तो जाकर जाकर यह लगातार चलने वाला शोषण चक्र समाप्त हो।

राजेन्द्र यादव के अनुसार– ''मैं एक ऐसी महिला कलक्टर को जानता हूँ जो बाहर वालों से आखें लडाने, घर–बच्चे न देखने, परिवार वालों या मित्रों को फूहड़ समझने के अपराध में जूनियर इंजीनियर पति से पिटती और अपमानित होती रहती है।''[21]

स्त्री पर लगे ये इल्जाम कितने सच होंगे पता नहीं, लेकिन पूरा सच यह है कि स्त्री आर्थिक दृष्टि से पूर्ण सक्षम होने के बावजूद पिटती है। ये तो मध्य वर्गीय या उच्च वर्गीय स्त्री की बात हो गई। लेकिन घर और बाहर दोनों जगह ताउम्र श्रम करने और फिर भी शोषित होने की यातना झेलने वाली मजदूर, कामगार, दलित स्त्री को लिया जा सकता है, जो पूरी तरह शिक्षित–साक्षर नहीं होती, अनपढ़ होती है, श्रम करती है, परिवार चलाती है, बच्चे पालती है, फिर भी अपनी कमाई शराब में उड़ाने वाले पति हाथों पिटती है, यह हमारे वर्तमान का कटु सत्य है।

अतः ये संभावना की आत्मानिर्भर स्त्री स्वावलंबित स्त्री घर–परिवार पर एकाधिकार कर सकती है, या आत्मनिर्भरता के पीछे एकाधिकार की भावना व्याप्त है, भ्रामक है।

3. उदात्त प्रेम बनाम दाम्पत्येतर संबंध

स्त्री–पुरुष सम्बन्ध (शारीरिक) समाज की बहुत जटिल संरचना है। इन सम्बन्धों को व्यवस्थित, सामाजिक रूप देने के लिए विवाह संस्था की स्थापना हुई, परिवार की अवधारणा प्रकाश में आयी लेकिन इसके बावजूद ये सम्बन्ध इस दायरे से बाहर भी बनते–बिगड़ते रहे। कारण अनेक हो सकते हैं, परिस्थितियां भी हजार

[21] राजेन्द्र यादव, 'आदमी की निगाह में औरत', पृ0– 44

हो सकती हैं,किंतु विवाह संस्था से बाहर शारीरिक सम्बन्ध उतनी ही पुरानी बात है जितनी कि खुद विवाह संस्था या समाज और परिवार।

विवाह स्त्री को घर–परिवार के दायरे में बाँधकर, उसकी भूमिका को बाहर की दुनिया से काट देता है। विवाह बंधन में बँधकर स्त्री घरेलू श्रम करे, पति की सुख–सुविधा का ख्याल करे, उसकी वंश–वृद्धि के लिए बच्चे पैदा करे, बदले में उसे जीवन–पर्यन्त (पति के जीवित होने तक) खाने को रोटी और पहनने को वस्त्र मिलता रहे। यह व्यवस्था इस समाज ने की है। यहां विवाह सिर्फ प्रेम के आधार पर नहीं होते कि लड़के–लड़की का आपस में प्रेम है, वे एक दूसरे के साथ जीवन–व्यतीत करना चाहते है, वरन इस विवाह की भूमिका में प्रेम से ज्यादा अन्य कारक जिम्मेदार होते है, विवाह की रजामंदी भी माँ–बाप देते हैं, विवाह भी माता–पिता या बड़े–बुजुर्ग करते है। समाज की नजर में आपसी प्रेम का (विवाह पूर्व) कोई मतलब, महत्व नहीं है, यहां वैवाहिक प्रेम विवाह के बाद ही शुरू होता है। उससे पहले एक स्त्री के लिए प्रेम वर्जित है।

माता–पिता या अभिभावक किसी भी लड़की के या ''स्त्रियों के विवाह की चिंता इसलिए नहीं करते कि देश या जाति में सुयोग्य माताओं और पत्नियों का अभाव हो जायेगा, वरन् इसलिए कि उनकी आजीविका का हम कोई और सुलभ साधन नहीं सोच पाते। माता–पिता चाहे सम्पन्न हों चाहे दरिद्र, कन्या का कोई उत्तरदायित्व प्रसन्नता से अपने ऊपर नहीं लेना चाहते और न विवाह के अतिरिक्त उससे छुटकारा पाने का मार्ग ही पाते हैं।''[22]

ऐसे विवाह में प्रेम की गुंजाइश तो न के बराबर ही रहेगी। बस किसी तरह कर्त्तव्य निर्वाह की इतिश्री होती रहती है। जब स्त्री–पुरुष के सम्बन्धों (शारीरिक) का एकमात्र सामाज स्वीकृत साधन विवाह होगा, जो कि प्रेम के अलावा अन्यान्य बातों पर आधारित होगा तो दो ही स्थितियां पैदा होंगी– एक विवाहेतर सम्बन्ध, जो प्रेम की खोज में बनते–बिगड़ते रहेगें ओर दूसरा प्रेम विहीन नीरस जीवन, जो मन के साथ–साथ शरीर को भी असमय जर्जरता की ओर ढकेल देगा।

---

[22] महादेवी वर्मा, 'श्रृंखला की कडियाँ, पृ0–69

महादेवी वर्मा भारतीय विवाह शैली की नब्ज पकड़ते हुए लिखती हैं– ''विवाह मनुष्य जाति की असभ्यता की भी सबसे प्राचीन कथा है और सभ्यता की भी, परन्तु उसे सामाजिक के साथ–साथ नैतिक और धार्मिक बन्धन बनाने के लिए अधिक परिष्कृत करना होगा। इस समय तो भारतीय पुरुष जैसे अपने मनोरंजन के लिए रंग–बिरंगे पक्षी पाल लेता हैं, उपयोग के लिए गाय या घोड़ा पाल लेता है उसी प्रकार वह एक स्त्री को भी पालता है तथा अपने पालित पशु–पक्षियों के समान ही वह उसके शरीर और मन पर अपना अधिकार समझता है। हमारे समाज के पुरुष के विवेकहीन जीवन का सजीव चिह्न देखना हो तो विवाह के समय गुलाब–सी खिली हुई स्वस्थ बालिका को पाँच वर्ष बाद देखिए। उस समय उस असमय प्रौढ़ा, कई दुर्बल सन्तानों की रोगिनी पीली माता में कौन–सी विवशता, कौन–सी रुला देने वाली करुणा न मिलेगी।''[23]

यह इस वजह से होता है कि भारतीय विवाहों का आधार अक्सर झूठ की इमारत पर टिका होता है, विवाह में प्रेम की जगह पचास तरह की अवांछनीय बातें महत्वपूर्ण बना दी जाती हैं। डॉ0 धर्मवीर लिखते हैं– ''इस देश में बताया गया है कि ब्राहमणें में यह मान्यता है कि सिर पर जितने बाल होते हैं, यदि लड़की की शादी के लिए उतने झूठ भी बोल दिये जायें तो यह जायज है।.....यह विवाह की शुरुआत होती है और इसका दूसरा छोर तलाक तक की इजाजत देता है। उन दोनों के बीच में लम्बा और दुखदायी गृहस्थ जीवन पड़ता है, जिसमें कई बार मनुष्य कुचले जाते हैं।''[24]

ऐसे कलहपूर्ण वातावरण की निर्मित होने से मनुष्य कई बार घर से दूर भागता है, वह प्रेम की तलाश में जीवन साथी से इतर विकल्प तलाशने लगता है, और इस तलाश का अन्त दाम्पत्येतर सम्बन्धों के रूप में सामने आता है। पुरुष को तो इस सम्बन्ध में छूट प्राचीन काल से प्राप्त है और वह इसका भरपूर लाभ भी उठाता रहा है, अब पुरुष की ऐसे कृत्यों के पीछे कितनी प्रेम की तलाश है और कितना संभोग सुख की विविधता का, इसके बारे में तो ज्यादा बेहतर तरीके

---

[23] वही, पृ0–72

[24] डॉ0 घर्मवीर,'स्त्री, परम्परा और आधुनिकता', सं0– राजकिशोर पृ0– 94

से वही बता सकता है, किन्तु स्त्री के लिए ''घर से बाहर कुछ भी करने का अवकाश नहीं है और बाहर कार्य करने से घर की मर्यादा नष्ट हो जाएगी।''[25] कहना न होगा कि सेक्स को, प्रेम को स्त्री के लिए हौवा बनाकर रख दिया गया है। स्त्री के लिए सेक्स को विवाह से पूर्व और विवाह के बाद यहां तक की मरते दम तक एक खतरा बना दिया गया है, उसकी देह को, मनोभावों को इस तरह से बाँध दिया जाता है कि स्त्री अपनी देह को अपने आप को पूरी तरह भूल जाए। यही कारण है कि कुछ समय पहले तक घर से बाहर निकली नौकरी पेशा स्त्रियों को अच्छी नजर से नहीं देखा जात था, हालांकि अभी भी इस दृष्टिकोण मे आंशिक बदलाव ही आया है। स्त्री के लिए शिक्षक की नौकरी को ही बेहतर माना जाना भी इस सोच का परिणाम है, कि अन्य 'प्रोफेशन' में तो सहयोगी कर्मियों से ज्यादा मेल मिलाप रखना पड़ेगा। गाँवों में आज भी यह मानसिकता घर किए हुए है।

''स्त्री व्यक्तित्व को जिस एकमात्र जगह पर सबसे अधिक कुचला, तोड़ा और समाप्त किया गया है, वह है सेक्स। स्त्री को मर्यादा या नियंत्रण में रखने की जितनी भी तरकीबें हैं वे सब सेक्स को लेकर ही हैं। बचपन से ही उसकी इस प्रवृत्ति को समाप्त करने के तरीके ईजाद किए जाते रहें हैं। मुस्लिम समाज में तो खतने जैसे विधान भी हैं। उधर पुरूष सेक्स कों बढ़ाने के नुस्खे हर दीवार और अखबार पर छाये हैं। उनका भी जोर होता है कि औरत को कैसे काबू में रखा जाए .....यानी तरीका कोई भी हो, स्त्री–सेक्स वह विस्फोटक तत्व है जिसे शास्त्र और शस्त्र. सभी से नियंत्रित रखना है। फिर क्यों स्त्री मुक्ति की मुहिम मुख्य रूप से इसी नैतिकता के विरोध से नहीं शुरू होनी चाहिए ? सही है कि 'स्त्री मुक्ति का अर्थ सेक्स की स्वतंत्रता नही है' नारा भी सबसे अधिक शीलवती सम्मनित महिलाएं ही लगाएँगी। मगर फिर उसकी मुक्ति के मुद्दे क्या–क्या होगें? आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर स्त्रियां भी सेक्स को लेकर, ही सबसे ज्यादा चौकस और प्रताड़ित हैं। आर्थिक रूप से आत्मनिर्भरता उन्हें आत्म विश्वास और परिणामतः

[25] महादेवी वर्मा, 'श्रृंखला की कड़ियाँ, पृ0– 57

अपनी प्रतिभा और क्षमता के विकास के आधार जरूर देती है, मगर सामाजिक सम्मान तो सेक्स की नैतिकता से ही तय होता है।''[26]

सामाजिक नैतिकता अव्वल तो स्त्री को छूट लेने नहीं देती, और अगर स्त्री प्रेम या सेक्स के नाम पर छूट लेती भी है तो अन्दर से बेहद डरी, चौकस होती है। क्योंकि उसके इन सम्बन्धों की भनक लगते ही सारी सामाजिक संस्थाए उसके खिलाफ खड़ी होकर उसे सजा देने के लिए आतुर हो उठती हैं। क्योंकि–

''उत्पादन के साधनों पर कब्जे के लिए उत्तराधिकार कानून और उत्पत्ति यानी स्त्री देह पर स्वामित्व के लिए विवाह संस्था की स्थापना (षड्यंत्र) बहुत सोच–समझकर की गई है।''[27]

रमणिका गुप्ता के हंस में दिए गए वक्तत्य ''यौन सम्बन्धों को ही चरित्र मानना तो विकृत पुरूष समाज की देन है चुँकि वह स्वभाव से ही स्वार्थी और वर्चस्ववादी होता है'' को उद्धृत करते हुए इसके जवाब में डॉ0 धर्मवीर लिखते हैं– '' सम्बन्धों को चरित्र में शामिल क्यों नहीं माना जाएगा ? सृष्टि ही यौन–सम्बन्धों से हाथ लगती है। चरित्र को उसी जगह से क्यों न निर्धारित किया जाए ? जब यौन–सम्बन्धों में दुश्चरित्रता व्याप्त हो गई तो बाकी किन मामलों में सच्चचरित्रता ढूँढ़ी जाएगी ? क्या वह सब खाली और झूठी नहीं होंगी ? मैंनें जो सवाल उठाए हैं वे स्त्री और पुरुष दोनों के लिए विवाह में मोरलिटी हैं। जहां दिख रहा है कि नारी पुरुष की गुलाम बनाई गई है वहां नारी की तरफ से पुरुष के खिलाफ घमासान युद्ध मचना ही चाहिए। उन संस्थाओं का नाश कर देना चाहिए जिन्होंने स्त्रियों को पुरुषों की गुलामी में जेवड़ी बना कर बाँध रखा है। उस लड़ाई में मैं नारी का पक्षघर हूँ। तब मुझे नारी की तरफ से लड़ने में सुख भी मिलेगा। लेकिन यह एकदम दूसरी बात है कि स्त्री और पुरुष दोनों को विवाह के मामले में एक दूसरे के प्रति एकनिष्ठ और वफादार रहना चाहिए। मोरल को बचाए रखने में दोनों की जिम्मेदारी है। स्त्री और पुरुष के सम्बन्धों का कोई भी समाज बनाया

---

[26] राजेन्द्र यादव, 'आदमी की निगाह में औरत', पृ0' 44

[27] अरविन्द जैन, स्त्री मुक्ति का सपना, संपा0–प्रो कमला प्रसाद, पृ0–11

जाए, उस के लिए कोई भी संस्था खड़ी की जाए, मोरल के गुणगान गाने ही पड़ेंगे।''[28]

अगर स्त्री विवाह संस्था से बाहर प्रेम और सेक्स जैसे वर्जित फल को चख लेती है तो उसे इसकी बहुत बड़ी कीमत चुकानी पडती है। दाम्पत्येत्तर सम्बन्धों के मामले में डॉ0 धर्मवीर के विचारों को जानना बेहद दिलचस्प होगा। एक तरफ तो डॉ0 धर्मवीर पूरी तरह दाम्पत्येत्तर सम्बन्धों के खिलाफ हैं। उनकी नजर में स्त्री–पुरूष का पति–पत्नी के अलावा शारीरिक सम्बन्ध अवैध है, जारकर्म है। उनका मानना है कि अवैध सम्बन्धों में सारी परेशानी औरत के हिस्से में आती है, न कोई कानूनी सहारा मिलता है, न कोई सामाजिक अधिकार, स्त्री विवाह किसी और से करती है और दाम्पत्येतर सम्बन्धों के परिणाम स्वरूप बच्चे किसी और से पैदा करती है तो दूसरे के बच्चो को कोई दूसरा व्यतीत पाल रहा है, इसी प्रकार एक श्रृंखला बनती जाएगी जिसमें सब अपने नाम पर दूसरे की संतान लिए फिर रहे हैं और सामाजिक मानसिक रूप से अनेक तरह के विकारों दबावों का शिकार बन रहे हैं। डा0 धर्मवीर की दृष्टि इस सन्दर्भ में कहीं–कहीं अतिवादी रूप ग्रहण कर लेती है। अगर हम डॉ0 धर्मवीर के साहित्य से अतिवादों को हटा दे ंतो जो मूल बचता है वह है– दाम्पत्येतर सम्बन्धों का विरोध। डॉ0 धर्मवीर का मानना है कि यदि किसी को अपना विवाह या जीवन साथी नहीं पसन्द आता, चाहे वो स्त्री हो या पुरुष–स्वेच्छा से तलाक ले सकता है, अलग हो सकता है, लेकिन सामाजिक या कानूनी रूप से किसी और से जुड़ाव (शारीरिक), प्रेम के नाम पर दाम्पत्येतर सम्बन्ध, यह स्वीकार्य नहीं।[29] बहुत से आलोचकों की नजर में धर्मवीर की यह अतिवादी दृष्टि उन्हें विक्षिप्त भी घोषित करती है। कँवल भारती डॉ0 धर्मवीर के इस चिंतन को फासिस्ट चिंतन या निर्लज्ज चिंतन घोषित करते है। वें लिखते हैं कि –

---

[28] डॉ0 धर्मवीर, 'तीन द्विज हिन्दू स्त्रीलिंगों का चितंन' पृ0– 41

[29] वही, पृ0–37–38

''धर्मवीर ने रट लगा रखी है जार–जार की। सुनने–सुनते कान पक गये कि ब्राह्म विवाह में सारी स्त्रियां जारिणी हैं, पति अपनी पत्नियों के जारों के बच्चे पाल रहे हैं और हर पति अपने बच्चे का डी0एन0ए0 टैस्ट कराये।.... धर्मवीर ने संसार–शुद्धि का ठेका ले रखा है। वह विवाह को अनिवार्य बनाना चाहते है। सभी स्त्रियां विवाह करें और विवाहेतर सम्बन्ध हैं, तो पति को तलाक दें और जार से विवाह कर लें। मतलब यह कि स्त्री के लिये विवाह जरूरी है। यदि वह विवाह नहीं करेगी, तो संसार को गन्दा करेगी।''[30]

कँवल भारती का विचार भी अतिवादी प्रतीत होता है। स्त्री हो या पुरुष अगर वो दाम्पत्येतर सम्बन्ध स्थापित करते हैं, तो दूसरे पक्ष को तलाक लेने का पूर्ण अधिकार है। दोनों के शान्तिपूर्ण जीवन के लिए यही आवश्यक हैं। इसके बाद वो विवाह करें या ना करें ये उनका व्यक्तिगत निर्णय है। दाम्पत्येतर सम्बन्धों की स्थिति में प्रेमी–प्रेमिका के विवाह से ज्यादा पति–पत्नी का तलाक प्रमुख हो जाता है। जो भी विवाह संस्था को स्वीकार करते हैं तो संतुलित परिवार और समाज के लिए इसकी मर्यादा का पालन करना चाहिए। अन्यथा विवाह की कोई अनिवार्यता नहीं है।

दाम्पत्येतर सम्बन्धों को लेकर डॉ0 धर्मवीर का एक दूसरा दृष्टिकोण भी है जिसमें वे लिखते है– ''मेरे मत में किसी भी हालत में सेक्स की गलतियों के लिए परिवार नहीं टूटने देने चाहिए। सेक्स ज्यादा से ज्यादा व्यक्तिगत है और परिवार ज्यादा से ज्यादा सामाजिक है। इन दोनों में सामंजस्य रखने की कोशिश की जा सकती है, लेकिन यदि किन्हीं कारणों से सामंजस्य न हो पाये तो दोनों की अलग–अलग सत्ताएँ मानकर चला जा सकता है। परिवार से मेरा तात्पर्य पति पत्नी, संतान, भविष्य, सम्पत्ति और कानून से है। सेक्स से मेरा मतलब पुरुष और नारी से है जिसमें भविष्य और सम्पत्ति के बिना बच्चा भी जोड़ा जा सकता है। यहां मेरा पूछना है कि यदि पुरुष नारी के सेक्स विचलन को अपराध मान कर

---

[30] कँवल भारती, 'धर्मवीर का फासिस्ट चिन्तन' पृ0– 25

बिना एक दूसरे को क्षमा करते हुए मनुष्य अपनी संतान का आर्थिक भविष्य नष्ट कर डालें, तो इसमें उनकी कौन–सी बुद्धिमत्ता रह जाती है ? यदि सेक्स को धार्मिक और दैवी दृष्टि की पवित्र क्रिया मानकर चलने से और फिर उसमें पवित्रता के मानवीय आधार पर खंडित हो जाने से 30 वर्षों की गृहस्थी एकाएक टूट जाती है तो इसका मतलब यही है कि परिवार के बंधन, विकास और आदर्श की अपनी कोई अलग सत्ता और शक्ति नहीं है। परिवार की अपनी कोई अलग सत्ता और शान्ति नहीं है। परिवार को विकसित होने के लिए उसमें इतनी सहनशक्ति और क्षमता होनी चाहिए कि वह सेक्स की मानवीयता को अपने रास्ते में आने पर उसे आधिक तूल न दे।''[31]

यह है धर्मवीर की एक अलग मानवतावादी दृष्टि जिसमें प्यार, विश्वास और आने वाली पीढ़ी के लिए मानवीयता रची–बसी है।

चीजें दरअसल हमारे समाज में बहुत ही उलझी और गुँथी हुई हैं, मनुष्य जीवन के हर पहलू को एक साथ प्रभावित करती हैं। यही कारण है कि बातों को तोड़–मरोड़कर किसी भी पक्ष में कर दिया जाता है। हर भाव–विचार को यहां जबरदस्ती एक दूसरे में इस ढूँस, गूँथ दिया जाता है,जैसे सेक्स और सन्तानोत्पत्ति ।

''संतानोत्पत्ति के उद्देश्य को परम्परागत नैतिकता मैथुन के साथ इस तरह जोड़ती है कि न केवल इस उद्देश्य के बिना किया गया संभोग अनैतिक नही ंतो कम से कम उपेक्षणीय अवश्य हो जाता है, बल्कि साथ ही परिवार नियोजन के वे सब साधन भी जो संभोग के आनन्द को सन्तानोत्पत्ति के भय और खतरे से मुक्त करके मनुष्य की स्वतंत्रता का विधान करते हैं।''[32]

दाम्पत्येतर सम्बन्धों में सेक्स निश्चय ही दो व्यक्तियों का व्यक्तिगत मामला है, और उसमें किसी अन्य को हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नही, लेकिन ऐसे

---

[31] डॉ0 धर्मवीर, 'स्त्री , परम्परा और आधुनिकता', संपा0– राजकिशोर, पृ0– 100

[32] डॉ0 रणजीत, 'स्त्री परम्परा और आधुनिकता' सं0– राजकिशोर, पृ0– 137

सम्बन्धों में यदि विवाह संस्था, परिवार से बाहर कोई संतान जन्म लेती है तो उसका भविष्य क्या होगा या क्या होना चाहिए, क्योंकि संतान के जुड़ते ही मामला नितान्त व्यक्तिगत से सामाजिक हो जाता है। डॉ0 रणजीत इस पर गहन विचार करते हैं–

''स्पष्ट ही नयी यौन नैतिकता उन सब संभोगों को, जिनका वरण दो लोग अपनी पूरी स्वतंत्र इच्छा से करते है, जो उन दोनों के लिए परम आनन्ददायी है, पूरी तरह से नैतिक मानेगी। धोखा, मजबूरी और जबरदस्ती ही वे मुख्य तत्व है, जो संभोग जैसे आनन्ददायी और गहन माननीय सान्निध्य के साधक कर्म को अनैतिक बना सकते हैं।

जब तक कोई संभोग स्त्री के गर्भ धारण का कारण नहीं बनता, तब तक वह उनमें संलग्न दो लोगों का आपसी व्यक्तिगत मामला ही मानना चाहिए और उसमें किसी बाहरी व्यक्ति या पूरे समाज को हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं होना चाहिए। हाँ, संतानोत्पत्ति में परिणत होने वाले संभोग निश्चय ही एक सामाजिक मसला हैं और उन पर समाज अपने विकास के स्तर और व्यवस्था की पूर्णता– अपूर्णता के आधार पर निर्णय करेगा।''[33]

सन्तान के प्रश्न पर डॉ0 रणजीत ऐसी संतानों को समाज की विकासात्मक दिशा और पूर्णता–अपूर्णता पर छोड़ देते हैं जो कि उचित नहीं है। ऐसी संतानों का भविष्य रोज मीडिया की सुर्खियों में नजर आता है–

गर्भ–हत्या, नवजात शिशुओं को कचरे के ढेर पर फेंक दिए जाने से लेकर, अनाथ छोटे बच्चों के भविष्यहीन जीवन और अपराधी बनने की कहानी तक। हालांकि डॉ0 रणजीत ऐसी परिस्थितियों के लिए एक सुखद भविष्य की आशा करते हैं–

---

[33] वही, पृ0– 141

''आज का वैयवित पितृत्व प्रधान समाज स्वाभाविक रूप से दो लोगों को तब तक संतानोत्पत्ति की अनुमति नहीं दे सकेगा, जब तक की वे विवाहित पति–पत्नी न हों। पर भविष्य में समाज अपनी व्यवस्था को पूर्णता प्रदान करते हुए एक तो पति–पत्नी में से भी उन्हीं जोडों को संतानोत्पत्ति का अधिकार देगा, जो जैविक और चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से इस योग्य हों।''[34]

इससे भी आगे डॉ0 रणजीत बर्ट्रेण्ड रसल के मत से सहमति व्यक्त करते हैं कि भविष्य में वैयक्तिक पितृत्व की जगह सामाजिक पितृत्व ने ले लिया तो फिर कोई भी स्त्री पुरुष बिना विवाह के माता–पिता बन सकेंगे और बच्चों का लालन–पालन समाज की जिम्मेदारी होगी। हालाँकि यह कोई नया विचार नहीं है। इससे पहले भी विद्वानों ने ये बात कही है।

कात्यायनी प्यार और परिवार में से प्यार को ही चुनने की पक्षधर हैं, वे मानती है– ''प्यार को बचाने के लिए परिवार को बचाना जरूरी नहीं है। समाज के नैतिक आत्मिक सौन्दर्यात्मक मूल्यों और भौतिक जरूरतों की एक अभिव्यक्ति समाज के इस नाभिक रूप में हुई, जो निजी दैनन्दिन जीवन के संघठन का सबसे महत्वपूर्ण रूप थी। पर मानवीय सारतत्व और प्यार की अभिव्यक्ति भविष्य के नये समाज में किसी और संगठन के रूप में होगी। यदि उसे परिवार की संज्ञा भी दी जाये तो कम से कम यह जरूर कहना होगा कि उसका ढाँचा मौजूदा पारिवारिक ढाँचे से गुणात्मक रूप से भिन्न होगा। उसमें संपत्ति संचय, उत्तराधिकार और निजी लाभ का तत्व नहीं होगा।''[35]

---

[34] वही, पृ0–141

[35] कत्यायनी, 'स्त्री, परम्परा और आधुनिकता,' संपा0–राजकिशोर, पृ0–146

4. व्यक्ति स्वातंत्र्य बनाम घर–परिवार से मुक्ति

''महाबृष्टि चलि फूटि किआरीं।
जिमि सुतंत्र भए बिगरहिं नारी ।।''[36]

– (तुलसीदास)

स्वातंत्र्यचेता स्त्री का आखिर यह कौन–सा रूप गढ़ा गया है हमारे धर्म, समाज, परम्परा द्वारा ? स्त्री स्वतंत्रता की आखिर वह कौन–सी परिभाषा, कौन–सा रूप है जो स्त्री को उसके स्त्रीत्व से वंचित कर देता है ? जिससे यह समाज इतना डरा हुआ है ? ये सारे प्रश्न एक साथ जहां जाकर टकराते है, वो है– स्त्री की यौन–शुचिता। इस यौन शुचिता के डर ने ही सदियों से स्त्री को घर की कोठरियों, चार दीवारियों में बंद किया है।

इस शुचिता के बंधन तो जस के तस हैं लेकिन इतना हुआ है कि स्त्री अन्यान्य कारणों से घर से बाहर निकलने लगी है, स्वत़ंत्रता के स्वाद को पहचानने लगी है। हालांकि इस स्वाद के लिए उसे कहीं–कहीं बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ रही है, उसकी जीभ कटने का भी खतरा पैदा हो रहा है, लेकिन स्त्री इन खतरों से संघर्ष कर रही है, विमर्श कर रही है।

क्यों ? क्योंकि वह भी मनुष्य है, उसे भी हक है–स्वतंत्र जीवन जीने का, आजादी महसूस करने का। स्त्री अपनी स्वतंत्रता को लेकर पैदा की गई तमाम आशंकाओं पर प्रश्नचिह्न खड़े कर रही हैं– ''आखिर मैं भी आदमी हूँ।

मुझे भी सम्मान और स्वतंत्रता से जीने का हक है'– स्थिति की असहनीयताओं के दबाव में एक गुलाम, बँधुआ, दलित या स्त्री के मन या जबान पर आया यह वाक्य ही विद्रोह की पहली घोषणा है और यहीं से शुरू होती है स्वतंत्रता की खतरनाक सरहदें– इन सरहदों के पार दमन और मुक्ति संघर्ष की

---

[36] तुलसीदास 'रामचरितमानस', पृ0– 640

खुली मुठभेड़ें हैं, मोर्चेबन्दियां हैं, हार–जीत के सिलसिले हैं– यानी यथास्थिति बनाए रखने और बदलने की हिंसा–प्रतिहिंसाओं की खूनी चौपड़ है।''[37]

स्वतंत्रचेता मनुष्य अपनी स्वतंत्रता की राह में आने वाली हर उस बाधा से टकरायेगाा जो उसका रास्ता रोकेगी, उसके विकास में बाधक होगी। चाहे वह बाधा 'परिवार' ही क्यों न हो, और चाहे वह स्वतंत्रचेता व्यक्तित्व स्त्री का ही क्यों न हो। सवाल यह है कि जो परिवार स्त्री को उसकी स्वतंत्रता नहीं देना चाहता, जो परिवार उसके विकास में सहायक भूमिका नहीं निभा सकता, जो परिवार उसके शारीरिक, मानसिक, आर्थिक आदि हर तरह के शोषण में एक महत्वपूर्ण कारक होगा, उससे स्त्री क्योंकर बंधी रहनी चाहिए ? उससे ऐसी उम्मीद कैसे और क्यों की जा सकती है ? अगर परिवार स्त्री को खाद–पानी, पोषण दे रहा है, उसके व्यक्तित्व विकास, उसकी स्वतंत्रता में अपना महत्वपूर्ण योगदान दे रहा है तो ऐसे परिवार को छोडकर स्त्री कैसे जा सकती है ? अगर जाती है तो वह अपनी जड़ों से कटकर मुर्झा जाएगी। हर जड़ अपने टिकने के लिए जमीन और अपने पोषण के लिए रास्ता ढूँढ़ लेती है। यह प्रकृति का सामान्य नियम है, जो अंशतः ही सही मनुष्य पर भी लागू हो सकता है।

'क्यों बचा रहे यह परिवार' नामक लेख में कात्यायनी लिखती हैं– ''जिस तरह हर समाज सम्पत्ति साम्राज्य लूट, ठगी और अपराध की बुनियाद पर टिका होता है, ठीक उसी तरह हर परिवार का ताना–बाना स्त्री की गुलामी और अस्मिता विहीनता की बुनियाद पर खड़ा है– चाहे वह मध्ययुगीन पितृसत्तात्मक ढाँचेवाला सामंती संयुक्त परिवार हो या पूँजीवादी ढंग से संगठित परिवार। परिवार वर्ग–निरपेक्ष संस्था नहीं। परिवार का प्यार मूल्य मुक्त प्यार होता ही नहीं पूर्ण समानता स्वतंत्र अस्मिता की चाहत रखने वाली कोई स्त्री भला क्यों चाहेगी कि बचा रहे परिवार ?''[38]

---

[37] राजेन्द्र यादव, 'आदमी की निगाह में औरत' पृ0– 71

[38] कात्यायनी, 'स्त्री परम्परा और आधुनिकता', सं0– राजकिशोर, पृ0– 143

परिवार के शोषणपरक स्वरूप से दो–दो हाथ करतीं कात्यापनी आगे बढ़कर यहाँ तक कहती हैं कि– ''बहरहाल, लब्बो लुआब यह कि मैं परिवार को बचाने के विलाप में कतई शिरकत कर सकती हूँ। प्रश्न परिवार को बचाने का नहीं, एक उच्चतर नैतिक– सौंदर्यात्मक–उदात्त धरातल पर मानवीय प्रेम की प्राण प्रतिष्ठा का है, एक ऐसी सामाजिक कोशिश के निर्माण का है जिसमें स्त्री पूर्ण समानता, स्वावलंबन और स्वतंत्र अस्मिता के आधार पर, घरेलू गुलामी के सभी रूपों से मुक्ति पा कर, सामाजिक उत्पादन की प्रक्रिया में बराबर की भागीदारी करते हुए, जिसे चाहे प्यार कर सके और पा सके।''[39]

कात्यायनी के दृष्टिकोण से देखें तो स्त्री का परिवार से विमुखता का प्रमुख कारण उसकी शोषणकारी भूमिका है। कात्यायनी इसके लिए सामंती परिवारिक ढाँचे से लेकर वर्तमान के पूँजीवादी परिवारों की पड़ताल करती हैं, जिसमें स्थितियां लगभग समान हैं। आखिर सम्बन्धों का स्वरूप क्या हो, जिसमें किसी भी पक्ष का– चाहे वो स्त्री हो या पुरुष–शोषण न हो पाए, कोई भी पक्ष दबाया न जा सके, जिसमें जबरन अधिकार की भावना न हो। यदि कुछ हो तो सिर्फ प्यार, विश्वास, संतुलन और एक बेहतर स्वस्थ जीवन। क्या सम्बन्धों की जटिल परिस्थिति में स्याह पक्ष को हमेशा के लिए, पूरी तरह दर किनार किया जा सकता है ? क्या यह संभव है ? क्या यह किसी 'यूटोपिया' के पीछे भागना है या फिर इसे एक आदर्श स्वप्न से आदर्श यथार्थ में बदला जा सकता है ?

स्त्री का परिवार से विमुखता का प्रमुख कारण उसकी शोषण और नीरस भूमिका (स्त्री के लिए) है। सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में देखें तो स्त्री चाहे जितनी सक्षम हो, स्वावलंबित हो, स्वतंत्र हो, प्रगतिशील हो, चाहे वह हर संस्था को दरकिनार कर दे, उससे मुक्त हो जाये। लेकिन उसे हर रूप में, किसी भी व्यवस्था में, पुरुष का सामना करना ही पड़ेगा। वह पुरुष से सम्बन्ध जोड़ती है तब भी, और नहीं

---

[39] वही, पृ0– 149

जोड़ती है तब भी। अगर दूसरा पक्ष नहीं बदलता है, पितृसत्तात्मक सोच नहीं बदलती है तो व्यवस्था और संस्था बदलने से कुछ हासिल नहीं होगा।

परिवार का क्या, यह तो मूर्त है, लेकिन इसके भीतर जो शोषणकारी व्यवस्था को पोषण देने वाली विचारधारा है वह अमूर्त है, और हर जगह व्याप्त है। अतः परिवार से भागने या परिवार को खत्म करने से समस्या हल नहीं होगी, बल्कि उस विचारधारा को खत्म करने से होगी। मुक्ति का यह संघर्ष, यह स्वरूप अन्य की अपेक्षा वैचारिक ज्यादा है।

स्वतंत्रता के लिए समानता, समानता के लिए व्यवस्था, और व्यवस्था के लिए संस्था जरूरी है, चाहे वह कोई भी हो– परिवार भी। परिस्थितिजन्य परिवर्तन उसमें उपेक्षित है, लेकिन उसे जड़ से खत्म कर देने से फिर दूसरी तरह की समस्याएँ खड़ी हो सकती हैं, जो शायद वर्तमान से ज्यादा जटिल हों।

परिवार में हम पितृसत्ता को ध्वस्त कर मानवीय सत्ता की स्थापना करने का उद्यम करें, तो क्या तब भी परिवार और स्त्री अपनी भूमिका को नहीं बदलेगें ? क्योंकि शोषण खत्म होना चाहिए सम्बन्ध नहीं। जहां सम्बन्धों के विघटन की बात आती है, वहां आलोचकों की उँगली उठने लगती है'–

''स्त्री–विमर्श का हाल यह है कि पति पत्नी और बच्चों की जो परिवारिक इकाई थी (सास–सुसर आदि तो पहले ही छूट चुके हैं) वह स्त्री विमर्श और अस्मिता के चलते भंग होती नजर आ रही है। स्त्री–विमर्श काफी दूर तक अपने सरलीकृत रूप में रसोई से मुक्ति का विमर्श बनता जा रहा है। रसोई से निजात मिलने का सीधा मतलब है कि दिन–रात के भोजन आदि की व्यवस्था के लिए आप खुद–ब खुद बाजार की झोली में जा पड़ेंगे।''[40]

इसके आगे की परिस्थितियों की कल्पना करते हुए बहुत ही सुलझे तरीके से और बहुत ही सुन्दर ढंग से गोबिन्द प्रसाद एक और बात कहते हैं–

---

[40] गोबिन्द प्रसाद 'आलाप और अंतरंग' पृ0– 72

''एक हद तक बात सही भी है।रसोई का बच्चों का या घर का सारा ठेका औरतों ने ही थोड़े ले रखा है। अब जब दोंनों दफ्तर आदि में काम करने वाले हैं तो यह बहुत स्वाभाविक है कि घर कौन संभागेगा, बच्चों को कौन देखेगा या फिर रसोईघर में कौन जाएगा। देश–काल परिदृश्य बदलने से भूमिकाएँ भी बदल गई हैं। सवाल यह है कि आखिर घर और परिवार की इकाई के लिए परम्परा और समाज द्वारा जो गढ़ी गई औरत थी अब उसका स्थानापन्न क्या होगा। परिवार नाम की इकाई और घर (हम कहीं भी हों और किसी हाल में भी क्यों न हों आखिरकार लौटतें घर पर ही हैं) जिसमें हम बार–बार लौटते हैं उसे कौन संभालेगा, वह कैसे बचेगा। पुरुष को पहल करके स्त्री की बदली हुई परिस्थितियों को समझकर स्त्री की समस्याओं और उसकी आकांक्षा एवं त्याग की जरूरतों को पूरा करना होगा। अपने भीतर की मर्दवादी रूढियों को त्यागकर सच्चे साथी के रूप मे स्त्री का हाथ थामना होगा वरना न जाने कितने घर टूट जाएँगे, इस विमर्श की गलत समझ के कारण। कितने पति–पत्नी स्त्री–पुरूष में बदल गए..... न जाने कितने और बदलेंगे।''[41]

[41] वही, पृ0– 72

तीसरा अध्याय

आत्मकथाओं में अभिव्यक्त यथार्थ के आयाम

1. प्रेम, विवाह और परिवार का अन्तर्जाल
2. अधिकार की माँग बनाम पारिवारिक विघटन
3. परिवार और परिवार से बाहर जीवन–संघर्ष
4. स्त्री यौन–शोषण के विभिन्न रूप
5. अभिशाप–दर–अभिशाप : स्त्री अस्मिता के वर्ग–वर्ण संबंधी प्रश्न

तीसरा अध्याय

स्त्री आत्मकथाओं में अभिव्यक्त यथार्थ के आयाम

हिन्दी साहित्य में स्त्री अस्मिता विमर्शपरक एवं दलित अस्मिता विमर्शपरक साहित्य के अन्तर्गत अनेक विधाओं में रचनाएँ हो रही हैं, किंतु स्त्रियों एवं दलितों के बहुआयामी शोषण और उनके संघर्ष की सशक्त अभिव्यक्ति आत्मकथा विधा में ही हो रही है। ये आत्मकथाएँ न केवल अस्मिता–विमर्शपरक साहित्य की केन्द्रीय विधा के रूप में स्वयं प्रतिष्ठित हुई हैं बल्कि इन्होंने पूरे हिन्दी साहित्य में आत्मकथा को एक महत्वपूर्ण विधा के रूप में स्थापित किया है। महिला आत्मकथाकारों की परम्परा पर प्रकाश डालते हुए बलवंत कौर लिखती हैं–

''महिला आत्माभिव्यक्ति के कुछ छुट–पुट उदाहरण मीरा के काव्य में और 1882 में लिखी 'सीमंतनी उपदेश' में भी मिलते हैं, पर यह आत्माभिव्यक्तियाँ आत्मकथाओं के अकादमिक अनुशासन में नहीं आती हैं। लेकिन 'हम' और वह शैली में लिखी यह आत्माभिव्यक्तियाँ समुदायगत त्रास और पीड़ा को तो अभिव्यक्त करती ही हैं।''[1]

हिन्दी की प्रथम स्त्री आत्मकथा के बारे में बलवंत कौर लिखती हैं– ''हिन्दी में लिखी किसी पहली महिला की आत्मकथा प्रज्ञा पाठक द्वारा खोजी गयी 'सरला : एक विधवा की आत्मजीवनी' है, जो जुलाई 1915 से मार्च 1916 तक के 'स्त्री दर्पण' पत्रिका के अंकों में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुई थी।''[2] लेकिन रोहिणी अग्रवाल 'सरला : एक विधवा की आत्मजीवनी' को आत्मकथा मानने से इंकार करती हैं। वे लिखती हैं–

''सरलाः एक विधवा की आत्मजीवनी' की महत्ता आत्मकथा शैली में अपने वैधव्य पर क्रन्दन कर सामाजिक सहानुभूति बटोरने में नहीं है। वस्तुतः यह आत्मकथा है ही नहीं। यह डिबेट और फैंटेसी जैसी नई कथा–शैली का उपयोग

---

1 बलवंत कौर ,हाशिए का वृत्तान्त, संपादक : दीपक कुमार, देवेन्द्र चौबे, पृष्ठ : 170

2 वही, पृष्ठ : 173

करके स्त्री–पुरुष की समानता की अवधारणा को सिद्ध करने के लिए रची हुई औपन्यासिक रचना है।''[3]

हालाँकि अब तक यह पूर्णरूपेण सिद्ध नहीं हो पाया है कि उक्त रचना 'आत्मकथा' नहीं है, अन्य रचनाकार भी इसे आत्मकथा ही मानते हैं। खैर इतना तो निर्विवाद है कि यह रचना स्त्री जीवन के शोषणपरक यथार्थ को उद्‌घाटित करती है।

हिन्दी साहित्य में विमर्शकारी आन्दोलनों के उत्थान के बाद महिलाओं की आत्मकथाएँ प्रकाश में आने लगीं।कुसुम अंसल की 'जो कहा नहीं गया' (1996), कृष्ण अग्निहोत्री की 'लगता नहीं है दिल मेरा' (1997) तथा 'और.... और... औरत' (2010), पद्‌मा सचेदव की 'बूँद–बावड़ी' (1999), कौसल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप' (1999), मैत्रेयी पुष्पा की 'कस्तुरी कुंडल बसै' (2002) तथा 'गुड़िया भीतर गुड़िया' (2008), प्रभा खेतान की 'अन्या से अनन्या' (2007), मन्नू भंडारी की 'एक कहानी यह भी' (2007), चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की 'पिंजरे की मैना' (2008), शीला झुनझुनवाला की 'कुछ कही कुछ अनकही', रमणिका गुप्ता की 'हादसे' (2010) एवं 'आपहुदरी', सुशीला टाकभौंरे की 'शिंकजे का दर्द' (2011) आदि महत्वपूर्ण आत्मकथाएँ है जो अपनी उपस्थिति मजबूती से दर्ज करा रही हैं।

आत्मकथाएँ किसी भी व्यक्ति के जीवन में प्रवेश करने का साहित्यिक माध्यम हैं। जीवन में प्रवेश के साथ ही यह आत्मकथाकार के समय, समाज और अन्तर्मन में प्रवेश का भी प्रामाणिक माध्यम हैं। विनीता अग्रवाल लिखती हैं कि ''आत्मकथाएँ ऐसे अन्तः साक्ष्यों की श्रृंखलाएँ हैं जो दूसरे व्यक्तियों की जागरूक मुद्राओं के भीतर झाँकने की अद्वितीय दृष्टि देती हैं।''[4]

लेकिन उस अद्वितीय दृष्टि का रिमोट कंट्रोल क्या खुद आत्मकथाकार के पास नहीं होता ? क्योंकि पाठक वही देखता, पढ़ता, समझता है जो आत्मकथाकार

---

[3] रोहिणी अग्रवाल, स्त्री लेखन : स्वप्न और संघर्ष; पृष्ठ : 67

[4] विनीता अग्रवाल, हिन्दी आत्मकथाएँ : सिद्धान्त एवं स्वरूप विश्लेषण, प्रथम संस्करण : 1989, पृष्ठ : 1

का अभीष्ट है। वह उसी यथार्थ को पकड़ने की कोशिशक करता है जो आत्मकथा में वर्णित है। प्रश्न यह है कि यह कैसे तय किया जाए कि आत्मकथाकार जिस यथार्थ को प्रस्तुत कर रहा है, वह सत्य है। यदि मान भी लिया जाए कि आत्मकथाकार सत्य ही लिख रहा है तो क्या इस बात की पूरी संभावना नहीं बनती कि वह सत्य एकांगी और एकपक्षीय होगा ?

विनीता अग्रवाल का मानना है कि चूँकि आत्मकथा स्मृति आधारित होती है तथा सही और गलत दोनों का निर्णय एक ही व्यक्ति करता है, वो भी स्वयं के बारे में तो, यह संभव है कि उसकी दृष्टि निष्पक्ष एवं आलोचनात्मक न रह सके। वे लिखती हैं–

''स्मृतियाँ सर्वदा व्यक्ति की तत्कालीन मानसिक अवस्थाओं, सामाजिक स्थितियों, तात्कालिक जीवन–प्रवाहों आदि के प्रति समय सापेक्ष होती हैं। यही कारण है कि आत्मकथाओं को अपनी 'निष्पक्षता' में असंभव माना जाता है। स्मृति गतिशीला है। तथ्यों को तोड़ने–मरोड़ने की उसकी निजी सृजनात्मक शक्ति अबाध है। स्मृतियों को एक निश्चित रूपाकार देने की प्रक्रिया में व्यक्तिगत पक्षपातों, पूर्वाग्रहों एवं सहज मानवीय भावनाओं की महत्वपूर्ण भूमिका को भूला नहीं जा सकता। अतः स्मृति स्वयं में प्रामाणिक रूप में एक भ्रांत उपकरण है, जिसकी अपनी प्राथमिकताएँ एवं नापसंदगियाँ हैं। अनायास ही स्मृति अपने असह्य अपमानों पर आवरण डाल देती है।.....सब कुछ स्पष्टतः स्वीकार करने की घोषणा करने वाले आत्मकथाकार भी मात्र उन तथ्यों को स्वीकार करते हैं, जिन्हें दूसरे 'गलत' समझें। लेकिन वैसे तथ्य जिन्हें उनकी आत्मा 'पाप' समझती है या जिन तथ्यों के सम्मुख उन्हें अपनी ही अन्तरात्मा के सम्मुख अपनी 'मूर्ति' टूटती दिखाई दिखती है, उन्हें स्वीकारते समय वे पीछे हट जाते हैं।''[5]

दरअसल लेखिका जिन संभावनाओं के बारे में बात कर रही हैं वे हिन्दी की पारम्परिक आत्मकथाओं पर ज्यादा लागू होती हैं, क्योंकि इन आत्मकथाओं में

---

[5] वही, पृष्ठ : 363–364

व्यक्तिगत प्रतिष्ठा एक महत्वपूर्ण प्रश्न हैं। हिन्दी की परम्परागत आत्मकथाओं के स्वरूप और उद्देश्य का विश्लेषण करते हुए तेज सिंह लिखते हैं–

''आत्मकथा का लेखक कोई सामान्य व्यक्ति नहीं होता बल्कि वह एक विशिष्ट और प्रतिष्ठित व्यक्ति होता है।..... आत्मकथा व्यक्ति केन्द्रित होती है.... और वह व्यक्ति विशेष के द्वारा जीवन के द्वारा जीवन के अंतिम दिनों में लिखी जाती थी जब वह विशिष्ट व्यक्ति अपना सुखी–सम्पन्न जीवन जीकर आत्मसंतुष्टि की स्थिति में पहुँच जाता था।... आत्मकथा में लेखक का लक्ष्य अपने आपको ही प्रतिष्ठित करना होता है.. परम्परागत आत्मकथाओं में आत्म–आलोचना का पूर्णतया अभाव होता है।''[6]

कई बार सामाजिक, पारिवारिक, यौनिक नैतिकता सम्बन्धी दबाव के फलस्वरूप भी आत्मकथाकार पूर्ण सत्य को नहीं उद्घाटित कर पाता है। विनीता अग्रवाल लिखती हैं कि इसके बावजूद सत्य इतना प्रबल होता है कि वह आत्मकथा में प्रकट हो ही जाता है–

''आत्मकथाकार का काम अपनी आत्मकथा में संगतराश–सा होता है। अपने जीवन–कथा रूपी पत्थर को तराशता हुआ वह एक कलात्मक जीवन–मूर्ति का निर्माण करता है। तराशने की चूक आत्मकथा को उतना भर पत्थर–सा छोड़ जाती है। यह तराश आत्मकथाकार अपने निजी विशिष्ट संतुलित सच की छेनी से ही कर सकता है। सच तो यह है कि आत्मकथाकार के अनजाने में ही अन्ततः आत्मकथा का सच मानो अपने पाठक का हाथ पकड़कर उस सही बेलौस 'खुद' तक पहुँचा देता है जो निहत्था होता है और अपने को छिपाने का मानवीय सामाजिक प्रयत्न करता हुआ भी आत्मकथाकार वस्तुतः अपनी आत्मकथा–प्रक्रिया में विवशतः 'जस–का–तस' छूट जाता है।''[7]

उपर्युक्त उद्धरण में लेखिका जिस खास बात की और इशारा करती हैं वो ये है कि गोपन के लाख प्रयत्न के बावजूद सत्य प्रकट हो जाता है। वस्तुतः

---

6 तेजसिंह, अपेक्षा, जुलाई–दिसम्बर 2010, संपादक : तेजसिंह, पृष्ठ : 11

7 विनीता अग्रवाल, 'हिन्दी आत्मकथाएँ सिद्धान्त एवं स्वरूप विश्लेषण', पृष्ठ : 379

आत्मकथाकार चाहे जितनी भी सावधानी बरते, कहीं–न–कहीं कोई दरार छूट ही जाती है जिससे सत्य स्वतः ही उद्घाटित हो जाता है।

पारम्परिक आत्मकथाओं एवं अस्मिता विमर्श की आत्मकथाओं में एक महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि ये आत्मकथाएँ जीवन की कलात्मक मूर्ति न होकर जीवन का खुरदरा यथार्थ हैं, इनमें सजावट का कोई सायास प्रयास नहीं है। अस्मिता विमर्श के अन्तर्गत लिखी जा रही आत्मकथाएँ चाहे वो स्त्री आत्मकथा हों या दलित आत्मकथा – पाप–पुण्य, नैतिकता, अनैतिकता, यौन सम्बंधी संकोच आदि संदेहों, पूर्वाग्रहों से मुक्त हैं। ये आत्मकथाएँ अपने अधिकार और इच्छा को महत्व देते हुए सामाजिक यथार्थ को उसके वास्तविक स्वरूप में प्रस्तुत करने के उद्देश्य से लिखी जा रही हैं।

ये आत्मकथाएँ सामाजिक लैंगिक भेद–भाव, शोषण, अन्याय, दमन, वर्चस्व को प्रामाणिक रूप से रेखांकित करने के लिए लिखी जा रही हैं न कि व्यक्तिगत उपलब्धि या महानता के वर्णन के उद्देश्य से। आत्मकथाओं में व्यक्ति से ज्यादा समाज महत्वपूर्ण है, सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति ही इनका मुख्य उद्देश्य है। दलित आत्मकथाओं के बारे में बजरंग बिहारी तिवारी लिखते हैं– ''उत्पीड़न के स्वरूप की बात करें तो दलित आत्मवृत्तों में भौतिक, मानसिक तथा मिश्रित तीनों तरह के उत्पीड़न दर्ज हैं। दलित बस्ती पर हमला, पिटाई, आगजनी, आर्थिक दंड आदि भौतिक या शारीरिक उत्पीड़न हैं और तिरस्कार, अपमान, दुर्वचन, मानसिक उत्पीड़न, स्त्रियों का बलात्कार, शोषण देह और मन दोनों को घायल करता है।..... उत्पीड़नों के ऐसे प्रसंगों से दलित आत्मवृत्त भरे पड़े हैं। उत्पीड़नों का सिलसिला दूर तक जाता है। कहने को तो ये लेखक/लेखिका के व्यक्तिगत पारिवारिक अनुभव हैं लेकिन असल में पूरे समाज का सच बयान करते हैं। उस सच का,

जिसका अतीत शताब्दियों तक फैला है और जनतंत्र के बावजूद जिसका वर्तमान व भविष्य फिलहाल महफूज लगता है।''[8]

यही कारण है कि अस्मिता विमर्श के अन्तर्गत आत्मकथा विधा पुनर्प्रतिष्ठित और लोकप्रिय हुई है, क्योंकि यह यथार्थ को बिना किसी लाग–लपेट के उसके वास्तविक स्वरूप में अभिव्यक्त करती है। इस अर्थ में यह सत्य के ज्यादा करीब हैं। हालाँकि मृदुला गर्ग का मानना है कि –

''मुझे लगता है, लेखक सबसे ज्यादा सच्चा और ईमानदार तब होता है, जब सृजनात्मक लेखन कर रहा होता है और सबसे कम ईमानदार तब, जब आत्मकथा में सायास 'सच' लिख रहा होता है।''[9]

आत्मकथा में सच पचास प्रतिशत भी आ पाता है तो वह ज्यादा प्रामाणिक और उत्तरदायित्वपूर्ण लेखन है, बजाय रचनात्मक लेखन में सौ प्रतिशत सच के। क्योंकि रचनात्मक लेखन का सौ प्रतिशत सत्य भी कल्पना के आवरण से आच्छादित होता है।

स्त्री आत्मकथाएँ स्त्री मुक्ति के व्यापक दृष्टिकोण एवं संघर्ष से जुड़ी हैं। पितृसत्तात्मक वर्चस्व को चुनौती देने के साथ ही वह स्त्री सम्बन्धी इसकी परिभाषाओं को भी बदलने के लिए आतुर हैं। इन आत्मकथाओं के माध्यम से स्त्री अपने शोषण एवं संघर्ष का प्रामाणिक यथार्थ सामने लाती है।

यह महत्वपूर्ण बात है कि स्त्री अस्मिता विमर्श (दलित या गैर दलित स्त्री विमर्श आदि) ने आत्मकथा विधा को नई अर्थक्ता प्रदान की है, किन्तु शोषण, हिंसा, कुरूपता, विद्रूपता के किन अर्थों एवं प्रक्रियाओं से गुजरकर ये आत्मकथाएँ स्त्री–जीवन के कटु यथार्थ का सामाजिक, साहित्यिक दस्तावेज बनती हैं, यह

---

8 बजरंग बिहारी तिवारी, अपेक्षा, जुलाई–सितम्बर 2010, संपादक : तेजसिंह, पृष्ठ : 31–32

9 मृदुला गर्ग, औरत उत्तरकथा, संपादक : राजेन्द्र यादव, अर्चना वर्मा, पृष्ठ : 84

जानना विमर्शों की सही राह पकड़ने एवं सामाजिक उन्नयन करने की दिशा में सहयोगी होगा।

1. प्रेम, विवाह और परिवार का अन्तर्जाल

प्रेम, विवाह और परिवार स्त्री के जीवन को बहुत ही गहराई से प्रभावित और संचालित करने वाले कारक हैं। ये वे कारक हैं जो स्त्री के भविष्य का स्वरूप निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। प्रेम, विवाह और परिवार के अन्तर्जाल से घिरी स्त्री लगातार इन तीनों से टकराती और जुझती रहती है। आत्मकथा लेखिकाओं के जीवन में भी प्रेम आता है, कुछ का प्रेम विवाह में परिणत होता है, किसी के लिए प्रथम प्रेम सिर्फ याद बनकर रह जाता है।

स्त्री के जीवन में प्रेम का पदार्पण क्रान्तिकारी घटना है, परिवार और समाज से विद्रोह की पहली सीढ़ी है। पितृसत्ता के प्रति खुला चैलेंज बन जाता है स्त्री का प्रेम में पड़ना। राजेन्द्र यादव लिखते हैं–

''जिस दिन स्त्री ने प्यार किया उसी दिन उसने विद्रोह की शुरुआत की। प्यार उसका अपना चुनाव था। इसलिए यथास्थिति से विद्रोह था। इसी अर्थ में प्यार स्वयं विद्रोह होता है।''[10]

आत्मकथा लेखिकाओं के जीवन में भी प्रेम यथासमय दस्तक देता है। कुछ लेखिकाएँ प्रेम विवाह करती हैं, कुछ पारम्परिक विवाह करती हैं, कुछ विवाह के बाद किसी और से प्रेम करती हैं, किसी का प्रेम विवाह के बाद मुरझा जाता है, किसी को विवाह के बाद साथी से प्रेम होता है। प्रेम के सारे रंग–रूप–रस–गंध और इन सबके साथ–साथ अन्तर्भुक्त रूप से परिवार के जुड़ाव–टकराव का सामना करती हैं ये आत्मकभा लेखिकाएँ।

---

[10] राजेन्द्र यादव, हंस, जून 2008, संपादक : राजेन्द्र यादव, पृष्ठ : 6

कुसुम अंसल के जीवन में प्रेम की प्रथम आहट खुशबू बनकर आती है, किंतु वह विवाह तक नहीं पहुँच पाता। विवाह के बाद प्रेम के स्वरूप पर वे विस्तार से चिंतन करती हैं। उनकी आत्मकथा 'जो कहा नहीं गया' से प्रेम के दो उद्धरणों (प्रथम प्रेम एवं दाम्पत्य प्रेम) को एक साथ पढ़ना, महसूस करना स्त्री की पूरी विडम्बना को उजागर करता है–

''यदि मैं प्रेम को अपने लिए परिभाषित करती तो कहीं टीसता था मेरा अपना नन्हा–सा अंकुरित प्रेम जो उपेक्षाओं की आँधी में पल्लवित नहीं हुआ।''[11]

यह किसी भी लड़की के जीवन का प्रथम प्रेम है, जो समाज परिवार आदि की उपेक्षा, डर के कारण समय से पहले मुरझा जाता है। पितृसत्तात्मक दबावों में पिसती लड़की अपने प्रेम के लिए अक्सर विद्रोह नहीं कर पाती, जो हमारे भारतीय समाज का कटु यथार्थ है। विवाह से पूर्व स्त्री के लिए प्रेम वर्जित है और विवाह के बाद प्रेम की तलाश उसकी विडम्बना –

''प्रेम एक विशेष इच्छा के रूप में प्रत्येक हृदय में बहता और तरंगित होता रहता है। यह इच्छा मात्र स्त्री–पुरुष ही नहीं, वृक्ष की जड़ और फूलों में भी होती है, श्वास और वायु में भी होती है। प्रेम स्त्री–पुरुष के मध्य घटित होता है जिसे शायद शरीर के पाँच तत्व भी चाहें तो ढूँढ़ नहीं पाते। प्रेम को हवा की तरह ओढ़ा जा सकता है, समुद्र–सा लपेटा जा सकता है और पर्वतों की तरह बाँहों के बंधन में आलिंगित किया जा सकता है। प्रेम हमारा वायदा है अपने आप से किया हुआ जिसे हमें निभाना होता है। मुझे लगता था, प्रेम कोई प्रक्रिया या प्रोसेस नहीं है जिसमें शरीरों का जुड़ना या विछुरना शामिल होता है, प्रेम तो बीज की तरह अंकुरित होता है और फूल सा खिलता है, प्रेम मनुष्य के भीतर एक सूक्ष्म–सी मानवीय चेतना है जो ऊपर उठकर अजन्मा शाश्वत में बदल जाती है। मैं प्रेम कर रही थी और प्रेम के प्रतिदान की इच्छा में जी रही थी। परन्तु प्रेम के अनेक आयाम होते हैं, डायमेन्शन, बस यहीं पर विरोधाभास के लक्षण उभर आये थे। सुशील में एक आश्चर्यजनक संयम था और वह बहुत व्यावहारिक भी थे। वह प्रेम

---

[11] कुसुम अंसल, जो कहा नहीं गया, पृष्ठ : 42–43

को गंभीरता से लेते थे और किसी भी बाहरी प्रदर्शन में विश्वास नहीं रखते थे– जबकि मैं अपने इस पुनरुज्जीवन के क्षण में एक खुलापन चाहती थी, एक व्योम जहाँ खुलकर साँस ली जा सके, कुछ भी अवरुद्ध न रहे, प्रेम बँधी हुई धारा की तरह न बहकर विशाल प्रपात–सा मेरे अस्तित्व को भिगो जाये। परन्तु वैसा नहीं हुआ, एम मध्यवर्गीय, रुढ़िवादी परिवार का जैसा संकुचित जीवन होता है वह मेरे समानान्तर चलता रहा, मैं भरसक एक दूरी बरत कर उसे अपने ऊपर छा जाने से रोकती रही। मेरे भीतर की चेतना उसे जब तक बन पड़ा अस्वीकार करती रही, पर उस समय का सच वही था– परिणाम स्वरुप पुनः एक निराशाजनक घुटन मेरे परिवेश में धुएँ–सी फैलने लगी। मेरा दाम्पत्य एक घिसे हुए तयशुदा रास्ते पर चलने लगा जो मुझे स्वीकार नहीं था। सुशील चाहते थे मैं बदल जाऊँ, आम स्त्रियों की तरह खुश रहूँ परन्तु प्रेमी एक दूसरे के लिए वस्तु नहीं हो सकते, और अपने लिए वस्तु हो जाना मुझे कतई स्वीकार नहीं था।''[12]

यह है एक स्त्री का प्रेमिल मन। यह उद्धरण लगभग हर भारतीय स्त्री–पुरुष के दाम्पत्य–प्रेम का प्रतिनिधत्व करता है। उसके यथार्थवादी रूप को उद्‌घाटित करता है। स्त्री प्रेम में क्या, कहीं भी वस्तु नहीं होना चाहती। स्त्री के लिए प्रेम जीवन है, जिसे वह जीवन–पर्यन्त ढूँढ़ती है– शायद कहीं मिल जाये। जिम्मेदारियाँ तो स्त्री भी निभाती है, हाड़तोड़ श्रम वह भी करती है, किन्तु इसके साथ ही वह प्रेम करना जानती है, प्रेम को जीना जानती है, उसके लिए मिटना जानती है। शायद स्त्री के लिए प्रेम जीवन से भी आगे की तलाश है। यहीं पर आकर स्त्री और पुरुष के लिए प्रेम की परिभाषा अलग हो जाती है। प्रेम के बारे में कवि, आलोचक गोबिन्द प्रसाद उचित ही लिखते हैं कि– ''प्रेम शायद रास्ता ही रास्ता है मंजिल का पता ढूँढ़ना बेमानी है।''[13]

किशोरवय प्रेम के अनेक रंग मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा 'कस्तूरी कुंडल बसै', 'गुड़िया भीतर गुड़िया', कृष्णा अग्निहोत्री की 'लगता नहीं है दिल मेरा; रमणिका गुप्ता की 'हादसे', पद्‌मा सचदेव की 'बूँद–बावड़ी' में अभिव्यक्त हुआ है।

---

12 वही, पृष्ठ : 57–58

13 गोबिन्द प्रसाद 'अलाप और अतरंग पृष्ठ : 24

पद्मा अपने प्रथम प्रेम को बहुत ही शिद्दत के साथ महसूस करती हैं, जीती हैं। प्रेम के अलावा वह कुछ और नहीं सोचतीं और अपना वर्चस्व प्रेम पर निछावर कर देती हैं। उनके लिए प्रेम एक ऐसी धारा बन जाता है जिसमें वे अपने आपको बहाव के हवाले कर देती हैं– बिना कुछ आगा–पीछा सोचे–

''मुहब्बत ने वो सभी चालें खेली जो इस खेल में लाजमी थीं। अहदोपैमा हुए घरवालों को भी पता चल गया और मुलाकातें बढ़ती रहीं। पूरी दुनिया बदल आई। अपराध का एक बोध मुझे भी खाने लगा। ये वो वक्त था, जब शायद मेरी माँ को मेरी सबसे ज्यादा जरूरत थी। पढ़–लिखकर मैं कोई नौकरी करके माँ के हाथ मजबूत कर सकती थी, ताकि मेरे भाई अपने पैरों पर खड़े हो सकें। यही तो मैंने अब तक चाहा था, पर मुहब्बत मलेरिया बुखार की तरह चढ़ी थी। उस खुमार में मैं दीपजी के सिवाय हर किसी को भूल गयी। मुझे सिर्फ ये याद रहा– जब हमारी शादी होगी तब दीपजी शराब पीना छोड़ देंगे, तब दुनिया सुन्दर हो जाएगी। मैं ठीक सोची हुई योजना की तरह नौकरी कर लूँगी। दो वक्त की रोटी कमाना कोई बड़ी बात नहीं होती।''[14]

पद्मा ने सपनों से भरे मन के साथ जिस पुरुष का हाथ पकड़ा, विवाह के बाद वही प्रेमी पति उनके सपनों को बेदर्दी से तोड़ देता है। हालाँकि पद्मा जिस पुरुष से प्रेम और विवाह करती हैं, वे डोगरी के प्रसिद्ध कवि थे, लेखिका भी डोगरी भाषा की प्रसिद्ध कवयित्री होती हैं, बहुत हिम्मत और बहादुरी के साथ प्रेम को विवाह तक पहुँचाती हैं। जीवन जीने की सारी आदर्श परिस्थितियों के बावजूद पद्मा का जीवन नारकीय हो जाता है। पद्मा ये नहीं समझ पातीं कि दोष किसे दें– स्वयं के सिवा।

''मेरे सिरहाने सिर्फ माँ खड़ी थीं। मुझे उनसे अपना कद छोटा लगा। मेरी असहाय–सी माँ अकेली ही अंदर–बाहर आ जा रही थी; और जिस शख्स के लिए मैंने अपनी माँ को आधी राह में छोड़ दिया था उसका कोई पता नहीं था। मरने वाले के साथ कोई नहीं जाता, ये मैं जानती थी पर अस्पताल तो सभी जाते हैं।

---

[14] पद्मा सचदेव, बूँद बावड़ी, पृष्ठ : 123–124

अपने आप मुझे बेहद ग्लानि हुई। हर बात का एक ही कारण था– मेरे स्व0 पिताजी। वे होते तो क्या मैं एक शराबी को सूफी करने का ऐसा दुस्साहसी कदम उठा सकती थी। माँ ही अगर इतनी सीधी–सादी न होतीं तो क्या उन्हें पता न चलता, मैं कौन–सी राह की तरफ बढ़ रही हूँ। अपनी अच्छृंखलता और बहुत ज्यादा आत्मविश्वास से ही मैं धोखा खा गयी। अरी पद्मा, बेवकूफ लड़की, आज तक दुनिया की कोई भी औरत शराबी पति को सूफी नहीं बना सकी। मर्द इश्क करता है। मर्द का इश्क औरत के लिए दुनिया का सबसे खूबसूरत करिश्मा है। सबसे सुन्दर वस्तु है, दाय है। पर मर्द के अहंकार को कोई स्त्री नहीं तोड़ सकी। अगर उसका अहंकार टूट भी जाता है तो भी वो इसे कभी स्वीकार नहीं करता, क्योंकि उसके पुरखों ने मर्द को ये शिक्षा दी है कि स्त्री पाँव की जूती होती है, छोटी–बड़ी हो जाए तो उसे उतार फेंक। नई खरीद लो। गँठवा लो।''[15]

चन्द्र किरण सौनरेक्सा, रमणिका गुप्ता, मन्नू भंडारी भी प्रेम विवाह करती हैं किंतु इनमें से किसी का भी दाम्पत्य जीवन, प्रेमयुक्त, सामंजस्यपूर्ण और संतुलित नहीं नजर आता। इन सब में शीला झुनझुनवाला का प्रेम विवाह ही एकमात्र स्वस्थ और सफल प्रेम विवाह माना जा सकता है। शीला झुनझुनवाला एकमात्र सफल दाम्पत्य जीवन जीती हैं, हालाँकि अपनी आत्मकथा में वे अपने पति टी0पी0 ठाकुर (आयकर कमिश्नर) के आयकर विभाग के छापों का ही विस्तृत वर्णन ज्यादा करती हैं। प्रेम का एक रूप प्रभा खेतान की 'अन्या से अनन्या' आत्मकथा में अभिव्यक्त हुआ है। कलकत्ता के पारम्परिक मारवाड़ी परिवार में जन्मी प्रभा बिना शादी किए, शादीशुदा, चार–पाँच बच्चों के बाप डॉ0 सर्राफ के साथ पूरा जीवन गुजारती हैं। डॉ0 के साथ अपने जुड़ाव, अपने प्रेम के बारे में प्रभा लिखती हैं–

''क्या यह देह का आकर्षण था। नहीं, देह के लिए भला इतनी कीमत देने की क्या जरुरत ? देह तो हर जगह उपलब्ध है, कहीं भी, किसी भी कोने में। तब मन का लगाव था ? इसे प्रेम कहा जाए, हाँ.... नहीं.... वैसे सब कुछ देह से शुरू होता है। फिर पर्त दर पर्त धूल मन पर जमती चली जाती है। और फिर एक दिन प्रेम के मीठे से भी मन भर जाता है। बची रहती है– एक रुग्ण निर्भरता, डॉक्टर

---

[15] वही, पृष्ठ : 132

साहब मेरे लिए सुरक्षा के प्रतीक थे। मानो उनके लिए मैं जिन्दा थी, उनको कुछ हो जाए ऐसा मैं सोच भी नहीं पाती। डॉक्टर साहब मेरे लिए बरगद की छाँव थे। मेरी जिन्दगी का पड़ाव, मेरा सब कुछ, रुपये–पैसे की मुझे कोई चिंता नहीं, मैं आत्मनिर्भर थी।..... पर मन ? इस मन के सूनेपन का क्या करती ? डॉक्टर साहब के अलावा और किसी से मैं क्यों नहीं जुड़ पाती। मेरा यह अजीब स्वभाव रहा है।... सुख–दुख में साथ निभाते हुए । उनसे जान–पहचान हुए पच्चीस साल हो गए, पच्चीस साल.... बहुत लम्बे होते हैं। पर लोग अब भी हमारा संबंध स्वीकार नहीं कर पाते।''[16]

प्रभा खेतान एक सफल व्यवसायी, आर्थिक रूप से सक्षम, एक स्वतंत्र चेता महिला है। किंतु औरत होने की तकलीफ से वे भी नहीं बच पातीं। उनके जीवन में भी वही पुराने जख्म हैं जो लगभग हर औरत की नियति हैं। शादी न करके भी प्रभा पत्नी होने के सारे फर्ज निभाती हैं, किंतु समाज और सम्बन्धों के तिलिस्म में अपनी पहचान को भी तलाशती जाती हैं–

''मैं प्रभा खेतान... मैं कौन हूँ ? क्या मेरी कोई पहचान नहीं है ? मैं सधवा नहीं, क्योंकि मेरी शादी नहीं हुई, मैं विधवा नहीं.... क्योंकि कोई दिवंगत पति नहीं, मैं कोठे पर बैठी हुई रंडी भी नहीं.... क्योंकि मैं अपनी देह का व्यापार नहीं करती। मैं किसी पर निर्भर नहीं करती, स्वावलंबी हूँ, अपना भरण–पोषण खुद करती हूँ। स्वेच्छा से एक जीवन का वरण किया है। तब मैं क्या हूँ ? मैं अबोध हूँ... अबोध माने मूर्ख। दीन–दुनिया से बेखबर, समाज की सच्चाइयों से दूर। मैं विवाहित होकर किसी से अफेयर चलाए रखती, कुछ दिनों तक... तब भी ठीक था। लोग स्वीकार कर लेते, आवारगी को समाज स्वीकार कर लेता है। मगर अविवाहित रहकर एक विवाहित पुरुष, पाँच बच्चों के पिता के साथ टँगे रहना, भला यह भी कोई बात हुई ?''[17]

---

16 प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, पृष्ठ : 14

17 वही, पृष्ठ : 12

स्त्री को अपनी अस्मिता की स्थापना के लिए जरुरी मूल्यों काो हासिल करने की वकालत करते हुए मृव्यल पाण्डे लिखती हैं– ''स्त्री की इनत माम बनी–बनायी रुढ़िबद्ध छवियों को नकारकर स्त्रियों द्वारा अपनी अस्मिता की सही खोज, शिक्षा और उसके द्वारा आयी जीविकोपार्जन की क्षमता से ही संभव है। यही वह पुल है, जो उसकी वर्तमान अर्द्धमानव की स्थिति से उसे सम्पूर्ण मानव के दर्जे तक ले जाकर पुरुष से धीमे–धीमे उसकी सही पहचान स्थापित कर सकता है।''[18]

लेकिन प्रभा खेतान तो इन सभी विशेषताओं से युक्त हैं। फिर भी वो अपनी पहचान को समाज में मान्यता नहीं दिला पाती हैं, सिर्फ इस कारण कि वो विवाह नहीं करती और विवाहित पुरुष से जुड़ी हैं। प्रभा को विवाह कभी–कभी इतना जरुरी लगने लगता है कि समाज के तानों को सुनकर वे विक्षिप्त–सी हो जाती हैं– ''ऐसी परिस्थिति में मैं अपने ही बाल नोंचने लगती, चप्पलों से अपना सर पीटने लगती थी। उस वक्त मुझे अपने आपसे इतनी घृणा होती कि अपनी चिन्दी–चिन्दी बिखेर देना चाहती, चीखते हुए कहने लगती कि मैं मर क्यों नहीं जाती, खतम क्यों नहीं हो जाती। क्या होगा जीकर ? ऐसी स्थिति में डॉक्टर साहब कभी मुझसे प्यार करते, कभी नाराज होते, कभी समझाते। आखिर तुम इतनी हिस्टिरिक क्यों हो जाती हो ? क्या शादी ही सब कुछ है ? बिना शादी के तुम्हारा कोई अस्तित्व नहीं, तुम्हारी पढ़ाई–लिखाई, तुम्हारा व्यापार, तुम्हारी साहित्यिक कृतियाँ, तुम कुछ नहीं। नहीं, मैं कुछ नहीं.... कोई पहचान नहीं।.... जहाँ जाती हूँ वहीं तो सुनना पड़ता है। ''आपकी शादी किससे हुई है ?''[19]

स्त्री विमर्श में स्त्रियों के शोषण का एक प्रमुख बिन्दु विवाह संस्था भी है। यहाँ प्रभा खेतान के मानसिक शोषण का प्रमुख मुद्दा ही है कि वे विवाह नहीं करतीं, जबकि उनके और डॉक्टर सर्राफ के रिश्ते के बारे में सभी जानते हैं, उन्होंने कभी समाज से अपना रिश्ता छिपाया नहीं। किन्तु फिर भी समाज उन्हें अपमानित करने का एक भी मौका नहीं छोड़ता। पितृसत्तात्मक वर्चस्व इतना गहरा है कि स्त्री चाहे जितनी सक्षम हो, चाहे जितनी जागरूक हो, इसके शोषण से पार

---

18 मृणाल पाण्डे, स्त्री : देह की राजनीति से देश की राजनीति तकः पृष्ठ : 17

19 प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, पृष्ठ : 13

पाना, मुक्त होना आसान नहीं है। इस समाज में स्त्री के लिए अस्मिता विमर्श की सैधान्तिक बातें करना और उसे जीवन में उतारना दो अलग बाते हैं, दो अलग परिस्थितियाँ हैं– ''गर्भपात, भ्रूणहत्या, प्रजनन का अधिकार, स्त्री जीवन से सम्बन्धित न जाने कितने मुद्दों पर लिखती रही हूँ। मगर उस दिन अविवाहित मातृत्व की कल्पना मात्र से मेरा सर्वांग सिहर उठा था। बस किसी तरह इससे मुक्ति मिले, नहीं तो मेरे घरवाले मुझे फाँसी के तख्ते पर लटका देंगे। भ्रूणहत्या एक पापकर्म है ऐसी कोई भावना नहीं थी मेरे मन में।''[20]

यह पितृसत्ता का डर है, वह डर जो इज्जत के नाम पर बचपन से ही स्त्री के भीतर कदम–कदम पर भरा जाता है। स्त्री की हालत सर्कस के उस शेर की तरह हो जाती है जो डर के मारे रिंग मास्टर के इशारे पर नाचता रहता है। स्त्री की असली लड़ाई इस थोपे गए डर से है, तभी वो सही मायनों में स्त्री विमर्श की सैधान्तिकी को व्यवहार में परिणत करने में सक्षम हो सकेगी। बदलाव की शुरुआत भी वहीं से होगी। चूँकि पितृसत्ता संस्था से ज्यादा व्यवहार और विचार में संचालित होती है, अतः स्त्री विमर्श की लड़ाई भी इन अमूर्त षडयंत्रों से होनी चाहिए, वरना सिर्फ संस्था से संघर्ष करने से ही स्थितियाँ नहीं बदलेंगी, शोषण नहीं रुकेगा। राजेन्द्र यादव लिखते हैं–

''मैं जोर देकर कहना चाहूँगा कि हमारे यहाँ चलने वाला स्त्री–विमर्श शारीरिक उत्पीड़न, शोषण पर तो बहुत बातें करता है, उस मानसिक दमन से बिल्कुल बेखबर है जो उसके सोचने और अपने आपको देखने की कंडिशनिंग (विशेष दृष्टि का निर्माण) करता है– अर्थात् वे सिर्फ ऑप्रेशन को देख पाती हैं, उनके लिए सप्रैशन को समझ पाना जरुरी नहीं है।''[21]

वास्तव में स्त्री विमर्श को समझना होगा कि यह 'कंडिशनिंग' ही पितृसत्ता की असली जड़ है जिसके सहारे पितृसत्तात्मक वर्चस्व पीढ़ी–दर–पीढ़ी फलता–फूलता रहता है।

---

20 वही, पृष्ठ : 95–96

21 राजेन्द्र यादव, 'हंस', जून 2008, संपादक : राजेन्द्र यादव, पृष्ठ : 2

कौसल्या बैसंत्री कृत 'दोहरा अभिशाप' एवं सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' दलित स्त्री आत्मकथाएँ हैं। समाज में दलित स्त्री सबसे निचले स्तर पर खड़ी है, उसके लिए पुरुषसत्ता के दो रूप हैं– सवर्ण पुरुष सत्ता, दलित पुरुष सत्ता। इस सबके साथ प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से जाति सत्ता। इन दोहरी–तिहरी सत्ताओं से संघर्ष एवं अपनी अस्मिता को पहचानना, उसे स्थापित करना निश्चय ही दलित स्त्री के लिए बहुत कठिन कार्य है। लेकिन दलित स्त्रियाँ किस प्रकार इस कठिन कार्य को अपनी क्षमता और संघर्ष से सरल कर रही हैं– इसका प्रमाण हैं ये दलित आत्मकथाएँ।

शोषण का बहुस्तरीय अभिशाप झेलती दलित स्त्री के जीवन में किशोरवश प्रेम के लिए अवकाश ही कहाँ है ? जीवन की दुश्वारियों में, सुबह–शाम भरपेट भोजन की चिंता में जूझते हुए उसके मन में दूर तक प्रेम का ख्याल नहीं आता। इसके साथ ही पितृसत्तात्मक कंडिशनिंग भी तो है, जो उसके शरीर के साथ मन को भी बाँधे रखती हैं। सुशीला टाकभौरे लिखती हैं–

''पुरानी हिन्दी फिल्मों से, आदर्श कथा कहानियों से और माँ–नानी की शिक्षा से यही सीखा था, माता–पिता जिसके साथ मेरा विवाह करेंगे, उसी से प्यार करना है और उसी का प्यार पाना है। अपने मन से किसी अनजान लड़के से प्रेम करना पाप है। प्रेम शादी के बाद पति से ही किया जाता है, यह संस्कार बचपन से ही मिला था। प्रेम के आदान–प्रदान की और मन की कोमल भावनाओं के फलने–फूलने की सम्पूर्ण अपेक्षा शादी के बाद पति से ही की थी।''[22]

बचपन से ही स्त्री के मन में सभी विचारों, स्थितियों का केन्द्र बिन्दु पति से बना दिया जाता है, वह प्रेम करना चाहे तो शादी के बाद पति से करने की इजाजत। वह पढ़ना चाहे तो 'शादी के बाद पति खूब पढ़ायेगा' जैसे जुमले। वह घूमना चाहे तो शादी के बाद पति के साथ घूमना आदि। न जाने कितनी आशाएँ स्त्री के कोमल मन के साथ जन्म के साथ ही बाँधी जाने लगती हैं। लेकिन क्या वास्तव में शादी के बाद पति के साथ उसकी इच्छाएँ फलीभूत हो पाती हैं ? यदि

---

[22] सुशीला टाकभौरे, शिकंजे का दर्द, पृष्ठ : 127

नहीं, तो इसका जिम्मेदार कौन है ? समाज, परिवार, पति या स्वयं स्त्री– कि उसने झंठी आशाएँ क्यों पालीं ? विवाह के बाद सुशीला टाकभौरे की प्रेम की अपेक्षा कितनी पूरी होती है, इसे निम्न उद्धरण द्वारा जाना जा सकता है–

''मेरे पति मेरे साथ इतने नजदीक क्यों नहीं रहते ? वे मुझसे प्यार का ऐसा व्यवहार क्यों नहीं करते ? इसका मुझे दुख लगता था। टाकभौरे जी मेरे साथ हमेशा दूरी रखते थे जैसे हम पति–पत्नी नहीं, अपरिचित दो लोग एक साथ रहने लगे हैं।... इन क्षणों में मैंने सोचा था– टाकभौरे जी घर में अकेले में मुझे देखकर प्यार करेंगे। भले ही क्षण दो क्षण का, मुझे उनका प्यार मिलेगा। मैं हँसती मुस्कुराती घर में आई और चाबी की बात कही। टाकभौरे जी ने तुरन्त मेरे सामने चाबी फेंकी और घर से बाहर सड़क पर खड़े हो गये, जैसे कहीं उन पर मेरे साथ बदचलनी का इल्जाम न लग जाये। मैं चुपचाप चाबी उठाकर बाहर आ गई। उस समय मेरे दिल पर क्या गुजरी, यह मैं ही जानती हूँ।''[23]

कौसल्या बैसंत्री प्रेम विवाह तो नहीं किंतु स्वयं की पसन्द से विवाह करती हैं। वे लिखती हैं– '' 'हाँ'–'न' करते मैंने बहुत भारी मन से स्वीकृति दे दी। इसका कारण था कि उस वक्त इतना पढ़ा–लिखा और सामाजिक कार्य करने वाला व्यक्ति अस्पृश्य समाज में नजर नहीं आया।.देवेन्द्र कुमार एम0ए0, एल0एल0बी0 करके डी0 लिट् के लिए रिसर्च कर रहा था। और इसी बात ने मुझे मोहित और प्रेरित किया। दूसरी बात और थी कि मुझे इक्कीसवाँ वर्ष चल रहा था। उस समय के हिसाब से मेरी उम्र ज्यादा हो गई थी और माँ–बाबा चिंतित थे।''[24]

उच्च शिक्षित, समझदार, सामाजिक कार्यकर्ता व्यक्ति से मनपसंद विवाह करके भी कौसल्या बैसंत्री का वैवाहिक जीवन सुखी नहीं रहा।

''देवेन्द्र कुमार अपने ही घेरे में रहने वाले आदमी हैं, गर्म–मिजाज और जिद्दी। अपने मुँह से कहता मैं बहुत शैतान आदमी हूँ। उसने मेरी इच्छा, भावना,

---

23 वही, पृष्ठ : 153

24 कौसल्या बैसंत्री, दोहरा अभिशाप, पृष्ठ : 97–98

खुशी की कभी कद्र नहीं की। बात–बात पर गाली और वह भी गंदी–गंदी और हाथ उठाना।''[25]

दलित आत्मकथाओं में प्रेम की अभिव्यक्ति बहुत ही कम है। दलित पुरुषों की आत्मकथाओं में तो थोड़ी–बहुत प्रेम की अभिव्यक्ति है भी, किंतु दलित स्त्री आत्मकथाओं में किशोरवय प्रेम या वैवाहिक प्रेम नगण्य है। इसके कारणों की पड़ताल करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं– ''प्रेम को अभिव्यक्त करने में जितनी अधिक तत्परता सवर्ण रचनाकारों ने दिखाई, उतनी दलित कवियों, लेखकों, स्त्रियों ने नहीं, क्योंकि इनके लिए प्रेम से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण है अपने 'अस्तित्व' और 'अस्मिता' की चिंताएँ, सरोकार। प्रेम के प्रचलित मुहावरे को वे स्वीकार नहीं करते हैं,... वहाँ प्रेम उनके उत्पादन एवं संघर्ष कार्यों से जुड़ा है। प्रेम उनके लिए 'स्थूल' नहीं है, जिसे जब चाहे हासिल कर लिया जाए– पैसे या वर्चस्व के बल पर।''[26]

स्त्री जब भी प्रेम करती है परिवार सर्वप्रथम उसके विरोध में खड़ा होता है। फिर शुरू होती है स्त्री को सही रास्ते पर लाने की कवायद, जिसमें मारना, पीटना, भूखा रखना, गाली–गलौज सभी बातें शामिल हैं। ये सब परिवार के उन्हीं सदस्यों द्वारा किया जाता है जो अपना सगा होने, शुभचिंतक होने का दम भरते हैं। और तो और जन्म देने वाली माँ भी इसमें शामिल होती है–

''हम लोगों ने लौटकर शादी करने का निर्णय सुनाया, हालाँकि मेरा परिचय उनसे राजनीतिक परिस्थितिवश ही हुआ था लेकिन मेरा यह निर्णय मेरे जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना थी। जाति तोड़कर और वह भी प्रेम विवाह– दोनों ही परिवार की परम्परा और मर्यादा के विरुद्ध देखे जा रहे थे। मामा ने मेरा घर से निकलना बन्द कर दिया था। माँ आई। मेरी खूब पिटाई हुई पर मैं कटिबद्ध थी।

---

25 वही, पृष्ठ : 104

26 ओमप्रकाश वाल्मीकि, मुख्यधारा और दलित साहित्य, पृष्ठ : 75

फिर मुझे पटियाला ले जाया गया। रोज मार पड़ती। फैसला बदलने के लिए दबाव पड़ता।''[27]

परिवार की मर्जी के खिलाफ किया गया प्रेम विवाह स्त्री से उसके मायके का आधार भी छीन लेता है, जिन सम्बन्धों की दुहाई देते परिवार थकता नहीं था वो सम्बन्ध तोड़ लिये जाते हैं–

''मैं किस मुँह से मेरठ जाऊँगी। क्या बहाना बनाकर रहूँगी ? यह शादी मैंने अपनी जिद से की थी। बड़े भाई–भाभी के पास तो मैं छावनी में, दिल्ली में ही जा सकती थी। पर बड़े भाई का सामना करने से तो मरना बेहतर था।''[28]

स्त्री कहने को तो प्रेम विवाह करती है पर उसमें प्रेम कितना बचता है, और विवाह के बाद सम्बन्धों को निभाने की मजबूरी कितनी होती है ये सिर्फ वही जानती है। परिवार को बचाये–बनाए रखने के लिए स्त्री हाड़–तोड़ श्रम करती है, स्वयं को पूरी तरह खपाने के बाद भी प्रेमी से पति बने जीव में मानवीयता का संचार नहीं होता। गर्भावस्था के महीने पूरे होने के बाद भी पूरा काम करना और पति की आज्ञा सिर माथे पर रखना–

''मैं रसोई में सब्जी काट रही थी। बीच में काम छोड़ तुरंत साड़ी बदली और चल पड़ी। (मैंने कभी भी 'इनकी' छोटी से छोटी बात पर अमल करते कभी मना नहीं किया, क्योंकि क्लेश और झगड़े से बचना चाहती थी।) हालाँकि मेरे पूरे दिन थे, और इतने सारे लोगों का पूरा खाना बनाना था– पर एक बार भी अपनी बात नहीं की।''[29]

एक आदर्शवादी पत्नी, सुघड़ गृहिणी की यही नियति है। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की पूरी आत्मकथा प्रेम, विवाह और परिवार के लिए जीवन न्यौछावर करती स्त्री, पति–पत्नी के नीरस सम्बन्धों का कटु यथार्थ है।

---

27 रमणिका गुप्ता, हादसे, पृष्ठ : 24

28 चन्द्र किरण सौनेरेक्सा, पिंजरे की मैना, पृष्ठ : 176

29 वही, पृष्ठ : 206

पारम्परिक विवाह में भी स्त्री के प्रेम के प्रति पति के मन में शक बैठा रहता है, उसे इस बात की विशेष चिन्ता होती है कि विवाह पूर्व उसकी पत्नी का किसी से प्रेम सम्बन्ध तो नहीं था– ''तो ईश्वर की कसम खाकर बताओ कि शादी से पूर्व तुम्हारा किसी पुरुष से कोई सम्बन्ध था ? झूठ मत बोलना, तुमसे किसी ने प्यार किया था क्या ?'' आदर्शवादी पत्नी कृष्णा ने निःसंकोच शिवकुमार के बारे में बता दिया। सच कहा कि ''मेरी–उसकी कभी बात या अन्य स्थिति नहीं, बस शादी का प्रस्ताव भर आया था।''[30]

''उतनी पीड़ित, लांछित, अपमानित, वेदना ढोते मेरे शरीर का उपभोग करने में मेरे पति पीछे नहीं थे। गलियाते हुए भी वे मुझ पर टूट पड़े।''[31]

स्त्री का जीवन विडम्बनाओं का जखीरा है, उसके जीवन में दुखों की इतनी परतें, इतनी गाँठें होती हैं, जिन्हें खोलते पूरी उम्र निकल जाती है, फिर भी वे खत्म नहीं होतीं। इसके कारणों की पड़ताल करें तो पितृसत्तात्मक मानसिकता और वर्चस्व की प्रवृत्ति हावी नजर आती है। मन्नू भंडारी और राजेन्द्र यादव हिन्दी साहित्य जगत में चर्चित नाम हैं। दोनों ने प्रेम विवाह किया जो अन्ततः असफल दाम्पत्य में परिणत हुआ। मन्नू लिखती हैं–''सब लोग सोचते थे और मुझे भी लगता था कि एक ही रुचि एक ही पेशा.... कितना सुगम रहेगा जीवन।''[32]

सब कुछ सुन्दर, सुनियोजित हो पर फिर भी सम्बन्धों में जीवन में फाँक कहाँ आ जाती है ? एक सीमा के बाद आखिर स्त्री–पुरुष सम्बन्ध जटिल क्यों हो जाते हैं ? राजेन्द्र यादव स्त्री विमर्श के क्षेत्र में जाना–माना नाम है। स्त्रियों के शोषण की सारी पितृसत्तात्मक चालाकियों, षड़यन्त्रों को समझने और उन्हें बेनकाब करने वाले राजेन्द्र यादव भी जब अपनी पत्नी को नहीं समझ पाते, फिर और किससे उम्मीद की जा सकती है–

''असलियत को ईमानदारी से स्वीकार करने का साहस तो राजेन्द्र में कभी रहा ही नहीं (कम–से–कम मेरे सन्दर्भ में) इसलिए अपने हर झूठ, अपनी हर जिद,

---

30 कृष्णा अग्निहोत्री, लगता नहीं है दिल मेरा, पृष्ठ : 101

31 वही, पृष्ठ : 102

32 मन्नू भंडारी, एक कहानी यह भी, पृष्ठ : 56

बल्कि कहूँ कि अपनी हर नाजायज हरकत को ढँकने के लिए आदत से मजबूर राजेन्द्र हमेशा कोई–न–कोई ऐसा सूत्र ढूँढ लेते हैं– कभी आधुनिकता के नाम पर तो कभी लेखन के नाम पर तो कभी कोई फलसफा गढ़कर जो उन्हें सही सिद्ध कर दे। उस समय उन्हें समानान्तर शब्द बहुत माकूल नजर आ रहा था.... बहरहाल स्थिति यह बनी कि हमारा सहजीवन समारम्भ (विवाह के निमंत्रण पत्र में राजेन्द्र ने यही छपवाया था) एक बड़े ही अजीब किस्म के अलगाव के साथ हुआ।''[33]

कितनी विडम्बनात्मक बात है कि दुनिया को स्त्री विमर्श का पाठ पढ़ाने, अर्थ समझाने वाले राजेन्द्र यादव अपनी पत्नी के साथ ही संतुलन नहीं साध पाये। इस सन्दर्भ में मैनेजर पाण्डेय बहुत महत्वपूर्ण बात लिखते हैं कि– ''स्त्री–पुरुष के लिए सदाचार के नियम एवं उसकी सीमाएँ अलग–अलग हैं। इसीलिए जीवन और समाज में पुरुष सब कुछ करने के लिए स्वतंत्र है तो वह साहित्य में कुछ कहने के लिए भी स्वतंत्र है। लेकिन स्त्री समाज या साहित्य में वही कर या कह सकती है जो पुरुष उसके लिए तय करता है।''[34]

मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा कई मायनों में काफी अलग है। इनकी आत्मकथा में माँ–बेटी के टकराव के रूप में दो स्त्रियों के विचारों का टकराव है। एक तरफ जहाँ इनकी विधवा माँ सामाजिक उपहास, लांछनों के बीच भी नए सिरे से अपनी पढ़ाई शुरु करके ग्रामसेविका की नौकरी करती हैं, वहीं दूसरी तरफ किशोरवय के अनेक असफल प्रेम–प्रसंगों को पार करते हुए मैत्रेयी अपने विवाह के लिए माताजी की इच्छा के विरुद्ध खड़ी हो जाती हैं–

''मैत्रेयी तेरा मन पढ़ाई से विरक्त हुआ है या माँ से ? तू कभी शादी की बात करती है, कभी खेतों की याद।

'खेत मेरे बाबूजी की छाया थे और शादी मेरे बाबा का सपना।'

---

33 वही, पृष्ठ : 57

34 मैनेजर पाण्डे, औरत उत्तरकथा, संपादक : राजेन्द्र यादव, अर्चना वर्मा, पृष्ठ : 104

सपनों की छाया मेरे प्राणों से बँधी है कि उन दोनों के बिछोह में किसी पुरुष को खोजती फिरती हूँ ? माँ तुम खफा क्यों होती हो ? मेरी स्वाभाविक इच्छाओं को कठोर उपवास में मत बदलो। मैं अपनी इन्द्रियों को कसते–कसते दूसरों की हवस का शिकार हुई जाती हूँ।''[35]

मैत्रेयी के पिताजी बचपन में ही गुजर जाते हैं, बूढ़े दादा के भी गुजर जाने के बाद पढ़ाई की वजह से मैत्रेयी दूसरों के घर असुरक्षा के साये में बड़ी होती हैं। असुरक्षा, बेघर होने की पीड़ा से मुक्ति हेतु मैत्रेयी विवाह का निर्णय लेती हैं, विवाह के माध्यम से घर–परिवार और स्थायित्व ढूँढ़ती हैं, विवाह के माध्यम से अपने स्त्रीत्व को, अपनी इच्छाओं को सम्मान देना चाहती हैं।

लगभग सभी आत्मकथाओं में एक बात समान रूप से दीखती है कि परिवार, रिश्ते स्त्री के लिए सबसे बड़ी पूँजी है। वह इन्हें किसी भी कीमत पर खोना नहीं चाहती है। मनमर्जी का प्रेम, मनमर्जी का विवाह, आर्थिक खर्च वहन करने हेतु नौकरी करने की योग्यता, पति भी शिक्षित, समझदार। इन सबके बावजूद ऐसा क्या होता है जो एक स्त्री की गति कोल्हू के बैल से भी बुरी बना देता है ? हर तरह से सक्षम होने के बावजूद स्त्री कहाँ कमजोर, गलत हो जाती है कि उसे अपनी जिंदगी घुट–घुट कर तमाम करनी पड़ती है, और बाद में पछताना पड़ता है–

''हालाँकि इस जीवन संध्या में, मुझे यह एहसास जरुर हुआ है कि ऐसे ही अवसरों के समझौतों ने; हमारे जैसे लोगों को समझदार कम और कमजोर ज्यादा सिद्ध किया है। आज की पीढ़ी इन्हीं मौकों का दामन पकड़ कर दूसरे का सच उसी के मुँह पर मार कर स्वयं को विजयी सिद्ध करने का आनन्द लेना ज्यादा पसन्द करती हैं– बजाये रिश्ते को बचाये रखने के लिए, चुप रहने के।''[36]

पति के अत्याचारों से त्रस्त होकर अलग होने का फैसला विजयी होने का आनन्द नहीं, अपने आत्मसम्मान और अपनी अस्मिता की रक्षा का प्रश्न है। रिश्तों

---

35 मैत्रेयी पुष्पा, कस्तूरी कुंडल बसै, पृष्ठ : 59

36 चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पिंजरे की मैना, पृष्ठ : 248–249

को बचाना, संभालना अलग बात है और मजबूरियों को ढोना अलग बात। दोनों एक दूसरे के पूरक नहीं हो सकते है। नई स्त्री इस बात में फर्क करना समझ रही है।

किसी ने परम्परा से विद्रोह करके प्रेम किया, प्रेम विवाह किया, उसकी भी वही नियति। किसी ने घरवालों की मर्जी से, परम्परागत तरीके से विवाह किया, उसका भी वही हाल। किसी ने प्रेम किया, लेकिन बिना विवाह किये साथ रही 'लिव इन रिलेशनशीप' में, उसकी भी वही दुर्दशा। हालाँकि ये स्त्रियाँ पढ़ी–लिखी, स्त्री चेतना से युक्त, भविष्य की जानी–मानी रचनाकार होने की योग्यता से युक्त थीं। लेकिन सभी के साथ स्त्री होने के नाम पर उत्पीड़न उनके जीवन का कटु यथार्थ है। नाम अलग, परिस्थितियाँ अलग, स्थान अलग, लेकिन स्त्री की नियति वही। स्त्री, स्त्री ही रही और पुरुष, पुरुष ही बना रहा। यहीं पर आकर रिश्तों के समीकरण बदलने लगते हैं। स्त्री को पैर की जूती समझने की प्रवृत्ति सभी पुरुषों में हैं– चाहे वह उच्च शिक्षित हों, ऊँची पोस्ट वाले हों, सामाजिक रुतबे वाले हों, संघर्षशील कुशाग्रबुद्धि युवक हों, सामाजिक सुधार की दुर्दशा की दिशा में प्रयत्नशील समाज सेवक हों, साहित्यकार हों। स्त्रियों के मामले में लगभग सभी एक जैसे। पुरुष चाहे प्रेम विवाह करे या पारम्परिक विवाह वह पुरुष होता है, वर्चस्वशील पति होता है। साथी कभी नहीं बन पाता। परम्पराओं को, पत्नी धर्म को निभाने और रिश्तों को बचाने के लिए स्त्री स्वयं को पुरुष के अनुसार ढालने की कोशिश करती है, लेकिन पुरुष कभी इस बात को नहीं समझ पाता या समझने की कोशिश नहीं करता कि रिश्ते को निभाने की, बचाने की उसकी भी कुछ जिम्मेदारियाँ बनती हैं। अपनी शिक्षा और समझदारी का प्रयोग जिस दिन पुरुष, स्त्री के प्रति करना शुरू कर देगा उस दिन स्त्री–पुरुष रिश्तों का स्वरूप मानवीय और गरिमापूर्ण होगा। यह विकास की दिशा में एक स्वस्थ और सहायोगी सम्बन्ध होगा।

2. अधिकार की माँग बनाम पारिवारिक विघटन

पितृसत्तात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत स्त्री को सिर्फ कर्त्तव्यों का बोध कराया जाता है। कर्त्तव्यों को ही स्त्री के अधिकारों के अन्तर्गत समाहित कर दिया गया है। अर्थात् स्त्री के जो कर्त्तव्य हैं, वही उसके अधिकार हैं। अगर इसके बावजूद भी कुछ बच जाता है तो त्याग के आदर्शों की घुट्टी पिलाकर स्त्री को चुप करा दिया जाता है। अपने अधिकारों की बात करती स्त्री समाज को पसन्द नहीं आती। अधिकारों की बात करना अच्छी मानी जाने वाली स्त्रियों को शोभा नहीं देता। पितृसत्तात्मक समाज अपने इसी पुराने रूढ़िवादी विचारों पर आज भी कायम है। कर्त्तव्य और त्याग के तथाकथित महान आदर्शों के साथ जीना ही इस समाज में स्त्री–धर्म है–

''स्त्री को बता दिया गया है कि परिवार और बच्चे उसका कार्य क्षेत्र हैं इसलिए वह बच्चे संभाले, चौका संभाले, पति की जरुरतों का साधन बन बिछती रहे। उसे और क्या चाहिए ?''[37]

दरअसल स्त्री की ज़रूरतों को भी पितृसत्ता ने अत्यन्त सीमित कर दिया है। पेट भर खाने और तन ढकने के लिए पहनावे के अलावा स्त्री की और भी कुछ ज़रूरतें हों सकती हैं, इस पर कभी विचार ही नहीं किया गया। किंतु अब जबसे स्त्री शिक्षा और स्वतंत्रता की रोशनी पाकर जागरूक हुई है, वह अपने समस्त मौलिक अधिकारों के लिए संघर्ष कर रही है जो संविधान द्वारा प्रदत्त हैं, जिन पर यह पितृसत्ता अपना वर्चस्व जमाए बैठी है। अधिकारों के लिए संघर्ष में स्त्री के सामने अनेक चुनौतियाँ हैं, जिसमें सबसे पहले तो उसे स्वार्थी घोषित कर दिया जाता है। इस पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री जब तक अपने खोल में रहे ठीक, वरना खोल से बाहर आकर अपने अधिकार माँगती स्त्री के प्रति यह समाज तरह–तरह के हथकंडे अपनाने लगता है। सामंती ढाँचे में स्त्री का कोई अधिकार नहीं। चाहे वह सफल व्यवसायी हो, करोड़ों कमाती हो, लेकिन उसके पास न

---

[37] रेखा कस्तवार, स्त्री मुक्ति का सपना, संपादक : प्रो0 कमला प्रसाद, पृष्ठ : 108

बुद्धि है, न कुछ अपने मन से खरीदने का अधिकार। यह तथ्य प्रभा खेतान की 'अन्या से अनन्या' में यथार्थ रूप में वर्णित है–

'' ''प्रभा ! तुम्हारा दिमाग तो नहीं खराब हो गया। खाकी कैनवस के इस थैले का ढाई सौ डालर दे आई... पागल हुई हो ? चलो वापस करो।''

''नहीं मुझे हूबहू इसकी नकल उतारनी है और मेरी व्यापारिक बुद्धि कहती है....''

''व्यापारिक बुद्धि ? तुम्हारे पास बुद्धि नाम की चीज भी है ?''

गुस्से में उनका गोरा चेहरा लाल होता जा रहा था–

''तुम अपने आप को समझती क्या हो ?''

''डॉक्टर साहब मेरे पास पैसे हैं, अपनी खरच के लिए जो हैं, उसमें से दे दूँगी।''

तुम्हारा यह मालिकाना तेवर मैं सहन नहीं कर सकता।''

.....डॉक्टर साहब ने मेरे हाथ का पैकेट छीनकर फुटपाथ पर दे मारा था। और कहा था – ''तुम यहीं पड़ी रहो।''... साथ में मेरा पासपोर्ट और वॉलेट भी लेते गए।''[38]

प्रभा खेतान जो इतनी बड़ी व्यवसायी थीं, करोड़ों का व्यापार करती थीं, लेकिन जो अपने व्यापार के विस्तार के लिए बैग का एक 'सैम्पल' भी नहीं खरीद सकती थीं। वह करोड़पति हैं तो क्या, उन्हें इतनी छोटी–सी बात का भी अधिकार नहीं, छोटे से बैग के लिए पुरुष उन्हें उनकी सीमा रेखा बताने लगता है, जो कायदे से उनका पति भी नहीं है। यही है एक स्त्री की सीमा, जिसमें अधिकारों के प्रवेश से सम्बन्ध दरकने लगते हैं।

---

[38] प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, पृष्ठ : 6–7

अनामिका लिखती हैं कि– ''सारा 'गेट आउट' और 'शटअप' भूल जाएँगे हिंसक पति, यदि स्त्री के पास एक और ठिकाने का 'भरम' भी होता : इज्जत की, आत्मनिर्भर जिन्दगी जीने की झीनी–सी संभावना कहीं नजर भर आ जाए।''[39]

कितना भोला और भ्रमपूर्ण है यह विश्वास, इस पुरुष समाज के प्रति। परिस्थितियाँ चाहे कितनी ही बदल जाएँ, स्त्रियों के प्रति पुरुष कभी नहीं बदल सकता जब तक कि उसकी सोच न बदले। लेकिन कई बार, यह विचार भी गलत साबित हो जाता है, जब स्त्रियों, दलितों के अधिकारों के प्रति लिखने वाला, साहित्य जगत का जागरूक, प्रगतिशील, बुद्धिजीवी लेखक अपनी पत्नी के साथ स्त्री–पुरुष के अधिकार क्षेत्रों, कार्य–क्षेत्रों का बँटवारा करते हुए सारी प्रगतिशीलता को ताक पर रख देता है। इसकी एक बनागी मन्नू भंडारी की आत्मकथा 'एक कहानी यह भी' में देखी जा सकती है–

''अपनी–अपनी जिन्दगी का जो बँटवारा हुआ उसमें घर की सारी जिम्मेदारियाँ और समस्याएँ– आर्थिक से लेकर दूसरी तरह की– मेरे जिम्मे थीं, जिसमें मुझे राजेन्द्र की दिलचस्पी की ही नहीं सहयोग की भी जरुरत रहती थी, लेकिन उसे तो राजेन्द्र ने मेरा अधिकार क्षेत्र घोषित कर रखा था। मेरे अधिकार क्षेत्र में कभी न झाँकने की, न किसी तरह की दिलचस्पी लेने की और न ही कोई हस्तक्षेप करने की बेहद उदारवादी मुद्रा ओढ़कर एक बड़ी 'वाजिब और तर्क–संगत' अपेक्षायें करते थे कि मैं भी इनके अधिकार क्षेत्र में न कभी झाँकूँ, न किसी तरह की दिलचस्पी लूँ। इनके अधिकार क्षेत्र में थे इनके 'निजी संबंध' और सरोकार, जब–तब जहाँ–तहाँ घूमने–फिरने की और जब मन हुआ, बिना पीछे की जरा भी चिन्ता किए कलकत्ता से भाग निकलने की छूट। 'लिखना है' का तुरुप का पत्ता तो हमेशा उनके हाथ में रहता ही था, जिसके सामने प्रतिरोध का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था।''[40]

---

[39] अनामिका, मन मांझने की जरुरत, पृष्ठ : 123

[40] मन्नू भंडारी, एक कहानी यह भी, पृष्ठ : 57–58

यह सिर्फ मन्नू भंडारी का सच नहीं है, यह हर स्त्री का सच है, जिसमें वह चूल्हा–चौका संभाले, अगर नौकरी करती है तो पारिवारिक आर्थिक ज़रुरतें पूरी करे, सामाजिक रिश्ते–नाते निभाए, और पुरुष को जब घर के रूप में एक व्यवस्थित, स्थायी ठिकाने की, पत्नी की, सुविधाओं की जरुरत हो तब उनका उपभोग कर सके। ऐसे पतियों को अपने अधिकार क्षेत्र की तो बड़ी चिन्ता होती है, किन्तु पत्नी के भी कुछ अधिकार होते हैं, वे बड़ी आसानी से यह भूल जाते हैं। राजेन्द्र यादव स्त्री विमर्श का जाना–पहचाना नाम हैं, किंतु अपनी पत्नी के प्रति वे 'सामान्य–सी इंसानियत' भी नहीं निभा पाते–

''साथ रहने के कुछ महीने बाद मेरे मुँह में ऊपर के तालू पर एक छाला हो गया..... कोई अठन्नी बराबर। तीन दिन बीतते–न–बीतते वह तो अच्छे–खासे घाव में बदल गया। खाना तो दूर पानी भी पीना भारी संकट से गुजरना था। मैं बिस्तर पर पड़ी थी, इस उम्मीद में कि ये मुझे किसी डॉक्टर के यहाँ ले जाएँगे। पर राजेन्द्र सारी स्थिति से एकदम तटस्थ शाम को चार बजे के करीब हमेशा की तरह तैयार होकर काफी–हाउस जाने लगे तो मैंने ही जैसे–तैसे कहा कि मुझे डॉक्टर को तो दिखा दीजिए। मेरे अनुरोध पर ये खुद तो नहीं रूके, बस नौकर को आदेश देकर चले गए कि वह पास की डिस्पेन्सरी से डॉक्टर को बुला लाए।''[41]

जब एक स्त्री विमर्शकार पुरुष का ये रवैया है तो अन्य पुरुषों के बारे में क्या कहा जाए, उनके तो व्यवहार और विचार दोनों का पितृसत्ता द्वारा पोषण होता है।कौसल्या बैसंत्री के भी दाम्पत्य जीवन में उन्हें कभी एक पत्नी का अधिकार नहीं मिला। दोनों के जीवन में सदैव कड़वाहट घुली रही–

''तंगी रहती थी क्योंकि देवेन्द्र कुमार मुझे खर्च के लिए पैसे नहीं देता था। बहुत लड़–झगड़कर उसने मुझे चालीस रुपये महीने देना शुरू किया। जब देवेन्द्र कुमार अपने गाँव बिहार जाता तब एक कागज पर इतने पैसे दूध के, इतने सब्जी

---

41 वही, पृष्ठ : 58

के, इतने राशन के और चालीस रुपये तुम्हारी पगार लिखकर रख देता, जैसे मैं वहाँ इनके घर की नौकरानी हूँ।''[42]

कौसल्या बैसंत्री के अधिकार में तो कायदे से इनका घर भी नहीं था। वास्तव में ये वहाँ पत्नी कम, घर की देखभाल करने वाली स्त्री के रूप में ज्यादा नजर आती हैं। कौसल्या बैसंत्री के बारे में विमल थोराट लिखती हैं–''कौसल्या बैसंत्री का पितृसत्ता से संघर्ष अकेलेपन और लाचार स्त्री की पीड़ा को अभिव्यक्त करता है। प्रतिभाशाली व्यक्तित्व की धनी, बी0ए0 की उपाधि प्राप्त शिक्षित स्त्री को घर के अन्दर पति द्वारा दिए जाने वाले उलाहने शारीरिक प्रताड़ना और उपेक्षा ने पितृसत्ता के एकछत्र साम्राज्य के कायम होने को उजागर किया है। उच्च शिक्षा प्राप्त सरकारी नौकरी में उच्च पद पर काम करना व्यक्ति की मानसिकता में स्त्री के लिए सम्मान की भावना का लवलेश न होना, पितृसत्ता की निर्मित सोच के प्रभाव को और गहराती है।''[43]

पति के अलावा स्त्री का कोई अस्तित्व नहीं, पति की इच्छा के विरुद्ध कोई अधिकार नहीं। आत्मकथाओं में बार–बार अपने को दुहराता यह सच भारतीय समाज और परिवार का नग्न यथार्थ है। अपने अधिकारों की बात करना या पति की छोटी–सी इच्छा को मना करना परिवार के अस्तित्व पर संकट उपस्थित कर देता है। पति की इच्छा सर्वोपरि, अपना अधिकार नगण्य है–

''मैंने कभी भी 'उनकी' छोटी से छोटी बात पर अमल करते कभी मना नहीं किया, क्योंकि क्लेश और झगड़े से बचना चाहती थी।''[44]

अपनी गृहस्थी बचाने, अपना रिश्ता बचाने के लिए स्त्री को कदम–कदम पर जहाँ अपना आत्म–सम्मान, स्वाभिमान तक खोना पड़ता है, उस परिवार में, ऐसे माहौल में स्त्री, अधिकारों के बारे क्या बात कर सकती है। जहाँ चन्द्रीकरण

---

42 कौसल्या बैसंत्री, दोहरा अभिशाप, पृष्ठ : 105

43 विमल थोराट, अपेक्षा, जुलाई–सितम्बर 2003, संपादक : तेज सिंह, पृष्ठ : 49

44 चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पिंजरे की मैना, पृष्ठ : 206

सौनरेक्सा के पति उन्हीं के सामने किसी दूसरी लड़की के साथ रात बिताते हैं और उन्हें कमरे से बाहर रहना पड़ता है–

'' 'ये' बोले, ''तुम बच्चों के कमरे में सो जाओ। मैं इसे मुँह अँधेरे ही अमीनाबाद पहुँचा दूँगा।'' उस कमरे का एक दरवाजा गैलरी में खुलता था, उससे मैं गैलरी में आ गयी; और भीतर से द्वार बन्द हो गया। क्रोध, अपमान, आत्मग्लानि से मेरा तन–मन जल रहा था। आँसू नहीं थे आँखों में। मैं किसी भी कमरे में जाती, तो बात खुल जाती; गैलरी में अखबार रखे थे, उन्हीं को बिछाकर, द्वार से टेक लगा कर बैठ गयी, बीच–बीच में ऊँघ भी गयी हूँगी।''[45]

भारतीय नारी का आदर्श है पति सेवा, उसकी आज्ञा का पालन, अपने इन्हीं स्त्री कर्त्तव्यों का पालन चन्द्रकिरण जीवन भर करती हैं, परिवार की मर्यादा को बचाए रखने की चिन्ता में वे इस कदर घुली रहती हैं कि उन्हें अपने अधिकारों की ज़रा भी फिक्र नहीं होती। वे हमेशा एक पारम्परिक आदर्श, भारतीय नारी बनी रहती हैं। कुसुम अंसल अपने 'स्व' को लेकर सजग, चेतना सम्पन्न स्त्री रही हैं। अपने अधिकारों के प्रति जागरूक कुसुम अंसल बराबर अपने लिए प्रश्न करती हैं–

''सुशील को मेरा प्रश्न करना बहुत बुरा लगता था, विद्रोह जैसा कुछ तो वह झेल नहीं पाते थे– बस वह इससे अधिक सुविधाएँ नहीं प्रदान कर सकते थे, थोड़ा–सा प्रेम, थोड़ी–सी सुविधाएँ, थोड़े–से साथ व्यतीत किये पल, बस। उस परिवार की भीड़ में हमारा एक छोटा–सा खुले दरवाजे का कमरा जिसके दरवाजे में धुँआ और घुटन जब जी चाहे प्रवेश कर सकते थे। जब भी धुँआ अधिक भरता, घुटन गले में फँस जाती, सुशील मुझे चले जाने का आदेश देते। मैं बेघर, जिसके आगे पीछे कोई सम्बल नहीं था, तो मैं कहाँ जाती ? बस रहती रही, क्योंकि जीवन तो जीना होता है– परन्तु जीवन के प्रति किया मेरा विश्वास मुझे छल रहा था, मुझे लगता विश्वास से अधिक आत्मघातक और कोई वस्तु नहीं है– अन्धविश्वास, आँखें बन्द करके किया मेरा विश्वास मेरी उस समय की पंगुता का

---

[45] वही, पृष्ठ : 302–303

कारण बन गया था इसलिए मेरे विद्रोह में विस्फोट नहीं जन्मा,..... मैं जैसे सशरीर सवाल हो गई थी, सवाल जी रही थी।''[46]

जीवन–यापन के लिए पति पर निर्भर बनाने की तैयारी उसके जन्म से ही शुरू हो जाती है। उसकी शिक्षा–दीक्षा भी उसे आत्मनिर्भर, समझदार बनाने हेतु नहीं, वरन किसी ठीक–ठाक पढ़े–लिखे लड़के से शादी हो जाए इसलिए कराई जाती है–

''अपनी सभी स्थितियों और पढ़ाई के मध्य मुझे यह आभास हो रहा था कि मेरी कोई 'क्रिएटिव' या 'प्रोफेशनल' लाइफ नहीं तराशी जा रही, जो भी कुछ मिल रहा है वह अधकचरा है, ऐसा कुछ नहीं है जिसके सहारे कोई ध्येय या मंजिल प्राप्त की जा सकती है। उन दिनों मेरे बड़े भाई लंदन में इंजीनियरिंग पढ़ रहे थे। मेरा भी बहुत मन होता कि मैं भी वहाँ पढ़ूँ और मनोविज्ञान का कोई कोर्स कर लूँ, पर पापा की दलील थी, लड़कियों को कौन विदेश भेजता है। मनोविज्ञान में मास्टर्स के रिजल्ट के दिन माथे पर हाथ मारकर उन्होंने कहा था– 'वैसे ही कोई लड़का नहीं मिलता, अब इसने एम0ए0 पास कर लिया है, वह भी फर्स्ट डिवीजन में...। सीसे–सा यह वाक्य आज भी मेरी स्मृतियों में सरसराता है। उस समय का किया हुआ वह कोर्स, वह पढ़ाई आज के सन्दर्भ में मेरे जीवन की दिशा निर्णायक बन जाती, पर होता तो वही है न, जो मंजूरे खुदा होता है।''[47]

यही तो बिडम्बना है कि स्त्री के जीवन में वह नहीं होता जो मंजूरे खुदा होता है, स्त्री के जीवन की सारी दिशा–दशा पितृसत्ता तय करती है।

अधिकारों के प्रति सचेतता मैत्रेयी पुष्पा और उनके डॉक्टर पति के बीच संकट उपस्थित कर देती है, हालाँकि मैत्रेयी का दाम्पत्य जीवन उतना कटु नहीं नजर आता, वह अपने डॉक्टर पति के साथ सामान्यतः एक स्वस्थ संबंध जीती हैं, किंतु पति चाहे जितना भी उदार हो अन्ततः वह पति है, और उसकी इच्छा पर

---

46 कुसुम अंसल, जो कहा नहीं गया, पृष्ठ : 60

47 वही, पृष्ठ : 46

चलना ही स्त्री की नियति। मैत्रेयी भी वैवाहिक जीवन में कदम–कदम पर समझौता करती हैं जिससे उनके परिवार में विघटन की स्थितियाँ न आएँ–

'' ''सुनो मेरा इंटरव्यू कॉल आया था, मिला नहीं। पता नहीं कहाँ गया ?'' मैंने ऐसे कहा, जैसे पति मेरे साथ हुए हादसे पर मेरे आँसू पोंछेंगे। ''हाँ, आया था। मैंने तुम्हें दिया नहीं।'' उन्होंने सपाट स्वर में कह दिया।... मैं दूसरे कमरे में चली गई और फूट–फूटकर रोई। याद करती रही कि इनके इंटरव्यू के दिनों में उस कमरे को सुरक्षित कर दिया, जिसमें ये तैयारी करते। ये नहाने जाते, उससे पहले मैं बाथरूम में पोंछा लगाकर फर्श सुखा देती कि कहीं फिसल न जाएँ और इंटरव्यू रह जाए। मैं खाने में सफाई से लेकर चिकनाई और मसालों का ध्यान रखती, पेट खराब न हो कि इंटरव्यू के दिन तबियत बिगड़ जाए। मैं बच्ची को ऐसा कोई काम न करने देती कि डैडी का मूड बिगड़ जाए।''[48]

एक स्त्री अन्त तक कोशिश करती है कि उसका दाम्पत्य सही सलामत रहे, परिवार में किसी भी तरह विघटन की स्थितियाँ न उत्पन्न हों। किंतु जब जीवन जीने की न्यूनतम स्थितियाँ भी विकट बना दी जाएँ, तो स्त्री के लिए अपने पति का घर त्यागना अनिवार्य हो जाता है। स्त्री के लिए पिता के घर में रहना भी दुश्वार हो जाता है, क्योंकि भाइयों को लगता है कि बहन जायदाद में हिस्सेदार बन जाएगी। जहाँ भी स्त्री के अधिकार का प्रश्न आता है– ससुराल और मायका दोनों जगह के संबंध दरकने लगते हैं, परिवार विघटित होने लगता है। कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा में यह यथार्थ खुलकर व्यक्त हुआ है–

''महाविद्यालय में अभी पैर रखे ही थे कि घर में उस शाम युद्ध हो गया। तेज पानी की बारिश में मेरे भाई ने चीखकर मुझसे कहा, 'तुम इस घर में नहीं रह सकती।'

'क्यों नहीं रह सकती ? मैं तो यहीं रहूँगी।'

'इसलिए नहीं रह सकती कि तुमने घर को मेरे नाम नहीं किया।' वह क्रोध में काँप रहा था।

---

[48] मैत्रेयी पुष्पा, गुड़िया भीतर गुड़िया, पृष्ठ : 25

'अच्छा ही किया न, अब तो मेरा अधिकार है, मैं यहीं रहूँगी।'

'देखता हूँ कैसे रहती हो?'

'मैं भी देखती हूँ कि तुम मुझे कैसे घर से निकालते हो ? मैं कलक्टर से शिकायत कर दूँगी।' मैं क्रोध व अपमान से काँप रही थी। मेरी माँ चुपचाप खड़ी हरी का यह व्यवहार देखकर मुझे ही चुप कराती कह रही थीं, 'चुप हो जाओ। तुम चुप रहो कृष्णा।' यदि इस समय भी मेरी माँ ने अन्याय का विरोध किया होता तो परिवार बच जाता।''[49]

आखिर कृष्णा अग्निहोत्री का कसूर क्या था, यही कि वो स्त्री थी, किंतु उन्होंने सम्मान से जीना चाहा। कृष्णा स्त्री की जगह पुरुष होतीं तो क्या अपना सगा भाई इस तरह का अपमान भरा व्यवहार कर पाता ?

''एक निर्दोष स्त्री को इस बात की सजा परिवार व समाज वाले दे रहे थे कि उसने पति से पिटना नहीं चाहा। अकर्मण्य पति के कारण नौकरी के माध्यम से अपनी बच्ची को पालना चाहा। अपना सिर छुपाने के लिए एक कमरे की छत चाही। कि उसने इज्जत से भाई के पास रहने के लिए मकान का हिस्सा नहीं छोड़ा। वास्तव में तो मेरे ससुराल, मायके वालों ने घोषणा कर दी थी– हमें तुम्हारे जीने या मरने में कोई रुचि नहीं।..... बात केवल जायदाद के अधिकार से वंचित करने की नहीं है। पूरे रुख की है जिसमें से स्वार्थ की बू आ रही थी।''[50]

स्त्री जब तक चुप रहती है तब तक सम्बन्ध बने रहते हैं, लेकिन जैसे ही वह मुँह खोलती है, सम्बन्धों पर पड़ा नकाब उतरने लगता है, और यथार्थ सामने आ जाता है....आवरण–हीन। पत्नी नौकरी करे या न करे, यह पति की ज़रुरतों के हिसाब से तय होता है, इसलिए नहीं कि अपने मान–सम्मान के लिए, अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए पत्नी को भी आत्मनिर्भर होना चाहिए । सुशीला टाकभौरे अपनी इस व्यथा को अपनी आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' में बखूबी अभिव्यक्त करती हैं–

---

[49] कृष्णा अग्निहोत्री, लगता नहीं है दिल मेरा, पृष्ठ : 224

[50] वही, पृष्ठ : 226

''उनके लिए बहन के परिवार का दुगना खर्च उठाना ज़रुरी था, इसलिए 150/रू0 प्रति माह की यह नौकरी मुझसे करवाना ज़रुरी लग रहा था। उन्होंने विशेष आग्रह के साथ दानी मैडम से उस नौकरी के लिए बार–बार कहा। मैं सोचती रही, यदि ननद अपनी ससुराल में रहती तो यह स्थिति नहीं रहती मगर मैं यह बात नहीं कह सकती थी। सब तरह से मैंने समझ लिया था इन्हें अपनी बहन प्रिय है, मैं नहीं। मैं कुछ कहती तो इन्हें भयंकर गुस्सा आता। एकदम मारने पीटने लगना जैसे इनका जन्म सिद्ध अधिकार था।''[51]

इन आत्मकथाओं के अध्ययन से इतना तो स्पष्ट है कि स्त्री का दाम्पत्य जीवन अगर बना रहता है तो सिर्फ समझौतों के आधार पर। समझौतों का एक अंतहीन सिलसिला स्त्री के लिए जीवन पर्यन्त जारी रहता है। पुरुष हमेशा स्त्री को मार–पीट कर, डरा–धमका कर रखता है। जहाँ स्त्री के लिए आत्मसम्मान बचाना कठिन हो, वहाँ अधिकार की बात तो बहुत दूर की चीज है। लेकिन फिर भी एक सीमा तक बर्दाश्त करने के बाद मन्नू भंडारी, पद्मा सेचदेव, कृष्णा अग्निहोत्री, कौसल्या वैसंत्री आदि लेखिकाएँ अपने स्वाभिमान और अधिकार के लिए उठ खड़ी होती हैं। इतना तो तय है कि भारतीय मानस स्त्री को कोई अधिकार नहीं देना चाहता– न घर पर, न स्वयं पर, न स्त्री का उसके तन, मन, धन पर।

3. परिवार और परिवार से बाहर जीवन–संघर्ष

संघर्ष जीवन के लिए आवश्यक है, क्योंकि ये जीवनानुभवों की वृद्धि में सहायक होते हैं। संघर्ष ही जीवन के समुचित विकास की दिशा निर्धारित करते हैं। किंतु पुरुष (खास तौर से सवर्ण पुरुष) का जीवन–संघर्ष जहाँ जीवन की स्वाभाविक गतियों से उपजा संघर्ष होता है, वहीं स्त्री का जीवन–संघर्ष, जीवन की स्वाभाविक गतिशीलता से उत्पन्न न होकर पितृसत्तात्मक षड्यंत्र से उपजा संघर्ष ज्यादा होता है। दरअसल पितृसत्ता कदम–कदम पर स्त्रियों का जीवन

[51] सुशीला टाकभौरे, शिंकजे का दर्द, पृष्ठ : 152

कठिन–से–कठिनतर बनाने की कोशिश में लगी रहती है, ताकि उसका वर्चस्व बना रहे। स्त्रियों के प्रति इस शोषणपरक अनुष्ठान में परिवार से लेकर समाज तक की व्यापक भागीदारी होती है।

अपने अस्तित्व को बचाने का संघर्ष एक स्त्री के लिए बाल्यावस्था में ही शुरू हो जाता है। परिवार में कभी अपने लड़की होने के कारण, तो कभी रंग–रूप के कारण स्त्री माँ–बाप, भाई–बहनों या परिवार के अन्य सदस्यों की उपेक्षा का शिकार होती है। बचपन से ही पारिवारिक उपेक्षा का यह दंश स्त्री के भीतर जीवन भर के लिए हीनता बोध उत्पन्न कर देता है। जिसके फलस्वरूप स्त्री में आत्मविश्वास की कमी, डर, झिझक जैसे नकारात्मक भाव घर कर जाते हैं, एवं उसके समुचित विकास में बाधक साबित होते हैं। पारिवारिक उपेक्षा, यौन शोषण का बालमन पर क्या प्रभाव पड़ता है ? इसकी यथार्थपूर्ण अभिव्यक्ति प्रभा खेतान की आत्मकथा 'अन्या से अनन्या' में हुई है।

'' पाप ? क्या हर लड़की, हर महीने पाप का बोझ बढ़ाती है ? उस दिन पूरी बात समझ में नहीं आई थी। बस जीवन में कहीं कुछ बहुत गलत घट गया। अपराध ? पाप ? नहीं तो अम्मा मुझसे इतनी नफरत नहीं करतीं। उन्हें मेरा कुछ भी नहीं अच्छा लगता ? जरा–सी हरारत, हल्की–सी खाँसी और उनके दिमाग से चिनगारियाँ क्यों फूटने लगती हैं ? कहीं कुछ शॉर्ट सर्किट हो जाता है। भगवान ! मेरी माँ मुझसे क्यों इतनी घृणा करती है ? मेरा कद लम्बा क्यों होता जा रहा है ? मेरे दाँत बाहर क्यों निकलते हुए हैं ? अम्मा इतनी गोरी, बाबूजी इतने गोरे थे। दोनों भैया लोग, जीजी लोग भी गोरे, फिर खाली मेरा रंग साँवला क्यों ?..... बाहर वालों को चाय का कप पकड़ाते हुए मेरे हाथ क्यों लगते हैं ? चलते समय पैरों की धमधम आवाज क्यों होती है ? मैं हमेशा उस परी की कल्पना करती जो अपनी जादुई छड़ी से मुझे छूकर सिंड्रेला बना देगी।''[52]

बचपन की तरलता, कोमलता, मासूमियत छीन, प्यार के बदले नन्हें व्यक्तित्व को बेधती कठोर वर्जनाएँ, स्त्रीत्व के स्वाभाविक लक्षणों, घटनाओं पर

---

[52] प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, पृष्ठ : 40–41

महसूस कराये जाने वाले आत्महंता अपराधबोध– यही होती है एक लड़की के स्त्री बनने की सामान्यीकृत कथा। स्त्री के व्यक्तित्व को बचपन से ही इतना कुंठाग्रस्त बना दिया जाता है कि वह एक सहज, सामान्य, स्वस्थ जीवन जी ही नहीं पाती। व्यक्तित्व में जड़ जमाए बैठा यह अपराध बोध उसके जीवन के हर निर्णय को प्रभावित करता है। रोहिणी अग्रवाल ठीक ही लिखती हैं कि–

'' 'छिन्नमस्ता' एवं 'अन्या से अनन्या' पढ़कर हर बार यह अहसास पुष्टतर होता चलता है कि यदि सामान्य बचपन पाया होता उन्होंने तो असामान्य सम्बन्ध का वरण भी न किया होता; यदि दाई माँ ने भाई की करतूत पर अबोध बालिका के मन में कूट–कूट कर 'कालिख लगने' या कहर ढह जाने की बात भर कर पति से अपना राज छुपाए रखने की सख्त हिदायत न दी होती तो शायद प्रभा खेतान 'पति' यानी 'विवाह संस्था के संरक्षक' से इतनी भयभीत न होती।''[53]

किंतु बचपन की उपेक्षा, यौन–शोषण की भयावह सच्चाईयों का सामना करते हुए भी प्रभा भीतर–ही–भीतर एक मजबूत और आत्मविश्वासी शख्सियत में रूपान्तरित होती हैं। अपने संघर्ष के बलबूते ही प्रभा एक सफल व्यवसायी बन पाती हैं। डॉ0 सर्राफ उनके पति नहीं थे, फिर भी पतियों के पारम्परिक आवरण को ओढ़कर वे प्रभा को मानसिक पीड़ा देने का कोई अवसर नहीं गवाँते। हालाँकि वे प्रभा को पत्नी जैसा कोई अधिकार नहीं देते। प्रभा खेतान पर लगाए जाने वाले लांछनों का कोई जवाब नहीं देते–

'' ''सब कुछ मुझे अकेले ही झेलना पड़ेगा और आपके मुँह में दही जमा है ?

''अरे तो उस मूर्ख फूहड़ और से मैं क्या बहस करता ?''

''भली औरत सड़ाक–सड़ाक चाबुक चलाए जा रही थी। चोट तो मुझे ही लगनी थी''

---

[53] रोहिणी अग्रवाल, साहित्य की जमीन और स्त्री–मन के उच्छ्वास, पृष्ठ : 101

''अब क्या किया जाए ? सोचना शुरू करुँगा तो परेशान हो जाऊँगा।''[54]

यही डॉ0 सर्राफ जब प्रभा जी के हर आने–जाने वाले फोन, मित्रों, चिट्ठियों पर रात–दिन दिमाग लगाए बैठे रहते तब परेशानी नहीं होती–

''मुझे पता था कि डॉक्टर साहब ने अन्दर वाले कमरे से फोन उठा रखा है। यह कोई नई बात नहीं। मुझ पर नियंत्रण रखने का यह उनका अपना तरीका है। मेरे नाम की हर चिट्ठी पहले डॉक्टर साहब की मेज पर जाती थी। तीस साल के बावजूद मैं कभी उनका विश्वास नहीं जीत पाई। मेरे सम्पर्क में आने वाले हर पुरुष के प्रति वे सन्देहग्रस्त रहते और रिश्तों की कैफियत देते–देते मैं थक जाती।''[55]

औरत का संघर्ष कभी खत्म नहीं होता, उसके सम्पूर्ण समर्पण, निष्ठा और प्रेम के बावजूद। प्रभा खेतान का संघर्ष अपने कैरियर के लिए किया गया संघर्ष एक पढ़ी–लिखी लड़की का संघर्ष है, जो आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होना चाहती है। किंतु इस संघर्ष के पीछे डॉ0 सर्राफ के साथ जीये जाने वाले रिश्ते के लिए एक आर्थिक किलेबन्दी नजर आती है। हालाँकि इस आर्थिक आत्मनिर्भरता के बावजूद वे कभी भी, और कहीं भी बख्शी नहीं गईं। सामाजिक रूप से उन्होंने हमेशा स्वयं को असुरक्षित महसूस किया। सामाजिक रूप से अस्वीकार की स्थिति ने हमेशा उन्हें मानसिक संघर्ष और दबावों में उलझाये रखा।

''मेरी सबसे बड़ी त्रासदी थी कि मैं हमेशा भयग्रस्त रहती, समाज के ताने–बोली का भय, डॉक्टर साहब के विमुख होने का भय, उनके परिवार में एक बाहरी व्यक्ति ही बनकर न रह जाऊँ इसका भय, भय मेरा स्थायी स्वभाव बन गया। मजे की बात तो यह है कि मुझे आर्थिक असुरक्षा कभी नहीं घेरती थी।.... उनका परिवार मुझे स्वीकार नहीं रहा था और मैं थी कि उसी परिवार को अपना

---

[54] प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, पृष्ठ : 12–13

[55] वही, पृष्ठ : 164

बनाने में जुटी थी। जो मेरी छवि पर कालिख मलते मैं उन्हीं को जीतने की जी–जान से चेष्टा करने लगती।''[56]

प्रभा खेतान हमेशा अपराधबोध से ग्रस्त रहीं, अपनी ही बनायी मान्यताओं से संघर्ष करती रहीं। एक विवाहित स्त्री के अधिकार में स्थायी रूप से भागीदार बनने के अपराधबोध से वे कभी उबर नहीं पाईं। हालाँकि कई बार वे इस रिश्ते से आजाद होने की असफल कोशिश करती हैं, लेकिन तब तक उनकी आर्थिक सफलता, उनका रुतबा, पैसा, लोगों को उनसे जोड़े रखता है– एहसान जताते हुए। प्रभा खेतान का संघर्ष मानसिक ज्यादा है, बजाय आर्थिक के। क्योंकि वे सामाजिक मान्यताओं, तथाकथित नैतिकताओं के खिलाफ खड़ी अपने अस्तित्व को लगातार नकारे जाने की पीड़ा महसूस करती हैं। यहाँ पर आकर प्रभा कमजोर नजर आती हैं, क्योंकि जिस हिम्मत और बहादुरी के साथ उन्होंने अपने प्रेम संबंध की बुनियाद रखी थी, उस इमारत की मजबूती उन्हें पता थी, उसका भविष्य भी उन्हें पता था, फिर वे कैसे समाज से अपेक्षा रखने लगीं कि वह समाज उन्हें दूसरी औरत के रूप में अपनाएगा। जबकि उस समाज को उसके नियमों को उन्होंने खुद अस्वीकार किया। आखिर सामाजिक स्वीकृति की उन्हें ज़रुरत क्यों महसूस होने लगी। किसी भी प्रकार की आर्थिक मजबूरी न रहते हुए भी रिश्ते में वे निरीह क्यों बनी रहीं ? क्या इसका कारण ये नहीं कि वे समाज की नजर में तो दोषी थी हीं, कानून की नजर में भी अपराधी साबित हो रही थीं, और इस सच्चाई से गहराई से वाकिफ थीं। दर्शन की एक प्रतिभाशाली छात्रा होने के बावजूद प्रभा डॉक्टर के झूठ को नहीं पकड़ पाईं, और जीवन भर एक रुग्ण मानसिक निर्भरता में झूलती रहीं, प्रेम के नाम पर।

प्रभा का दुख ये है कि वो विवाह संस्था से बाहर हैं और लोगों का कोप भजन हैं, लेकिन इसके ठीक उलट मैत्रेयी पुष्पा बाहर से भरे–पूरे परिवार, बाल–बच्चों, सामाजिक रुतबों वाली पत्नी हैं फिर भी बेचैन, क्योंकि पत्नी–माँ से इतर उनकी कोई अलग पहचान नहीं है। मन ही मन वह संघर्ष और तनाव की एक निश्चित परिपाटी में जीती है–

---

[56] वही, पृष्ठ : 174–175

''पता नहीं वह कौन थी जो दुल्हन के रूप में गहने–कपड़े पाकर डॉक्टर साहब की संगिनी होने का ख्वाब देख रही थी और उनके घर की स्त्री होने में सौभाग्य तलाश रही थी। पति और घर को लेकर मैंने तमाम सपने बुने, आज रेशमी फन्दे टूटते क्यों हैं ?''[57]

हालाँकि विवाह का फैसला खुद मैत्रेयी का था, अपनी माँ के मना करने के बावजूद वो कैरियर बनाने का सपना छोड़कर विवाह के बंधन में बँधना चाहती हैं, एक सुखी–घर–परिवार पाना चाहती हैं। लेकिन इस चाहत के पीछे एक बेघर–बार एक असुरक्षित लड़की का भय छुपा है, मैत्रेयी की माँ इस बात को नहीं समझ पातीं। मैत्रेयी का पूरा बचपन तरह–तरह के यौन शोषणों का शिकार होते, संघर्ष करते गुजरा है, ऐसे में वे विवाह के माध्यम से स्थायित्व ढूँढ़ती हैं, साथ ही अपनी स्त्रियोचित ज़रूरतों, इच्छाओं के लिए एक नैतिक, सामाजिक, सुरक्षात्मक माध्यम। किंतु संतोषजनक वैवाहिक जीवन के बावजूद ऐसी कौन सी कमी मैत्रेयी को नजर आती है जो इससे भी आगे बढ़कर उन्हें संघर्ष के रास्ते की ओर आकर्षित करती है ? रोहिणी अग्रवाल मैत्रेयी के संघर्षों के बारे में लिखती हैं– ''बाड़े में बन्द भेड़ बनना स्वीकार्य नहीं मैत्रेयी पुष्पा को। अठ्ठारह साल की उम्र में खुद आगे बढ़कर जब माँ से अपना ब्याह कर देने का आग्रह किया था तो बाड़े का वरण करने की लालसा नहीं थी, दिन–रात के उस शोषण से मुक्ति की मासूम इच्छा थी जो कुँआरे बदन पर जुगुप्सा भरी लिजलिजी अनुभूति जगाती थी। माँ या समाज पुरुष मन के अँधेरे में पलती इस काम–विकृति को भले ही अनदेखी कर दे, विक्टिम स्त्री–मन कितनी ही कुंठाओं, वर्जनाओं, ग्रन्थियों, असुरक्षाओं और हीनताओं से बिंध–नुच कर अपने ही आत्मसम्मान को रौंदता चला जाता है। मैत्रेयी पुष्पा ने अबोध बचपन से ही काम विकृतियों के जिस सैलाब को झेला है, वह दैहिक शुचिता का पाठ पढ़ा कर उन्हें 'सती' कैसे बनाये भला ? दूर तक फैली स्मृतियों की जड़ों को उखाड़ फेंकना इतना सरल नहीं होता। मैत्रेयी पुष्पा की विद्रोही भंगिमा का पहला बींज।''[58]

---

[57] मैत्रेयी पुष्पा, गुड़िया भीतर गुड़िया, पृष्ठ : 24

[58] रोहिणी अग्रवाल, साहित्य की जमीन और स्त्री मन के उच्छवास, पृष्ठ : 116

बचपन में मैत्रेयी के भीतर पड़ा संघर्षों का वह बीज अपनी अस्मिता की चेतना में और भी अधिक पल्लवित हुआ है। संघर्षशील मैत्रेयी अपने दाम्पत्य में जरा–सा अंसतुलन पाते ही विद्रोही हो उठती हैं। हालाँकि संघर्ष, विरोध और समझौतों के इन्हीं छोटे–छोटे टुकड़ों के माध्यम से वे अपने पारिवारिक दाम्पत्य जीवन का कोलाज रचती हैं–

''फिर भी कठिनाइयाँ कठिन से कठिनतर हो गईं, क्योंकि किराए का मकान हम पति–पत्नी दोनों के लिए नया तजुर्बा था।''[59]

गाँव की स्त्री मैत्रेयी के लिए नये शहर में संतुलन बनाना मानसिक–शारीरिक श्रमसाध्य कार्य था। कभी आधुनिक बनने की चाह में बालों में पफ लगाना, जिसके खुलकर पार्टी में गिर जाने पर सबकी नजरों में मजाक का पात्र बनना, एक तरफ पति के दबावों में आधुनिक बनने की कोशिश, दूसरी तरफ उसी कोशिश के कारण उसके शक और तानों को बर्दाश्त करना–

'' ''तो साथ ले चलो इन कुँआरे देवरों को.....।''

''साथ ? साथ क्यों ?''

''इसलिए कि चार–पाँच मुसाफिर एक हसीना। तुम्हें तो कुँआरेपन की यही आदत है।'' क्रूर व्यंग्य !

..... मैं दाँत पीसती रही। फिर उन पर तरस आ गया। बेचारे, उस बच्चे की तरह हैं, जो खुद को खेल में हारते देखता है, खेल बिगाड़ देता है।''

.... कोई तुमसे पूछे, तुम्हारे दोस्तों की खातिरदारी में मैं किसके कारण लगी? ये मेरे तो दोस्त नहीं थे। हाँ, दोस्त बन न जाएँ, यही डर तुम्हारी उदारता और सद्भावना को चबाने लगा, विश्वास को खाने लगा कि बीबी कभी पतिव्रत की लक्ष्मण रेखा न लाँघ जाए।''[60]

---

[59] मैत्रेयी पुष्पा, गुड़िया भीतर गुड़िया, पृष्ठ : 33

[60] वही, पृष्ठ : 34

पति का व्यवहार चाहे कितना भी मित्रवत हो, आखिर वह पति होता है, औरत पर व्यंग्य बाण छोड़ने का, उसे नीचा दिखाने के किसी भी मौके की ताक में रहता है। मैत्रेयी जीवन भर पति नामक जीव से संतुलन साधने की जुगत में लगी रहती हैं। इसके लिए वे तथाकथित 'त्रियाचरित्र' का भी सहारा लेती हैं। त्रियाचरित्र मैत्रेयी के लिए स्त्रियों का अवगुण न होकर पारिवारिक जीवन में संतुलन साधने की विशेष कला है क्योंकि स्त्री को सबको खुश रखने जैसे कठिन कार्य से संघर्ष करना पड़ता है। मैत्रेयी तीन बेटियों की माँ बनती हैं जैसा कि जाहिर है इसके लिए भी वे अपराधिनी घोषित की जाती हैं गाँव, समाज की नजर में–

''मैं चुप थी, या थी शायद अवसन्न.....मेरा मायका मुझे किस तरह पछाड़ने पर तुला है। मैं यहाँ से चली जाऊँगी, ये क्या बिगाड़ लेंगे मेरा ? लेकिन जो घाव हृदय को बेधकर बना दिया है, उसकी पीड़ा भरी तड़प को कहाँ ले जाऊँगी ? मेरी बेटियों के प्रति मेरी लगाव भरी दुनिया में आग लगा दी। मुझे अपमान के भालों से रौंदा... मेरा नाता भी यहाँ अब क्या रहा ? उफ् ! मैंने अपने इसी गाँव से जुड़े रहने के लिए कितनी यात्राएँ की थीं।''[61]

तीन बेटियों की माँ के रूप में मैत्रेयी का संघर्ष एक शानदार सफर रहा है। अपनी बेटियों को शिक्षित, आत्मनिर्भर बनाकर वे समाज से अपने और अपनी बेटियों के अपमान का प्रतिरोध लेने हेतु प्रतिबद्ध हो जाती हैं–

''नम्रता और मैं। माँ रातभर जागती, बेटी रातों–रात पढ़तीं। मैंने अपना समय उसके निमित्त किया।... उन सबसे बदला लेने की बात सोचती रही हूँ जिन्होंने इस धरती पर लड़कियों का जीवन मुहाल कर दिया।... सोचा था मैंने, मैं अपनी बेटियों को ऐसा बनाऊँगी कि तुम अपने संकट में उन्हीं को याद करो। उन्हीं के हाथों राहत पाओ।''[62]

---

61 वही, पृष्ठ : 102

62 वही, पृष्ठ : 122

मैत्रेयी पुष्पा का संघर्ष एक मध्यवर्गीय पारिवारिक स्त्री का संघर्ष है। मध्यवर्गीय परिवार की सामान्य स्त्री, बंदिशों में जकड़ी स्त्री अपने जीवन में किन संघर्षों का सामना करती है इसे मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा यथार्थ तरीके से अभिव्यक्त करती है। अनामिका लिखती हैं–

''मैत्रेयी जी की आत्मकथा मूलतः इस तकलीफ के इर्द–गिर्द बुनी हुई है कि समलैंगिक ग्राम सेविका की इष्ट मित्रों के घर पली–बढ़ी और गुरुकुल में पढ़ी बच्ची, छिन्न–भिन्न, अस्त–व्यस्त बचपन वाली एक संवेदनशील किशोर जब अन्ततः एक सँभ्रान्त से ब्याही जाती है और तीन बेटियाँ ढंग से बड़ी कर लेने के बाद इतनी–सी फुर्सत पाती है लिखने की वह भी बच्चों की अनवरत जिद पर।... एक व्यापक–सी सुगढ़ गृहस्थी चलाते–चलाते जब बचपन के अनुभव और वृत्तान्त धीरे–धीरे उकेरे जाते हैं, तो कोई लँहगे वालियों का 'कच्चा, रोना–गाना' कहकर दूर ठेल देता है, तो कोई ऐतिहासिक महत्व की सामग्री मानकर कुछ साज–सँभाल देता है।''[63]

गृहस्थी की साज–संभाल और बच्चों की परवरिश में तन, मन, धन से रमी स्त्री को अपने बारे में सोचने की फुर्सत कहाँ है। किंतु जब उसे अपनी प्रतिभा अपनी क्षमता के लिए प्रोत्साहित किया जाता है, तो मैत्रेयी पुष्पा जैसी लेखिका से साक्षात्कार होता है। मैत्रेयी के जीवन का पूर्वार्द्ध स्त्री अस्मिता से लैस, पूरी तरह घर–परिवार वाली स्त्री के रूप में है, किंतु उत्तरार्द्ध अपने सभी पारिवारिक कर्त्तव्यों को पूरी तरह निभा लेने के बाद अपने लिए नया आकाश तलाशती स्त्री का है। एक ऐसा आकाश जहाँ वो किसी की बेटी, पत्नी, माँ न होकर सिर्फ और सिर्फ मैत्रेयी पुष्पा हो। हालाँकि मैत्रेयी पुष्पा को अपने जीवन में घर की जरुरतों के लिए आर्थिक संघर्ष नहीं करना पड़ा (कम से कम आत्मकथा में ऐसा वर्णन नहीं है) क्योंकि उनके पति एक प्रतिष्ठित डॉक्टर थे, आय का एक निश्चित, बँधा हुआ स्रोत उनके पास था, और उनके डॉक्टर पति भी पारिवारिक आवश्यकताओं के प्रति एक जिम्मेदार पुरुष थे। किंतु चन्द्रकिरण सौनरेक्सा के मामले में ऐसा नही है। चन्द्रकिरण जी का पूरा जीवन घर की छोटी–छोटी आर्थिक जरुरतों के लिए

[63] अनामिका, स्त्रीकाल, अप्रैल 2010, संपादक : संजीव चन्दन, पृष्ठ : 179

परेशान, संघर्षरत व्यतीत हुआ। रात से लेकर सुबह, सुबह से लेकर दोपहर, दोपहर से शाम, सिर्फ काम–काम–काम। घरेलू खटराग का अंतहीन श्रम–संघर्ष। इनकी आत्मकथा का एक उदाहरण ही इनके जीवन–संघर्ष की सम्पूर्ण कहानी कह देता है–

''अब मेरी दिनचर्या थी– अँधेरे पाँच बजे उठकर, दो अँगीठियाँ जलाना, सभी के लिए 'बेड टी' देना। फिर भोजन बनाने में जुट जाती। बीच–बीच में कुंतल को दूध पिला आती। उसके टट्टी–पेशाब के लँगोट बदल आती। फिर बस एक गनीमत थी– स्वराज्य व बालूपूरी नन्हीं बच्ची को खिलाते रहते थे। साढ़े नौ बजे तक पराठों का नाश्ता करके, तीनों भाई अपना–अपना टिफिन सँभालकर, दफ्तर चल देते। इसके बाद ही मुझे दाँत माँजने का होश आता। आधे घंटे में, तैयार होकर स्कूल पहुँचना होता था। किसी तरह नहा कर निकलती जल्दी से, तैयार होते–होते बिस्कुट के साथ ठंडी चाय निगलती (गर्म करने का वक्त कहाँ था).... स्कूल की महरी के आने पर, बच्ची ओर उसका कपड़ों का थैला (रात को ही तैयार कर लेती थी) उसे सौंप कर फटाफट साड़ी बाँध, तीनों जन स्कूल चल देते। डेढ़ बजे, महरी के साथ घर आती;..... मैं जल्दी–जल्दी बच्ची की मालिश करती; नीचे वाली से एक लोटा गरम पानी माँगकर, उसे नहलाती, दूध पिलाकर सुला देती। ढाई बजे खाना खाने के बाद, घर की सफाई में जुटती। सवेरे तो कुछ हो ही नहीं सकता था। घर एकदम अव्यवस्थित अवस्था में मिलता था। ..... चार बजे तक मैं संध्या की सब्जियाँ काट–छील कर, दाल बीन कर, आटा गूँथ कर रखती, क्योंकि ट्यूशन से लौटते समय साढ़े पाँच से ऊपर हो जाता था। मैं दुबारा खुद तैयार होती; बच्ची को तैयार करती; उसके सामान के साथ एक पीतल का डोल दूध के लिए हाथ में लेती, बायें हाथ में बच्ची को थामती और चन्द्रावल के लिए चल देती।... सातवीं में पढ़ने वाली दूसरी लड़की भी अपनी किताबें लेकर आ बैठती। मैं बीच में उसे भी पढ़ाती जाती। सो अक्सर पढ़ाई डेढ़ घंटे तक चलती।..... मैं बच्ची का सामान व दूध की बाल्टी लेकर, तेज कदमों से घर लौटकर आती। घर पर पहले से ही तीनों भाई, बालूपूरी और इनके साथ एक–दो मित्र आ चुके होते। कोयले की अँगीठी के नीचे कागज लगा कर, कपड़े बदलती,

और चाय बनाकर, एक प्लेट में बिस्कुट भरकर कमरे में दे आती। खाना बनाते, बीच–बीच में उन लोगों की साहित्यिक चर्चा में भाग लेती।.....रात को नौ बजे तक खाना–पीना निबटता तो मैं उल्टा–सीधा चौका सँभालकर; बच्ची को साथ लेकर सो जाती।... दिन समाप्त।''[64]

देखकर आश्चर्य होता है कि स्त्री किस तरह जीवन–पर्यन्त घड़ी की सुईयों से होड़ करती है। गुजरते हुए समय के एक–एम मिनट की कीमत स्त्री से ज्यादा कौन समझ सकता है भला। जिस तरह घड़ी की सुईयाँ चलती हैं, स्त्री के कदम ठीक उसी तरह चलते हैं, शायद उससे भी ज्यादा तेज। जब तक ताकत है, ऊर्जा है, संघर्ष करना है, चलना है, ऊर्जा खत्म टिक–टिक खत्म, जीवन की किच–किच खत्म।

एक आदर्शवादी पत्नी, एक सुघड़ गृहणी के रूप में चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की आत्मकथा में अभिव्यक्त संघर्ष अपने अस्तित्व को बचाए रखने की जद्दोहद है। रोहिणी अग्रवाल ठीक ही लिखती हैं कि– ''लेखिका का जीवन इस दृष्टि से श्लाघनीय है कि पढ़ने की हसरत को उन्होंने आँसुओं के सैलाब या अभावों की होली में गंवाया नहीं, बल्कि उसे जीवन–मरण का सवाल और चिरसंगी बनाकर सदा सीने से लगाये रखा। एक रेगुलर विद्यार्थी की तरह अबाध गति से मैट्रिक पास करने के खंडित सपने की किरचों को हृदय में सँजो कर उधार माँगी गई किताबों की मदद से छोटी उम्र में ही साहित्य रत्न तक की परीक्षाएँ उत्तीर्ण करना और वर्जनाओं के बावजूद 'देवदास' एवं 'हातिमताई' जैसी वयस्क समझी जाने वाली कृतियों के जरिए साहित्य जगत से जुड़ना– चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की अपराजेय जुझारु वृत्ति को संकेतित करते हैं।''[65]

भारतीय समाज की परम्परागत नैतिक मान्यताओं के साथ पति को परमेश्वर मानते हुए एवं घर को स्वर्ग बनाने की इच्छा रखते हुए लेखिका ने घर और बाहर दोनों जगह संघर्ष करते अपनी जीवन नैया खुद संभाली है।

---

64 चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पिंजरे की मैना, पृष्ठ : 212–213

65 रोहिणी अग्रवाल, साहित्य की जमीन और स्त्री–मन के उच्छवास, पृष्ठ : 77

''पति की 'दो रोटी' उन्होंने कभी खाई भी नहीं। पति नौकरी पर बहाल हों या सस्पेंड गृहस्थी के खटराग के साथ हमेशा ट्यूशन, नौकरी, रेडियो प्रोग्राम, कवि सम्मेलनों के जरिए नियमित– अतिरिक्त आय का प्रबन्ध कर अकेले ग्रहस्थी की गाड़ी खींची है।''[66]

आत्मकथा लेखिका मन्नू भंडारी का संघर्ष पति–पत्नी के रिश्ते में ईमानदारी, समर्पण के अभाव से उपजा संघर्ष ज्यादा है। हालाँकि उनके जीवन में भी चुनौतियाँ थीं, मसलन पारम्परिक परिवार आर्य समाजी, रसूखदार परिवार की लड़की होना और प्रेम विवाह, विवाह के पश्चात पति–पत्नी का दूर रहना, अपनी बच्ची को समय–समय पर दूसरों के सहारे छोड़ना, गृहस्थी चलाने के लिए नौकरी की चिंता (पति राजेन्द्र यादव पूर्णतः लेखन पर निर्भर) आदि। किंतु अपने जीवन में सबसे ज्यादा परेशान, तनावग्रस्त वो जिस बात को लेकर रही हैं– वो है राजेन्द्र यादव का रिश्ते के प्रति गैर जिम्मेदाराना रवैया, एकनिष्ठता की कमी। दरअसल स्त्री संघर्ष सम्बंधों के अस्वाभाविक स्वरूप से जुड़ा है– वो सम्बंध चाहे पारिवारिक हों या सामाजिक। मन्नू के जीवन में पति और बेटी का क्या स्थान था, इसे निम्न उद्धरण द्वारा समझा जा सकता है–

''सहज–सामान्य स्थिति होने पर ये दो सम्बन्ध ही तो मेरे निकटतम सम्बन्ध होते– पति और पुत्री.....लेकिन एक ने तो मुझे सम्बन्ध शुरू होने के साथ ही समानान्तर जिंदगी का नुस्खा थमाकर अपने को मुझसे अलग ही कर लिया था....आज इतने बरसों बाद पता चला कि टिंकू भी मुझे अपनी असली माँ नहीं, पराई माँ ही माने बैठी है। और इस सच्चाई के सामने आते ही फिर तो मेरा त्रास आँसुओं में बहने लगा।''[67]

हालाँकि एक माँ के रूप में मन्नू भंडारी कैसे अकेले ही अपनी दोहरी जिम्मेदारियाँ निभाती हैं, इसे स्वयं उनकी बेटी रचना यादव के द्वारा यथार्थपरक ढंग से जाना जा सकता है–

---

66 वही, पृष्ठ : 79

67 मन्नू भंडारी ,एक कहानी यह भी, पृष्ठ : 78

''इस युग में कई बच्चों के पापा उनके रोल मॉडल होते हैं। यह कहने में मुझे कोई संकोच नहीं कि मेरे नहीं हैं। लेकिन इतना खुशकिस्मत जरुर थी कि मम्मी ने इन कमियों को मेरे ऊपर हावी हनीं होने दिया। मम्मी ने माँ और बाप दोनों की भूमिका निभाई।.... मेरे घर और स्कूल का सभी काम मम्मी करती थीं। स्कूल का होमवर्क भी वे ही कराती थी। पैरेंट्स मीटिंग में भी वही जातीं। पापा ने इसमें कभी सहयोग नहीं किया। हाँ, जब कभी मैं स्कूल–कॉलेज के डिबेट कम्पीटिशन में भाग लेती थी और उसकी तैयारी घर पर करती थी तो पापा उसे जरुर सुनते थे। फिर उसमें कुछ जोड़ते और समझाते थे। इससे ज्यादा कुछ नहीं।''[68]

पति के साथ रहते हुए भी एकल अभिभावक की जिम्मेदारियाँ निभाते मन्नू भंडारी कभी हताश नहीं होतीं। वो हताश होती हैं एक पत्नी के प्रति राजेन्द्र यादव के व्यवहार से, जिससे उनके स्वाभिमान को ठेस लगती है। अपने वैवाहिक जीवन में शुरू से एक 'मीता' को स्वीकार करके चलती हैं, लेकिन 'मीताओं' का अंतहीन सिलसिला एक पत्नी कहाँ तक स्वीकार कर सकती है। जीवन जीने के कुछ उसूल होते हैं, सिद्धान्त होते हैं, नियम–कानून होते हैं, और व्यक्तिगत लाभ के लिए इनकी मनगढ़ंत व्याख्या या परिभाषा नहीं गढ़ी जा सकती। ऐसे तो हर अपराधी अपराध करके बच निकलेगा, क्योंकि उसके पास भी अपने अपराध करने का एक मनमाना, और गैर जिम्मेदाराना तर्क हो सकता है। अधिकार एवं स्वतंत्रता जब व्यक्ति और समाज का अहित करने लगते हैं, जब किसी और की स्वतंत्रता का हनन करने लगते हैं तो कानूनन उनकी सीमा–रेखा खींच दी जाती है। और दूसरी बात, उच्श्रृंखलता कभी स्वतंत्रता का पर्याय नहीं बन सकती। राजेन्द्र यादव चाहे जितने प्रगतिशील (स्त्रियों, दलितों के प्रति) हो जाएँ, इससे उनके अपराधों की गिनती कम नहीं हो जाती। वे अपनी पत्नी मन्नू भंडारी के अपराधी साबित होते हैं। राजेन्द्र यादव ने अपनी लेखकीय पहचान अपने सभी जिम्मेदारियों, कर्त्तव्यों से मुँह मोड़कर बनायी, किंतु मन्नू भंडारी ने अपनी पहचान दोहरी–तिहरी जिम्मेदारियों को निभाते हुए बनाई। लिखने–पढ़ने के लिए जब खाना–पीना–जीना

---

[68] रचना यादव, पाखी, सितम्बर 2011, संपादक : प्रेम भारद्वाज, पृष्ठ : 192

नहीं छोड़ा जा सकता तो जिम्मेदारियों और कर्त्तव्यों को कैसे छोड़ा जा सकता हैं ? राजेन्द्र यादव का ऐसा रवैया एक पुरुष का पितृसत्तात्मक सामंती रवैया है। जीवन–संघर्ष में रिश्चय ही स्त्री का पलड़ा भारी है। मन्नू भंडारी और राजेन्द्र यादव के दाम्पत्य के बारे में सुधा अरोड़ा लिखती हैं–

''पति पत्नी के रिश्ते में भी जोड़–घटाव, फायदा–नुकसान, लाभ–हानि, पुरुषवादी सोच इससे आगे जा ही नहीं सकती। भावनात्मक तकलीफ को समझ पाना उनके बूते का है ही नहीं।..... जब साथ थे तब भी यह आरोप लगाते थे कि लेखिका होकर भी तुम लेखक की ज़रुरत नहीं समझती। घरेलू औरतों की तरह बिहेव करती हो।''[69]

अपने पारिवारिक संघर्षों में भी मन्नू भंडारी ने हमेशा अपने रिश्ते को बचाने की कोशिश की– एक सामान्य स्त्री से ऊपर उठकर। किंतु इस कोशिश में वे अपनी पहचान को ही नष्ट करती गईं, और पति की नजर में फिर भी एक खोटी घरेलू महिला बनी रहीं, एक प्रतिभाशाली, प्रसिद्ध लेखिका होने के बावजूद–

''यह उस परम्परावादी खोटी घरेलू लेखिका के ही बूते का था कि अपने पति के लेखन को सबसे ऊँचा दर्जा देती रही और सारी छूट भी लेखिका ने ही दी– यह मानते और स्वीकार करते हुए कि लेखिका को लिखने के लिए चाहे पहाड़ों के रिसॉर्टों पर जाने और प्रेमी पुरुष की ज़रूरत महसूस न हो, पर उँगलियों में अदा से सिगार पकड़ने वाले लेखक की दैहिक और भावनात्मक जरुरतें एक आम–सामान्य पुरुष से अलग और ज्यादा हैं और विशिष्ट पुरुष को जीवन साथी बनाने का चुनाव भी तो उसका अपना ही था, फिर शिकायत कैसी और किससे ? फिर तो यह चुनौती–सी जान पड़ी कि इस विशिष्ट प्राणी को सहेजकर, संभालकर रखना है। जैसा भी है, जितना भी अपने हिस्से यह विशिष्ट पुरुष आ पड़ा है, पर उनकी सारी मजदूरी, मशक्कत् बेकार गई। जिनके लिए घर परिवार प्राथमिकता में नहीं आता, उन्हें ताउम्र इसकी अहमियत समझ नहीं आ सकती।''[70]

---

[69] सुधा अरोड़ा, पाखी, सितम्बर–2011, संपादक : प्रेम भारद्वाज, पृष्ठ : 149

[70] वही, पृष्ठ : 149

यह एक पत्नी का संघर्ष है। जिस परिवार और रिश्ते को बचाने के लिए वह अपना स्वाभिमान, सम्मान, सब कुछ भूल जाती है, पति के लिए अपनी बड़ी–से–बड़ी पहचान को मिटाने पर आ जाती है, फिर भी उसे नहीं बचा पाती। सब कुछ खोकर एक पत्नी के रूप में स्त्री खाली ही रह जाती है। यही उसके मानसिक अवसाद का कारण बनता है। मन्नू भी इसकी चपेट में आ जाती हैं, किंतु बहुत ही मजबूती से स्वयं को संभालते हुए राजेन्द्र यादव से अलग रहने का फैसला करती हैं। यह फैसला उनके संघर्ष की जीवटता का परिचायक है।

रमणिका गुप्ता स्त्रियों, आदिवासियों के अधिकारों के लिए संघर्ष करने वाली जुझारु महिला हैं, लेकिन इनके व्यक्तिगत जीवन में भी संघर्ष कम नहीं थे। वस्तुतः स्वयं के जीवन के लिए किये गए संघर्ष ही आत्मकथाकार में दूसरे की पीड़ा समझने का संस्कार भरते हैं। अपने शोषण एवं संघर्ष को रेखाकिंत करते हुए रमणिका लिखती हैं–

''युवावस्था में ही यौन शोषण का अतीत सामन्ती परिवार की एक विरासत के रूप में मुझे मिला। लेकिन तब तक मैं एक परिपक्व स्त्री हो चुकी थी। राजनीति में यौन शोषण की कीमत मुझे भी चुकानी पड़ी। मेरे ख्याल में राजनीति में महिलाओं को यह कीमत अपने स्त्री होने के कारण ज्यादा चुकानी पड़ती है।''[71]

रमणिका बनी–बनायी औरत के ढाँचे से बाहर निकल अपने लिए स्वयं रास्ते तलाश करती हैं। वह यौन–शोषण के परम्परा–प्रदत्त अपराधबोध से बाहर निकल स्वयं को एक संघर्षशील महिला के रूप में स्थापित करती हैं। रोहिणी अग्रवाल लिखती हैं–

'' 'हादसे' उनके आत्मसम्मान, आत्मविश्वास, आत्मदृढ़ता, निर्भीकता, दुर्घर्ष संघर्ष–क्षमता एवं अपराजेय जिजीविषा का पूँजीभूत रूप है।.... लड़की चाहे तो स्वयं को औरत बनाने के सामाजिक षड्यंत्र के खिलाफ डट कर लोहा क्यों नहीं ले सकती ? सामाजिक दबाव तभी कामयाब होते हैं जब उसमें न अपने को

---

[71] रमणिका गुप्ता, स्त्रीकाल, अप्रैल 2010, संपादक : संजीव चंदन, पृष्ठ : 98

समझने का, न हवा के विपरीत चलने का इरादा और विवेक हो और न अपनी शर्तों पर जीने का माद्दा।''[72]

कहने की आवश्यकता नहीं कि रमणिका में ये सारी बातें कूट–कूट कर भरी हैं। अपने रास्तें में आने वाली हर परम्परा, पितृसत्ता से वो अपने बूते ही टकराती हैं। अपने कैरियर के विकास के बारे में वे स्पष्ट कर देना चाहती हैं कि–

''मेरे कैरियर का विकास संघर्ष और जनता के विश्वास के कारण हुआ न कि मेरे सेक्स के कारण।''[73]

यह जवाब उनके लिए है जो स्त्री की बुलंदी में उसके संघर्षों को दरकिनार कर सिर्फ उसकी देह का योगदान देखते हैं। लड़कों और लड़कियों की परवरिश में किस प्रकार बड़े घरों में भी भेदभाव किया जाता है, कुसुम अंसल की आत्मकथा 'जो कहा नहीं गया' इसका उदाहरण है–

''उन दिनों मेरे दोनों बड़े भाई लंदन में इंजीनियरिंग पढ़ रहे थे। मेरा भी बहुत मन होता कि मैं भी वहाँ पढ़ूँ और मनोविज्ञान का कोई कोर्स कर लूँ, पर पापा की दलील थी, लड़कियों को कौन विदेश भेजता है।''[74]

एक लड़की को इसी तरह विकसित किया जाता है समाज में, सिर्फ विवाह की सुविधापरकता को ध्यान में रखकर। किंतु अपने अस्तित्व को तराशती, तलाशती कुसुम अंसल, कभी कोई 'इंटीरियर डैकोरेशन' कोर्स करती हैं, कभी नाटक के लिए अभिनय में भाग लेती हैं, कभी अपने अन्दर की बेचैनी को कागजों पर उतारती हैं...। स्त्री का संघर्ष अपनी नियति बदलने का संघर्ष है। इस संघर्ष की बदौलत ही कुसुम अंसल अपने नाम से अपनी पहचान बनाती हैं। स्त्री होने के ऐसे ही कड़वे अनुभव सुनीता जैन के भी हैं। 'शब्दकाया' उनकी बहुत संक्षिप्त आत्मकथा है लेकिन लेखिका के अस्मितापरक संघर्षों का पता बखूबी देती हैं।

---

72 रोहिणी अग्रवाल, साहित्य की जमीन और स्त्री–मन के उच्छ्वास, पृष्ठ : 125

73 रमणिका गुप्ता, स्त्री काल, अप्रैल 2010, संपादक : संजीव चंदन, पृष्ठ : 101

74 कुसुम अंसल, जो कहा नहीं गया, पृष्ठ : 46

''एक दिन साहस जुटाकर मैंने पति से कह ही दिया, ''मैं कुछ करना चाहती हूँ।''

''वह नहीं कर सकती तुम।''

''तो क्या कर सकती हूँ ?''

''पढ़ा सकती हो किसी कॉलेज में। पर उसके लिए तो तुम अनपढ़ बराबर हो।'' ऐसा ही कुछ कहा उन्होंने। कहीं गड़ गया भीतर तक। सच मेरी वह बी0ए0 जो अपने बाऊजी की मृत्यु के बाद, अपने परिवार से लगातार हाथापाई कर मैंने हासिल की थी, अपनढ़ जैसा ही होना तो थी। और वह भी कहाँ कोई करने दे रहा था। यदि माँ बीच में न होती, तो मेरा विवाह बाऊजी के जाते ही बी0ए0 के पहले या दूसरे वर्ष कर देते सब। कितनी रोई–झींकी थी एम0ए0 करने को। ''नहीं'', सबने कहा था, ''एम0ए0 पास लड़की के लिए पी–एच0डी0 लड़का कहाँ मिलेगा। पी–एच0डी0 लड़का तो मिला। पर मैं अनपढ़ ही रह गई थी उसके अनुसार।''[75]

सुनीता जैन प्राण–प्रण से अपने ऊपर लगे अनपढ़ के ठप्पे को मिटाने के लिए संघर्षरत होती हैं। छोटे–छोटे बच्चों के साथ सारा घर संभालते हुए विदेशी जमीन पर विदेशी भाषा (अग्रेंजी) में एम0ए0 करना, नौकरी करना, फिर पी–एच0डी0 करना आसान नहीं था, किंतु लेखिका ने इसे संभव बनाया अपने संघर्ष और मेहनत के बल पर।

शीला झुनझुनवाला का दाम्पत्य जीवन अत्यन्त सुखद, सफल और संतुलित नजर आता है। किंतु जीवन के इस रूप को बनाने के पीछे उनके कठिन संघर्ष के योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। शीला झुनझुनवाला ने अपनी जिंदगी के फैसले करने में कोई गलती नहीं की और न ही उनके प्रेमी पति ने। प्रेम या दाम्पत्य को सफल बनाने में स्त्री–पुरुष दोनों का बराबर योगदान होता है। इस कार्य में उनके प्रेमी पति टी0पी0 ठाकुर ने उनका पूरा साथ निभाया। हालाँकि अपने प्रेम को मंजिल तक पहुँचाने में उन्हें बहुत लम्बा संघर्ष, धैर्य, इंतजार करना

---

[75] सुनीता जैन, शब्दकाया, पृष्ठ : 34

पड़ा है। प्रेम के साथ–साथ शीला जी ने अपने कैरियर को भी बेहद गंभीरतापूर्वक बनाया, सँवारा। शीला झुनझुनवाला प्रेम करती हैं किंतु प्रेम के लिए अपनी अस्मिता और स्वाभिमान को कभी खोने नहीं देतीं। इस अर्थ में वे एक बहादुर और संघर्षशील महिला के रूप में उभरकर आती हैं–

''मैं तुम्हारे प्रति समर्पित हूँ। किंतु, इसका यह अर्थ नहीं कि तुम्हारी सभी उचित–अनुचित बातें मानूँ।.... अब मुझे लगता है, तुम्हारे विश्वास की कड़ियाँ अनजाने में ही टूटती जा रही हैं। जहाँ एक–एक बात के लिए सफाई देनी पड़े कि ऐसा क्यों किया, वैसा क्यों किया, वहाँ विश्वास कहाँ रहा ?..... तुम्हें तो मुझे मेरे परिवेश के साथ स्वीकारना होगा। मेरे परिवार में क्या सही है और क्या नहीं, यह सोचना छोड़कर यदि तुम मानते हो कि मैं तुम्हारे प्रति शुद्ध मन से समर्पित हूँ, तब तो ठीक है। पर यदि तुम ऐसा नहीं मानते हो तो तुम मेरे पास न आया करो। अगर मुझसे दूर रहकर तुम सुखी रह सकते हो, तो रहो। मैं दूर से ही तुम्हें सुखी देखकर सुखी हो लूँगी।''[76]

यह है एक स्वाभिमानी स्त्री का तेज, जहाँ प्रेम उसकी कमजोरी नहीं वरन उसकी ताकत है। यह उसके संघर्षशील व्यक्तित्व का ही आत्मविश्वास है। पद्मा सचदेव की आत्मकथा में जिन्दगी का राग है, उत्सव है, कविता है, किन्तु इसके साथ ही पिता के बिना अकेली लड़की का संघर्ष है। हालाँकि पद्मा की माँ कदम–कदम पर बेटी के साथ होती हैं, तब भी जब प्रेम में डूबी बेटी सत्रह वर्ष की उम्र में ही एक शराबी से विवाह कर लेती है, बीमारी के कारण मौत के दरवाजे पहुँच जाती है। तब पद्मा को माँ से ही जिन्दगी के लिए संघर्ष की प्रेरणा मिलती है। एक प्रेम के असफल होने और टूटने के बावजूद पद्मा दुबारा प्रेम करती हैं, विवाह करती हैं और एक सफल जीवन गुजारती हैं।

कृष्णा अग्निहोत्री सवर्ण परिवार में जम्नी अपने पिता की दुलारी बेटी होती हैं, किंतु इतने भर से ही कृष्णा का जीवन सुगम नहीं हो जाता। पितृसत्तात्मक वर्चस्व को झेलती कृष्णा को माँ, भाई, पति, सहकर्मी सबके साथ संघर्ष करना

---

[76] शीला झुनझुनवाला, कुछ कही कुछ अनकही, पृष्ठ : 62–63

पड़ता है– अपना और अपनी बेटी के पालन–पोषण हेतु। कदम–कदम पर कृष्णा के स्त्रीत्व को दबाया जाता है किंतु वो हार नहीं मानतीं, डटी रही हैं–

''अब मुझे ही निर्णय लेना था कि मैं मरूँ या जिऊँ। शायद अन्दर से यही आवाज आई थी– क्यों मरूँ, उन लोगों के कारण, जिन की आत्माएँ अत्याचार, लालच व स्वार्थ के संकीर्णता से भरी हुई हैं। ऐसे आत्मकेन्द्रित व्यक्तियों के लिए मरना तो कोई उद्देश्य ही नहीं, मेरी प्यारी–दुलारी बिटिया की बाहें मेरे गले की हार थीं, प्रेरणा थीं, जीने का बहाना थीं। मैं रोती रही, वह आँसू पोंछती रही और मैं किसी अदृश्य शक्ति के बल पर जीने लगी, चलने लगी, दौड़ने लगी।''[77]

जीने का यह संघर्ष एक स्त्री का आत्मबल है। डॉ0 धर्मवीर कृष्णा अग्निहोत्री के लिए लिखते हैं–

''यह एक राज नंदिनी घायल हुई है। दुर्मुखों ने शिष्टाचार और शालीनता की चादर उतार कर जीवन की मुस्कान का तारतम्य बिगाड़ दिया है। सद्गुणों के हीरे–जवाहरात की माला न जुडने देकर हरे–भरे भर्ग की गर्वीली यौवना के लात मारी गई है।... अच्छी बात यह भी है कि पूरे जीवन में आप ने एक भी बार जारिणी या संन्यासिनी बनने की नहीं सोची। न आप वात्स्यायन के बहकावे में आईं और न बुद्ध की सीख में। यहाँ के स्त्री चिंतन में इसे एक खास प्राप्ति और अच्छा शकुन मान रहा हूँ।''[78]

कृष्णा अग्निहोत्री का जीवन प्रेम में डूबी स्वतंत्रचेता स्त्री का संघर्ष है। वह कदम–कदम पर पति द्वारा छली जाती हैं। शोषण के लगभग अनेक रूपों से संघर्ष करती कृष्णा जीवन से निराश नहीं होतीं।

कौसल्या बैसंत्री दलित परिवार में जन्मी स्त्री हैं, अतः जिन्दगी की जद्दोजहद इनके साथ कुछ ज्यादा ही रही। लेखिका से भी ज्यादा इनकी माँ और नानी के संघर्ष दलित स्त्री के संघर्ष को यथार्थपरक ढंग से उद्घाटित करते हैं। जीवन के संघर्ष दलित स्त्री की ताकत बनकर सामने आते हैं– संघर्षशील,

---

77 कृष्णा अग्निहोत्री, लगता नहीं है दिल मेरा, पृष्ठ : 226

78 डॉ0 धर्मवीर, बयान, मई 2011, संपादक : मोहनदास नैमिशराय, पृष्ठ : 50

स्वाभिमानी लेखिका की आजी ने अपने स्वाभिमान के साथ जीवन जिया और स्वाभिमान के साथ ही मरीं। लेखिका की माँ भी अपने बच्चों के पालन–पोषण, पढ़ाई–लिखाई के लिए रात–दिन मेहनत करती हैं–

''माँ भी अब चूड़ियाँ, कुंकुम, शिकाकाई वगैरह बेचने लगीं। वह सिर्फ रविवार को ही गड्डी गोदाम, अपनी बस्ती और पास वाली पॉश कॉलोनी में यह समाज बेचने जाती थीं।''[79]

कौसल्या बैसंत्री की तरह सुशीला टाकभौरे भी दलित परिवार की बेटी हैं। गरीब और दलित होने के कारण एक दलित स्त्री का जीवन–संघर्ष सवर्ण स्त्री के मुकाबले कहीं ज्यादा होता है। सुशीला टाकभौरे की नानी का संघर्ष आज भी गाँवों में दलित महिला के शोषण एवं संघर्ष की बानगी है–

''रात में किसी भी समय गाँव के लोग बुलाने आते, तब उसे जाना ही पड़ता था। वह घर में रेजर ब्लेड ढूँढ़ती और उनके पीछे–पीछे चल देती थी। बच्चे की नाल वह अपने रेजर ब्लेड से ही काटती थी। पहले लड़की होने पर दो रुपया मिलता था, लड़का होने पर तीन रुपया, साथ में ओली–झोली में थोड़ा गेहूँ या ज्वार। कभी फटे–पुराने कपड़े दे दिये जाते। इसके बदले सवा महीना तक नानी जज्जा और बच्चा की तेल मालिश करती, उनके गन्दे कपड़े धोती, जज्जा घर की सफाई करती। इतनी मेहनत का काम करके नानी थक जाती थी।''[80]

संघर्ष सबके जीवन में आता है, चाहे स्त्री हो या पुरुष। किंतु स्त्री के जीवन में अधिकतर सिर्फ स्त्री होने के कारण पैदा होता है। स्त्री के जीवन में दुखों का पहाड़ ठेलने वाला यह पुरुष समाज है, जो अपने पितृसत्तात्मक अहंकार से नीचे नहीं उतरना चाहता। स्त्रियाँ अपने जीवन के जिन दुखों से उम्र भर लहुलुहान होती रहती हैं उसका कर्त्ता पुरुष और पितृसत्ता है। सवर्ण स्त्री, दलित स्त्री सब की सब इस पुरुष सत्ता द्वारा दबायी गई हैं। चाहे वो घर हो या बाहर। स्त्रियों के जीवन में आने वाले संघर्ष की यथार्थपूर्ण अभिव्यक्ति स्त्री आत्मकथाओं

---

79 कौसल्या बैसंत्री, दोहरा अभिशाप, पृष्ठ : 63

80 सुशीला टाकभौरे, शिंकजे का दर्द, पृष्ठ : 28

में हुई है। सभी के लगभग एक जैसे दुख, एक जैसे संघर्ष, एक जैसा आत्मबल और एक जैसी चेतना– स्त्री–चेतना.....स्त्री–अस्मिता की पहचान।

4. स्त्री यौन शोषण के विभिन्न रूप

किसी भी व्यक्ति के लिए शोषण का हर रूप भयावह होता है, किन्तु यौन शोषण स्त्री की देह से ज्यादा आत्मा पर अपनी खरोंच छोड़ जाता है, जिसके तनाव से स्त्री कभी मुक्त नहीं हो पाती। यह दुःस्वप्न बनकर उसका पीछा करता है। इंसानों की शक्ल में कुछ दरिंदे, छोटी बच्चियों से लेकर शादी–शुदा प्रौढ़ा या बूढ़ी महिला तक को अपनी हवस का शिकार बनाने से गुरेज नहीं करते। और अपनी गलीजता को सही साबित करने की कोशिश में तर्क देकर भूख और सेक्स को कुदरती पाशविक भावना का नाम देते हैं। समाज सारा दोष स्त्री और लड़की पर मढ़कर उसके चाल–चलन को ही खराब साबित कर देता हे। मृणाल पांडे इस घिनौनी चाल के पीछे की पूरी मानसिकता को ताड़ते हुए लिखती हैं–

''यदि हर मादा के प्रति नर में हिंसा और पाशविकता कुदरती होती तो ऐसा क्यों है कि संसार के समस्त प्राणियों में स्त्री हत्या या बलात्कार की घटनाएँ सिर्फ मनुष्य जाति में ही होती हैं ? स्त्री के प्रति सिर्फ इसलिए हिंसा है कि वह स्त्री है, यह तेवर मात्र मनुष्य–जाति की ही खासियत है।''[81]

स्त्री का यौन शोषण शारीरिक भूख कुदरती भावना नहीं, वरन् स्त्री को भयभीत करके उस पर पितृसत्तात्मक वर्चस्व का नियंत्रण बनाए रखने की षड़यंत्रकारी मंशा है। यह मंशा सभी वर्ग की स्त्रियों पर लागू होती है चाहे वो दलित स्त्री हो या सवर्ण स्त्री। तेज सिंह लिखते हैं– ''ब्राह्मणी पितृसत्ता ने दलित–पिछड़े वर्ग की नारियों पर शोषण और उत्पीड़न के दोहरे रूप को मजबूत

---

[81] मृणाल पांडे, स्त्री : देह की राजनीति से देश की राजनीति, पृष्ठ : 67

आधार–प्रदान किया है तो सवर्ण वर्ग की नारियों को उसने और कठोर नियंत्रण में बाँध दिया है।''[82]

पितृसत्ता का स्वरुप ब्राह्मणी हो चाहे कुछ और, स्त्री यौन–शोषण के मामले में सभी का स्वरूप लगभग एक जैसा ही है। इनके लिए सबसे पहले स्त्री भोग्या है। चाहे वो अपनी सगी हो या पराई। सवर्ण परिवारों, सामाजिक रूप से सम्पन्न, रुतबे वाले परिवारों में भी स्त्री का यौन–शोषण उसके परिवार के ही सदस्यों द्वारा किया जाता है। मौके और सुलभ की ताक मैं पुरुष कब घात लगाए भेड़िये में तब्दील हो जाए, कहा नहीं जा सकता। उसे न उम्र याद रहती है, न रिश्ता, उसके लिए स्त्री सिर्फ एक मादा बन जाती है। बलात्कार की पीड़ा के बारे में अनामिका लिखती हैं– ''बलात् किसी की देह पर काबू पाने की कोशिश शरीर पर उतने घाव नहीं छोड़ती, जितने मन पर। यह अहसास कि मुझे व्यक्ति नहीं, वस्तु समझा गया और एक ऐसे कार्य में भी मेरी सहमति जरूरी नहीं समझी गई जिसमें मुझे देह– जैसे बड़े यथार्थ के साथ घसीटा जाना था– अपने आप में बहुत मारक है। दैहिक हिंसा से कहीं अधिक यह मानसिक हिंसा है।''[83]

बलात्कार, यौन हिंसा, स्त्री के प्रति सबसे बड़ा अपराध है, चाहे वो गैरों द्वारा किया जाए या फिर अपनों द्वारा। यह सबसे वीभत्स यथार्थ है स्त्री के लिए। स्त्री जीवन की यह कटु सच्चाई है, नग्न यथार्थ है कि हर स्त्री अपने जीवन में किसी न किसी रूप में यौन शोषण का सामना करती है। आत्मकथाओं की लेखकाएँ भी इसका अपवाद नहीं हैं। यौन शोषण का जो विभत्स रूप ये झेलती हैं, वह पूरे पुरुष समाज की कामुकता को रेखांकित करते कुछ नमूने हैं।

प्रभा खेतान के बचपन में उनका सगा भाई उनका यौन–शोषण करता है, और वह अवसाद और दर्द के एक ऐसे समुन्दर में घिर जाती हैं जिसने उनकी जिन्दगी के हर फैसले को प्रभावित किया–

---

82 तेज सिंह, अपेक्षा, जनवरी–मार्च 2008, संपादक : तेजसिंह, पृष्ठ : 6 (भूमिका)

83 अनामिका, औरत : उत्तरकथा ,संपादक : राजेन्द्र यादव, अर्चना वर्मा, पृष्ठ : 182

''हड्डियों के भीतर तक धँसे इस दर्द के बारे में सोच रही हूँ, पर इस दर्द का कोई इलाज नहीं, लेकिन मैं चुप तो नहीं रहूँगी, अपनी बात कहूँगी ज़रूर, हालाँकि बार–बार कोई अदृश्य वहशी पंजा मेरे मुँह को दबोच लेता है और मैं दर्द से बिलबिला उठती हूँ।''[84]

एक तरफ स्त्री के समूचे अस्तित्व पर प्रश्न चिह्न लगाता भाई द्वारा यौन शोषण, प्रेमी द्वारा दिया अवांछित गर्भ। और दूसरी तरफ डॉक्टर प्रेमी का 'हम पुरुष ऐसे ही होते हैं' का ठंडा उत्तर। यह केवल एक–दो व्यक्तियों से नहीं, बल्कि तथाकथित महान भारतीय संस्कृति से स्त्रियों के मोहभंग की स्थिति है। प्रभा खेतान के प्रति उनके डॉक्टर प्रेमी का निर्विकार और असंपृक्त संवाद देखें –

''मुझे आपका सहारा चाहिए डॉक्टर साहब, मैं अब किसके पास जाऊँ ? शुचिता और शर्मासार होने के इस नाटक से मैं बेहद थक चुकी हूँ। किसी ने बचपन में मुझे खराब किया और अब आपने। काश ! मेरे जीवन में यह सब घटा नहीं होता। लेकिन क्या यह मेरी गलती है, सिर्फ मेरी ? और यदि नहीं तो मैं क्यों दिन–रात इस आग में झुलसती रहती हूँ ? आपको शर्म क्यों नहीं आ रही ? नहीं ऐसी बात नहीं, पछता रहा हूँ अपनी गैर–जिम्मेदाराना हरकतों से। और देखो चूँकि तुम एक औरत हो इसलिए कीमत तुम्हें चुकानी पड़ रही है। मैंने डॉक्टर साहब से उस दिन, उसी क्षण अपना सारा अतीत कह डाला था। समझ और धीरज के साथ वे सब कुछ सुनते रहे थे। ''वह तुम्हारा भाई अब भी जिन्दा है ? आपने कभी ऐसा अपनी बहन के साथ किया होता तो आप क्या करते मर जाते ?''[85]

कितनी जुगुप्सा होती है समाज के ऐसे बंद तहखानों से। कृष्णा अग्निहोत्री के चाचा बचपन में लेखिका और उनकी बहन का यौन शोषण करता है, यह शोषण संयुक्त परिवारों में भी बच्चियों की असुरक्षा को रेखांकित करता है, इस शोषण में परिवार, रिश्ते के सदस्यों के साथ घर के नौकर तक शामिल हो जाते हैं–

---

84 प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, पृष्ठ : 36

85 वही, पृष्ठ : 94

''माता–पिता निश्चित थे कि उनके बच्चे सुरक्षित हैं, सुख से हैं। उधर धीरे–धीरे लाल कुँवर शकुन्तला और मुझे अपने पास खिसकाकर अधिक दुलार करने लगा। हम क्या समझते, प्रत्येक बार एक बच्ची निर्दोष स्नहे की कामना में ही तो बड़ों से सट जाती, पर लाल कुँवर की नियत ठीक नहीं थी। वह दूध पिलाकर हमें सुला देता और हमारे हाथों में अपने गुप्तांग को पकड़ा देता। एक बार अर्द्धनिद्रा में मैंने उसे झटका था। बात बहुत शोचनीय थी, जब उसने शकुन्तला को दूसरे कमरे में ले जाकर और कुछ करना चाहा....वह चिल्लाई....मैंने लालकुँवर को उस पर झुका देखा तो लालकुँवर के बाल पकड़कर खींचना शुरू कर दिए और चिल्लाई। तब भी हममें यह सब माँ या पिता को बताने का साहस नहीं था।''[86]

घर के जिन बुजुर्गों के सहारे बच्चों को सुरक्षित मानकर उन्हें छोड़ दिया जाता है अगर वही शोषक हो जाएँ तो स्थिति और भी निराशाजनक और भयानक हो जाती है –

''दद्दू अब मुझे बुरे लगने लगे। वे मुझे, शकुन्तला, चन्दो को गोदी में उठाकर 'रामचरितमानस' की कहानी सुनाते, जो हम में से किसी को भी पसंद नहीं था क्योंकि दद्दू नंगे हो जाते और हमें वह अच्छा न लगता। भला इतना बड़ा–बूढ़ा बच्चों के साथ ऐसा क्यों करे ? अब हम सजग हो रहे थे। हमारी चेतना में यह अधिकार जाग रहा था कि हम लड़की हैं तो क्या, पर यह सब नहीं सहेंगी। सखाराम लालकुँवर तो नौकर हैं, पर दद्दू 'छीःछीः' हम सबने विद्रोह कर दिया।''[87]

लड़की होने की उपेक्षा का दंश सहते–सहते बच्चियाँ किसी के वासनात्मक स्पर्श और सीधे–सरल स्नेह से युक्त स्पर्श में फर्क नहीं कर पातीं। प्यार–दुलार, सम्मान, प्राथमिकता की भूखी लड़कियाँ इसलिए ही शायद शिकारी के जाल में

---

86 कृष्णा अग्निहोत्री, लगता नहीं है दिल मेरा, पृष्ठ : 32

87 वही, पृष्ठ : 43

आसानी से फँस जाती हैं। लेकिन कभी–कभी––''मैंने हाथ छुड़ा लिया, पहली बार मुझे भास हुआ कि भा... की नीयत गलत है।''[88]

हर लेखिका के एक जैसे अनुभव – ऐसा लगता है कि धर्म, परम्परा, शुचिता आदि की सफाई देने वाले धर्मज्ञों को इस बात का तो ज्ञान ही नहीं होगा कि.....। लेकिन नहीं, यह पितृसत्तात्मकता अपने सारे कुकर्मों की स्वयं गवाह होती है, इसकी नजरों से कुछ नहीं छिपता –

''रात भर ऐसा लगता रहा था, जैसे कोई साँप मुझे लपेट रहा था। मैं साँप से डर भी रही थी, पर उसकी नरम देह मुझे अच्छी भी लग रही थी। मुझे यह भी अहसास हो रहा था कि मैं कितनी बहादुर हूँ, जो साँप को पकड़ सकती हूँ।''[89]

भय या जुगुप्सा, घृणा या आकर्षण....पता नहीं, लेकिन पुरुषवाद के शिकंजे में फँसी लड़कियाँ कई बार तो अनिर्णय और किंकर्तव्यविमूढ़ता की ऐसी स्थिति में होती हैं कि स्वयं ही अपना अहित कर लेती हैं––''मुझे साँप अच्छा लगने लगा था या मैं ही आतंकित होकर उसे सहलाने लगती थी, मैं नहीं जानती तब मैं लगभग ग्यारह–बारह वर्ष की थी। मुझे मासिक भी नहीं होता था। किसी को यह सब कुछ बताने से भय भी लगता था और शर्म भी आती थी।..... उसके खिलाफ बोलने का मतलब था मार खाना।''[90]

भारतीय समाज में शारीरिक सम्बन्धों से जुड़े मसलों पर बात करना वर्जित माना जाता है, ध्यान रखने की बात है कि सिर्फ उसके बारे में शैक्षिक रूप से चर्चा करना वर्जित है, बाकी समाज में सेक्स का विकृत–से–विकृत रूप और सम्बन्ध देखने को मिल सकता है। बच्चों को सेक्स के बारे में उनकी उम्र के अनुसार शिक्षा नहीं दी जाती। जिसके परिणामस्वरूप सेक्स के प्रति बड़ों में कुंठा और बच्चों में डर बैठ जाता है। छोटी–छोटी बच्चियाँ अपने साथ होने वाले यौन शोषण को डर के मारे अपने अभिभावकों से नहीं कह पाती। जो व्यक्ति बच्चियों

---

88 वही, पृष्ठ : 54

89 रमणिका गुप्ता, आपहुदरी, पृष्ठ : 77

90 वही, पृष्ठ : 86

का यौन शोषण करता है, माता–पिता उसके सान्निध्य में अपनी बच्चियों को सुरक्षित समझते हैं। यह इस पितृसत्तात्मक व्यवस्था का ही झोल है। सेक्स सम्बन्धों को लेकर बच्चियों के अन्दर भरा गया डर ही उनके शोषण का मूल कारण बनता है। इसी डर के कारण स्त्रियों के चुप रहने का फायदा बलात्कारी उठाता है, और उच्श्रृंखल, उद्दण्ड अपराधी के रूप में निर्द्वन्द्व घूमता है। रोहिणी अग्रवाल लिखती हैं– '' दो आधी–आधी दुनियाओं के लिए खौफ और विशेषाधिकार का पर्याय बन चुकी पितृसत्तात्मक व्यवस्था अपनी मूल संरचना में स्त्री और पुरुष दोनों के लिए शोषक एवं उत्पीड़क है। विषमता का प्रसार करते हुए यह सबसे पहले दोनों से 'मनुष्य' होकर जीने की स्वतंत्रता छीन 'लिंग' में तब्दील कर देती है और फिर लिंग के चारों ओर मिथकीय संसार रचकर उन्हें कठपुतलियों की तरह जीने को विवश करती हैं।''[91]

यह पितृसत्ता का सच है, अपराध करने वालों को मुक्त रखना और पीड़ित के बचे रहने की उम्मीद करना। मैत्रेयी पुष्पा पितृविहीन बालिका थीं, जो अपनी पढ़ाई आदि के कारण हमेशा अपने घर और अपनी माँ से दूर यहाँ–वहाँ रिश्तेदारों, परिचितों के घर में रहीं। एक लड़की के लिए जब अपना घर ही सुरक्षित नहीं तो फिर और कहाँ सुरक्षित आश्रय मिल पायेगा। यौन शोषण के अनेक कटु यथार्थ को झेलती मैत्रेयी बड़ी मुश्किल से अपनी शिक्षा जारी रख पाती हैं। हालाँकि ऐसे जुल्मों, शोषणों का शिकार होने की अपेक्षा मैत्रेयी पढ़ाई छोड़कर ही भाग जाना चाहती हैं–

''माँ, यहाँ एक आदमी है। इस घर का सबसे छोटा बेटा....माताजी, वह मुझे रातभर सोने नहीं देता। मैं यहाँ नहीं रहूँगी। गाँव भाग जाऊँगी शहर के लोग कैसे हैं। छाती नोचते–बकोटते हैं और कच्छी..... ।''[92]

यह तो हुई रात के अँधेरे की घिनौनी करतूत, लेकिन लड़कियाँ भरे बाजार, भीड़ भरी बसों, गाड़ियों में भी कहाँ सुरक्षित रह पाती हैं–

---

91 रोहिणी अग्रवाल, स्त्री लेखन : स्वप्न और संघर्ष, पृष्ठ : 39

92 मैत्रेयी पुष्पा, कस्तुरी कुंडल बसै, पृष्ठ : 51

''ऐसा छबीला आदमी। खूँखार नहीं लगता, चेहरा चिकना है। बड़ी–बड़ी मूँछे न होतीं तो इससे ज्यादा सज्जन ढूँढ़ना पड़ता। माँ को इस आदमी के करतब बता चुकी है मैत्रेयी। यह पेट पर नोंचियों से हमला करता है और हाथ सरकाता हुआ आगे बढ़ता है। सीना ऐसे दबाता था जैसे किसी ढोर ने चबा डाला हो। माताजी ने समझाया था– बस में सवारी हुआ करें तब बैठा कर।''[93]

मानों स्त्री की नियति है यौन शोषण का शिकार होना। चाहे वह अपने घर वालों को न बता पाये, या बता सके। उससे शायद स्थिति पर कोई फर्क नहीं पड़ता। इन क्रूर दरिंदों से उसे कोई नहीं बचा सकता। छोटी बच्चियों के अलावा विवाहित स्त्री भी शोषण के इस दायरे से मुक्त नहीं हैं–

''मैं बाहर छोटे आँगन में, पेटीकोट–ब्लाउज पहन कर ही कपड़े धोती थी। पहनी हुई धोती भी साथ धोने के लिए, भिगो देती थी। अभी दो–तीन कपड़े ही धोये थे कि चन्द्रपाल बाहर आकर खड़े हो गये। जैसे ही मैंने नजर उठाई, उन्हें देखा तो चिल्ला पड़ी, ''भीतर जाइये !'' पर वह वहीं रहा, और एक कदम आगे बढ़ाया था कि मैं बिजली की तेजी से रसोई वाले कमरे में घुसी और कुंडी चढ़ा दी।'''[94]

एक स्त्री का जीवन कैसा होता है ? हर समय घात लगाये भेड़ियों से सावधान रहना पड़ता है। कई बार तो विवाह के बाद पति का भी बलात्कार सहना पड़ता है। कितनी मानसिक पीड़ा के साथ, बेबसी के साथ, क्योंकि उसे तो समाज ने बलात्कार करने का लाइसेंस दिया हुआ है, उसके खिलाफ कहीं, कोई अपील नहीं, कोई सुनवाई नहीं।

''रात पतिदेव पीकर आए तो उन्हें औरत की आवश्यकता थी, पर मैं तो नाराज थी, इसलिए सोने का बहाना बनाने लगी। भला कप्तान साहब को कैसे

---

93 वही, पृष्ठ : 125

94 चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पिंजरे की मैना, पृष्ठ : 219

सहन होता, उठाया पुलिसिया डंडा, बहुत मारा। रोती हुई मुझको आगोश में ले, अपनी आग ठंडी की और खर्राटे भरने लगे। मैं देर तक तड़पती–कलपती रही।''[95]

पति–पत्नी के मधुर सम्बन्ध में जिन क्षणों को सुख का, विश्वास का, सम्मान का आधार बनना चाहिए वे क्षण ही स्त्री के आत्म सम्मान को बुरी तरह रौंद कर चले जाते हैं। अनामिका ठीक ही लिखती हैं कि –

''विवाह के भीतर हो या बाहर– ज्यादातर प्रणय क्रिया, एक तरह का बलात्कार है और स्त्री का समूचा जीवन, एक तरह का साइकिक रेप।''[96]

स्त्री यदि अपने जीवन को, शिक्षा, कैरियर को लेकर महत्वाकांक्षा पाले, कुछ करने का स्वप्न पाले, जीवन पथ पर आगे बढ़ना चाहे तो सफलता की राह में सबसे बड़ी बाधा के रूप में हर पुरुष नग्न, भोगने के लिए आतुर खड़ा मिलता है। इनसे बचकर जाना स्त्री के लिए मुश्किल हो जाता है, और इनसे टकराना, लहुलूहान होना नियति बन जाता है।

''अरोड़ा का मित्र संजय, जो मुझसे सम्बन्ध स्थापित कर चुका था, दिन रात मेरे साथ ही रहने लगा। वह मुझे इंश्यारेंस के लिए लुधियाना से बाहर ले जाने लगा। संभवतः दलाली भी करने लगा था मेरी।.....आधी रात को सेठ का मित्र आ धमका और मुझ पर अपना हक जमाने लगा। मैंने कहा कि मैं तो संजय के साथ आई हूँ। उसने कहा, ''उसी ने तो मुझे भेजा है और मैं उसे पूरा पैसा दे चुका हूँ।''[97]

स्त्री की मजबूरियों और उसके भरोसे पर सबकी नजरें टिकी रहती हैं, जरा–सा मौका मिले बस, किसी तरह शिकंजा कस जाता है। और शिकंजे से मुक्त होने के लिए वह अन्तर्द्वन्द्व करती रहती है––

''तो क्या में उजाला हासिल कर सकती हूँ ? मैं खुद से ही सवाल कर खुद ही उत्तर देती, पहले इस अँधेरे से तो जूझो। इस व्यापार मंडली से पीछा

---

95 कृष्णा अग्निहोत्री, लगता नहीं है दिल मेरा, पृष्ठ : 112

96 अनामिका, मन माँझने की जरुरत, पृष्ठ : 131

97 रमणिका गुप्ता, आपहुदरी, पृष्ठ : 287

छुड़ाऊँ। तुम तो खुद शतरंज का मोहरा बनती जा रही हो ? तुम क्या पलटोगी बिसात ? अरे नहीं ! तुम तो खुद ही बिसात बन गई हो। तुम पर शर्तें बदते हैं लोग ! मोहरे चलते हैं। प्यादा, बादशाह, रानी सबके सब तुम्हारी देह पर दाँव लगाते हैं। आखिर क्या हो तुम ?''[98]

यौनिक शोषण के घने–बियावान जंगल में यह प्रश्न हर स्त्री का है। अपने स्त्रीत्व से डर कर स्त्री समाज के साथ–साथ खुद को भी प्रश्नों के कठघरे में खड़ा करती है। शायद स्वयं से प्रश्न करती हुई स्त्री उन भेड़ियों को चीन्हने का प्रयत्न करती है जो उसके जन्मते ही उसकी देह पर नजर गड़ाये, घात लगाये बैठे हैं। आखिर स्त्री के यौन शोषण के पीछे सेक्स की कौन–सी मानसिकता कार्य कर रही होती है, इसके कारणों की पड़ताल करते हुए अभय कुमार दुबे लिखते हैं–

''सभी का सेक्स सम्बन्धी ज्ञान मस्तराम छाप यौन साहित्य की देन है जिसमें घोड़े के समान विकराल यौनांग वाला नायक इधर–उधर मुँह मारता घूमता है या फिर घर के भीतर कौटुम्बिक व्यभिचार का वर्जित फल छककर खाता है। इसी जुगुप्सापूर्ण नायक से प्रभावित होकर कस्बों के किशोर मानकर चलते हैं कि यौन–क्रिया प्रेम, सुगंध, उदात्तता, परस्पर समझदारी और परिष्कृत आचरण का अनूठा मेल न होकर स्त्री को बिस्तर पर बुरी तरह रौंद डालने का नाम है।''[99]

सेक्स शिक्षा के द्वारा जब तक ऐसे व्यभिचारियों को संतुलित और नियंत्रित नहीं किया जाएगा तब तक स्त्री ऐसे शोषण की शिकार होती रहेगी। स्त्री को भी इस शोषण के खिलाफ जागरूक और मुखर होने की जरुरत है। हालाँकि पहले की अपेक्षा स्त्री अब अपने यौन शोषण के खिलाफ खुलकर बोलने लगी है, जिसका प्रभाव ये आत्मकथाएँ भी हैं। आखिर यौन शोषण का समाधान कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न पर विचार करते हुए तसलीमा नसरीन लिखती हैं–

---

98 वही, पृष्ठ : 288

99 अभय कुमार दूबे, हंस, जुलाई 2007, संपादक : राजेन्द्र यादव, पृष्ठ : 75

''मुझे नहीं लगता है कि बलात्कारी को सजा देने से रेप की समस्या का समाधान होगा। हम कभी भी इस समस्या का समाधान नहीं पा सकेंगे जब तक हम बलात्कार के विषय में इस साधारण से सच को झुठलाते रहेंगे कि बलात्कार या रेप की जड़ें समाज में स्त्री–पुरुष के सामर्थ्य के असंतुलन में हैं। बलात्कार विषमता और नारी की यौनता के बिकाऊ होने जैसे कारणों से घटता है।''[100]

स्त्री विमर्श स्त्री–पुरुष की असमानता, यौन शोषण जैसे तमाम मुद्दों से संघर्ष कर रहा है, उन्हें बेनकाब कर रहा है। स्त्री आत्मकथाएँ भी शोषण के इस यथार्थ को अभिव्यक्त करने का एक प्रामाणिक माध्यम है।

5. अभिशाप–दर– अभिशाप : स्त्री अस्मिता के वर्ग–वर्ण सम्बन्धी प्रश्न

''दुनिया के दो आदिम दुख हैं– भूख और अपमान ! लात पेट पर पड़े या पीठ पर, तकलीफ बराबर होती है।''[101] और दुनिया का यह आदिम दुख हर स्त्री की नियति है। हर स्त्री इस भूख के लिए अपमान सहती है। भूख और अपमान की यह यंत्रणा सबसे ज़्यादा जिसके हिस्से में आती है,वह है दलित स्त्री। एक तो स्त्री होने की यंत्रणा ही कम नहीं होती जिसे वह हर मोड़ पर झेलती जाती है ऊपर से दलित होना। यानी शोषण की अनगिनत परतें– दोहरा–तिहरा अभिशाप, अभिशाप–दर–अभिशाप। लिंग और जाति ने स्त्री जीवन को अपने शिंकजे में इस कदर जकड़ रखा है कि वह दर्द से बिलबिला उठती है।

''वर्ग संघर्ष से जुड़े लोग लिंग चेतना या जातीय चेतना की बात करने वालों से गुस्सा हैं। उन्हें लगता है कि आर्थिक साम्य लिंगगत और जातिगत कुटिलताएँ स्वयमेव ध्वस्त कर देने वाली जादुई छड़ी है।''[102]

---

100 तसलीमा नसरीन, हंस, मई 2012, संपादक : राजेन्द्र यादव, पृष्ठ : 84

101 अनामिका, हाशिये का वृत्तान्त, संपादक : दीपक कुमार, देवेन्द्र चौबे, पृष्ठ : 89

102 वही, पृष्ठ : 89–90

वास्तव में वर्ण और वर्ग, लिंग आदि के प्रश्न इतने जटिल हैं कि मात्र आर्थिक साम्यगत सुधारों से नहीं दूर हो सकते। हाँ, रंचमात्र उसमें लचीलापन आ जाये तो भी फर्क नहीं पड़ता दिखाई देता।

''फ्रांसीसी क्रांति ने 'भाईचारे' की बात की थी ! स्त्री विमर्श बहनापे की बात करता है। उसके अनुसार मनुष्य मात्र में मातृदृष्टि का विकास सबके हित में है, और वर्ग–वर्ण–नस्ल–धर्म आदि कृत्रिम विभेदों के पार विश्व भर की स्त्रियाँ बहनें हैं।''[103]

हाँ, ये कृत्रिम विभेद हैं किंतु इन विभेदों की मार इतनी जबरदस्त है कि इन्होंने सजीव तो क्या हर निर्जीव को भी बाँट रखा है। क्या देशों की सरहदें कृत्रिम नहीं हैं ? लेकिन कोई भी देश इन सरहदों को नहीं मिटाता, बल्कि और गहरा करता है। स्त्रियाँ –दलित एवं सवर्ण स्त्री, बहनें तो हैं– पर बराबर नहीं हैं। सवर्ण स्त्री, स्त्री होने की पीड़ा जीवन भर भोगती है किन्तु दलित होने की पीड़ा नहीं भोगती।

''दलित महिला का उत्पीड़न चाहे अपने घर में अपनों के द्वारा हो या बाहर सवर्ण गैर पुरुषों द्वारा, महिला उत्पीड़न की बातों को पुरुष भी छिपाते हैं, महिलाएँ भी छिपाती हैं, परिवार–समाज में सभी से छिपाते हैं। ये बातें अधिकतर उजागर नहीं हो पाने के कारण महिलाएँ अधिक कष्ट और उत्पीड़न का जीवन जीती हैं। दलित उत्पीड़न के रूप में भी दलित पुरुषों की अपेक्षा दलित नारी वर्ण भेद, जाति भेद के अपमान तिरस्कार के साथ अन्याय शोषण और हिंसा अधिक सहती है। मेरा जीवन भी इसी दोहरे–तिहरे संताप से पीड़ित रहा।''[104]

सवर्ण स्त्री की लड़ाई लिंग–भेद से है लेकिन दलित स्त्री की लड़ाई लिंग–भेद और जाति–भेद दोनों से है। अतः दलित स्त्री का संघर्ष एक तरफ दलित अस्मिता से जुड़ता है, तो दूसरी तरफ स्त्री अस्मिता से। दोनों अस्मिता की

---

103 वही, पृष्ठ : 90

104 सुशीला टाकभौरे, शिंकजे का दर्द, पृष्ठ : (भूमिका)

बात करती हुई दलित स्त्री संघर्ष के दोनों मोर्चे पर मजबूती से पैर जमाये खड़ी है–

''मेरी आत्मकथा मेरी वेदना का दस्तावेज है। इस वेदना–पीड़ा से छुटकारा तभी मिलेगा जब समाज की मानसिकता बदलेगी, पूरी समाज–व्यवस्था बदलेगी। दलित उत्पीड़न से मुक्ति की लड़ाई खुली लड़ाई है जो सबको दिखाई दे रही है। इसी तरह नारी मुक्ति की भी लड़ाई हो जिसे सब देखें, जानें और समझें। समाज में नारी के प्रति 'अबला' की मानसिकता को बदल कर नारी को सबल रूप में स्थापित करना नारी मुक्ति का उद्देश्य है। नारी शोषण की स्थिति को बदलकर उसे सभी अधिकारों से सम्पन्न बनाना सामाजिक प्रगति और परिवर्तन का लक्ष्य है। सम्पूर्ण दलित समाज और नारीवर्ग को शोषण–अपमान से मुक्ति का अधिकार मिलना चाहिए।''[105]

अतः दलित महिला और सवर्ण महिला में फर्क है, और यह फर्क इतना ज्यादा है कि इसे नजर अंदाज किसी भी कीमत पर नहीं किया जा सकता–

''दलित महिलाओं की कुछ समस्याएँ ऐसी हैं जो आम महिलाओं की समस्याओं से अलग नहीं, किंतु दूसरी ओर कुछ समस्याएँ ऐसी होती हैं, जो केवल उनकी ही हैं और इसलिए हैं क्योंकि वे दलित हैं। यही कारण है कि दलित महिलाओं की समस्याएँ बहस का मुद्दा बन रही हैं। और सच तो यह है कि अन्य महिलाओं की तुलना में दलित महिलाओं की समस्याएँ न केवल ज्यादा हैं बलिक दारुण भी हैं क्योंकि दलित भारतीय समाज का सबसे ज्यादा उत्पीड़ित तबका है, शैक्षिक स्तर पर, सामाजिक स्तर पर सभी दृष्टियों से दलित महिला सीढ़ी की सबसे निचली पायदान पर है जहाँ, गरीबी, अशिक्षा जातिगत भेदभाव के अलावा अनेक प्रकार के शोषण उसकी नियति बना दी गई है।''[106]

दलित स्त्री को किस कदर कदम–कदम पर शोषण और अन्याय का सामना करना पड़ता है– यह दलित स्त्री आत्मकथा– 'दोहरा अभिशाप' और

---

105 वही, भूमिका से

106 विमल थोराट, दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर, पृष्ठ : 94

'शिंकजे का दर्द' में पूरी शिद्दत से बयां हुआ है। सुशीला जी की नानी दलित स्त्री के सबसे शोषित रूप का प्रतिनिधित्व करती हैं जो म्यूनिसिपलिटी में सफाई करती, अपने शरीर को गंदगी के ढेर हटाती–हटाती गला डालती है। हाड़–तोड़ श्रम और घृणित कार्य, उस पर भी पेट भर भोजन न मिलना। चूँकि दलित स्त्री शिक्षा से वंचित रही अतः उसके पास उसकी उम्र का कोई प्रमाण नहीं। उसके रिटायरमेंट की उम्र उसके गुप्तांगों के सफेद बाल से तय की जाती है। इस सवर्ण सत्ता के, पितृसत्तात्मक समाज के कितने वीभत्स रूप अभी और हो सकते हैं– इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। जमाने की दुश्वारियों का डटकर मुकाबला करती कौसल्या बैसंत्री की आजी का चरित्र दलित महिला की जीवटता का परिचायक है–

''आजी के पास मरते समय एक गठरी और पीतल का लोटा था। गठरी खोलने पर उसमें चार–पाँच गज सफेद कपड़ा एकदम नया और एक छोटे कपड़े की थैली में कुछ रुपये बँधे थे, साथ में सिंदूर, अबीर, गुलाल और विठोबा के मंदिर का प्रसाद था। आजी हरदम कहा करती थीं कि वह अपनी लड़ाई खुद लड़ेंगी, किसी पर बोझ नहीं बनेंगी, अपने कफन का सामान भी वह स्वयं जुटायेंगी और उन्होंने अपनी बात पूरी करके दिखाई। कफन का सारा सामान उनकी गठरी में मौजूद था। यह मानिनी स्वाभिमान से रही किसी के आगे नहीं झुकी।''[107]

विरले ही ऐसी जीवट वाली स्त्रियाँ होती हैं और वो भी दलित स्त्री। स्त्री अगर दृढ़ निश्चय कर ले तो उसे वास्तव में किसी के सामने न झुकना पड़े। लेकिन समाज में वर्चस्वशाली शक्तियाँ इतनी हावी हैं कि वह अपने आदिम युग से ही हर तरह के हथकंडे, हिंसा का सहारा लेती रही है–

''स्त्री को, या किसी को भी, बोलने न देना, प्रश्न न उठाने देना उसके विरुद्ध सबसे बड़ी हिंसा है, क्योंकि इसमें वास्तविक हिंसा की जरूरत नहीं पड़ती, उसकी धमकी ही पर्याप्त होती है। हमारे यहाँ इस तरह की हिंसा के तीन रूप

---

[107] कौसल्या बैसंत्री, दोहरा अभिशाप, पृष्ठ :

प्राचीन काल से ही पाये जाते हैं– वर्ग की हिंसा, जाति की हिसा और जेंडर की हिंसा।''[108]

दलित स्त्रियों की आत्मकथाओं में ऐसे अनेक प्रकरण हैं जहाँ उन्हें जाति के नाम पर अपमानित होना पड़ता है जैसे– स्कूल में लड़कियों के साथ घुलमिल न पाना, अपनी जाति छुपाना, सहेलियों द्वारा छुआछूत के बर्ताव पर हीनता की ग्रन्थि से ग्रस्त होना, जाति के नाम पर किराये का घर न मिलना, पड़ोसियों द्वारा अपमानजनक व्यवहार करना इसके साथ ही स्त्री के नाम पर पति से रोज गाली और मारपीट खाना। सुशीला टाकभौरे का दर्द उनके शब्दों में छलक ही जाता है–

''नानी द्वारा जीया जीवन मेरा भी जीवन बन सकता था। मैंने उसकी पीड़ा हर दिन, हर क्षण अपने हृदय पर झेली है, मन–मस्तिष्क से उतनी ही वेदना सही है। मेरा दर्द उस शिक्षित, सम्मानित दलित महिला का दर्द है जो पी–एच0डी0 प्राप्त, कॉलेज की प्राध्यापिका होने के बाद भी जाति के रोजगार के नाम से जानी जाती है।''[109]

सवर्ण स्त्री आत्मकथाओं में पूरी तरह घुलकर तो नहीं, लेकिन कहीं–कहीं वो सामंती मानसिकता–दलित पात्रों, स्त्रियों के प्रति झलक ही जाती है। वह मानसिकता जो सवर्ण पुरुषों के संस्कारों का हिस्सा है। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा के पति के कार से कुचल कर सत्तर वर्षीय बूढ़े व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है– जो जाति से चमार था। लेखकीय संवेदना के शब्द–

''मृतक बूढ़े की बीबी एस0पी0 से मिलने बलिया आ गई थी, पर इससे पहले कि वह थाने पहुँचती; मुझसे मिलवाया। वह पच्चीस–तीस वर्ष की, मृतक की, जवान धरुआ थी; अर्थात् वह ब्याहता नहीं; बस बिरादरी के लोगों की रोटी करके, उसकी सहमति से घर में, बिना फेरे बैठा ली गयी थी। समाज के इस वर्ग में यह आम प्रथा थी। मैंने उससे कहा, ''देख तेरी तो उम्र है कम; दूसरा पति

---

108 उमा चक्रवर्ती, आज का स्त्री आन्दोलन (लेख) , पृष्ठ : 14–15

109 सुशीला टाकभौरे, शिंकजे का दर्द, (भूमिका)

मिल ही जायेगा। डिप्टी साहब की पुलिस में शिकायत करेगी, तो उनका तो जो नुकसान होना होगा होगा ही– पर तुझे भी कोई लाभ नहीं होगा। शिकायत अगर नहीं करेगी, तो हम तुझे उसकी पूरी कीमत देने को तैयार हैं। बोल तुझको कितने रुपये चाहिए ?''[110]

यहाँ एक विधवा दलित स्त्री के प्रति सहानुभूति नहीं, बल्कि उसकी मजबूरियों से फायदा उठाने का अवसरवाद है। यह सवर्ण संवेदना है जो अपने संस्कार किसी भी कीमत पर छोड़ना नहीं चाहती। कृष्ण अग्निहोत्री की आत्मकथा से भी दलित वर्ग से जुड़े दो चित्र तुलनीय हैं–

''पिता ने ब्राह्मण समाज के सामने एक और नया विद्रोही कांड प्रस्तुत कर दिया, उन्होंने गोरेलाल नामक बसोड़ को घर में प्रवेश दे दिया। उस समय गोरेलाल काले रंग का सीधा–सच्चा व्यक्ति था। गरीबी ने उसके तन से कपड़े छीन लिए थे व भरपेट भोजन नसीब नहीं था। हिन्दू समाज बसोड़ों–बलाइयों को गृहकार्य में नहीं लगाता था। पानी आदि छूने का तो प्रश्न ही नहीं था।.....गोरेलाल के साथ अम्बू महार को भी डेरी के कार्य हेतु प्रवेश दिया गया।....माँ ने गोरेलाल व उसके परिवार को कभी खान–पान छूने नहीं दिया।''[111] कुरूप या अनाकर्षक के प्रति घृणा उतनी पूर्वाग्रहग्रस्त न लगे, अगर तथाकथित सुरूप के प्रति अतिरिक्त आकर्षण न हो –

''बनारस में मेरे पास काली–सी आया थी। दाँत तक मुँह में केवल दो–तीन थे। बहुत ही बदसूरत, हड्डी का ढाँचा, चाँदी के मोटे कड़े हाथ पैर में पहनती। उसे बहुधा मोटी सूती साड़ी में ही मैंने देखा था। आया बच्ची को ढंग से रखे, इस कार्य हेतु किसी उत्तरदायी चपरासी को मैं उस पर निरीक्षण रखने के लिए नियुक्त कर देती। शादीलाल गोरा–चिट्टा, हट्टा–कट्टा–सा ठीक–ठाक सिपाही था।''[112]

---

110 चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पिंजरे की मैना, पृष्ठ : 282

111 कृष्णा अग्निहोत्री, लगता नहीं है दिल मेरा, पृष्ठ : 50

112 वही, पृष्ठ : 132

दलित और सवर्ण स्त्री–पुरुषों में दृष्टि का यही अन्तर है जो उनमें फाँक पैदा कर देता है। यह अन्तर अलगाव की ऐसी रेखा खींचता है, जो भारतीय संस्कृति के तमाम आदर्शों, महानतओं के बीच पनपते भाईचारे एवं बहनापे में सड़ांध पैदा कर देता है। दृष्टि की यह फाँक विमर्शों की दिशा को भटकाव की ओर मोड़ती है। पितृसत्ता की शिकार सवर्ण स्त्री भी स्वयं को दलितों से उच्च मानती है, वह दलित स्त्री से कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहती। जातिगत शोषण के नाम पर सवर्ण स्त्री, सवर्ण पुरुष के साथ खड़ी नजर आती है। बावजूद इसके कि दलित स्त्री और सवर्ण स्त्री दोनों पुरुष सत्ता की सतायी हुई हैं–

''इसी संवेदनहीनता, छद्म और आडंबर की शिकार रही है स्त्री। उसे वर्ग, वर्ण की सीमाओं के साथ–साथ सेक्स के धरातल पर 'मानव कल्याणी' शास्त्रों और मनोवृत्तियों को भी भुगतने वाली नियति स्वीकार की 'छूट' दी गई है। वह पुरुष की मर्यादा है, यानी वर्चस्वी व्यवस्था की सारी मर्यादाओं का निर्वाह करने की जिम्मेदारी सिर्फ उसकी है। वर्ग और वर्ण कोई हो, सेक्स या शील की मर्यादाएँ तोड़ेगी तो उसे उसकी जगह दिखा दी जाएगी। अपने को दलितों में शामिल किए जाने के अपमान से तिलमिलाने वाली प्रबुद्ध और समृद्ध महिला भी शील और सेक्स की मर्यादाएँ तोड़कर अपनी हैसियत जाँच सकती है। उसे दिए जाने वाले सामाजिक, पारिवारिक सम्मान, प्रतिष्ठा और पद हमारे द्वारा निर्धारित आर्थिक और नैतिक (सेक्स ?) मर्यादाओं द्वारा तय होंगे।''[113]

आखिर क्या कारण है कि दलित स्त्री–पुरुष के प्रति शोषण–उत्पीड़न में सवर्ण स्त्री अपने ही वर्ग के पुरुष के साथ खड़ी होती है, जबकि वह यह जानती है कि वह भी उन्हीं के द्वारा शोषित है ? इस मुद्दे पर उमा चक्रवर्ती का कहना है–

''वर्ग और जाति वाले मामलों से स्त्रियों का मामला थोड़ा–सा अलग है। वहाँ तो सत्ता जिसके हाथ में है, वह सीधे–सीधे दूसरे वर्ग या दूसरी जाति को

[113] राजेन्द्र यादव, औरतः उत्तरकथा, संपादक : राजेन्द्र यादव, अर्चना वर्मा, ' पृष्ठ : 91

दबा सकता है, लेकिन यहाँ स्त्री पुरुष के ही वर्ग की है उसी की जाति की है, लेकिन फिर भी उसके अधीन है। इसलिए स्त्री का मामला जरा जटिल है। उसके लिए अपनी स्थिति को समझना मुश्किल हो जाता है। भावनाएँ आड़े आ जाती हैं कि पुरुष होने के नाते यह मेरा दमन करता है, लेकिन मेरा पिता है, यह मेरा भाई है, यह मेरा पति है, यह मेरा बेटा है। यही कारण है कि स्त्रियों का पितृसत्ता का विरोध एक हद के बाहर नहीं जा पाता है, वे पुरुष की सत्ता पर एक हद के बाद प्रश्नचिह्न नहीं लगा पाती हैं। इस तरह वे पुरुषों द्वारा स्त्रियों पर किये जाने वाले अत्याचारों में शामिल हो जाती हैं। इसके बिना पितृसत्तात्मक व्यवस्था चल ही नहीं सकती है।''[114]

इस मुद्दे पर आकर दलित स्त्री एवं सवर्ण स्त्री का वर्ण अन्तर स्पष्ट हो जाता है। दलित स्त्री अस्मिता का उदय भी इसी कारण हुआ है कि न तो स्त्री आन्दोलन उसके शोषण और समानता के प्रश्न को उठा रहा था और न ही दलित आन्दोलन में उसके प्रश्नों को जगह मिली। दलित स्त्री का शोषण और संघर्ष अन्य की अपेक्षा अधिक व्यापक है। दलित स्त्री प्रश्नों को उठाते हुए अनीता भारती दलित स्त्री आन्दोलन को स्पष्ट करती हैं–

''दलित स्त्रियाँ जिस शारीरिक उत्पीड़न, घृणा, अश्पृश्यता व भेदभाव की शिकार हैं आज तक स्त्री आन्दोलन व स्त्री समूहों ने उन मुद्दों को कभी नहीं उठाया। दलित महिलाओं के जातीय कलंक से जुड़े पेशे चाहे वह 'देवदासी' प्रथा हो अथवा 'बेड़नी' प्रथा या फिर डायन–चुड़ैल के नाम पर पत्थरों से मार दिया जाना हो या जातीय टोटम के नाम उनके नाक, पैर, हाथ काट दिए जाने वाला मुद्दा, स्त्री आन्दोलन में इसके लिए जगह नहीं।.....इस असमानता मूलक समाज में दलित स्त्रियों को स्वतंत्रता की लड़ाई बाकी गैर दलित स्त्रियों से अलग है। दलित स्त्री की स्वतत्रंता, उसकी अस्मिता, उसकी समानता और आर्थिक पक्ष से

---

[114] उमा चक्रवर्ती, आज का स्त्री आन्दोलन, संपादक : रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय, पृष्ठ : 15–16

जुड़ी है। पहला सवाल उसका इंसान होने की गरिमा और रोजी–रोटी का है, देह का मुद्दा उसके लिए अंतिम है।''[115]

चूँकि दलित स्त्री का शोषण कई मायनों में औरों से अलग है, इसलिए उसका संघर्ष भी अलग है, उसकी आवश्यकताएँ और प्राथमिकताएँ अलग हैं। अतः लेखन में उसकी अभिव्यक्ति भी पृथक है। किन्तु कुछ आलोचक इस पृथकता को स्वीकार नहीं कर पाते। राजकिशोर लिखते हैं–

''इसका अर्थ यह नहीं है कि स्त्री जिस आर्थिक या सामाजिक वर्ग का सदस्य होगी, अपने लेखन में उसी वर्ग के मूल्यों का प्रतिनिधित्व करेगी। लेखक की रचना प्रक्रिया इतनी इकहरी या सरलीकृत नहीं होती। वस्तुतः लेखक वही बन सकता है, जो अपनी स्थिति का – इसमें उसकी वर्ग की स्थिति भी शामिल है– अतिक्रमण कर सके। यदि हम इस सच्चाई को स्वीकार नहीं करेंगे तो न केवल लेखन की उपयोगिता को सीमित कर देंगे, बल्कि साहित्य में भी वही कलह ले आएँगे जो दुर्भाग्यवश समाज में मौजूद है। लेखक का काम कलह को सुलझाना है, न कि बढ़ाना।''[116]

यह सच है कि लेखक का काम कलह को बढ़ावा देना नहीं है लेकिन उस कलह का क्या किया जाए जो समाज में पहले से ही मौजूद है ? उसे जस का तस छोड़कर मंगलगान किया जाए या उसे ध्वस्त करने की कवायद शुरू होनी चाहिए ? अगर कलह को समाज से खत्म करना हो तो उसकी शुरुआत कहाँ से होगी ? बीमारी को खत्म करना हो तो उसकी शुरुआत कहाँ से होगी ? बीमारी को खत्म करना है तो सबसे पहले उसे जानना और समझना पड़ता है – वह किस स्थान पर, किस अवस्था में है, इसे इंगित करना पड़ता है। भारतीय समाज में व्याप्त विसंगतियों, शोषण, अन्याय–अत्याचार से मुक्ति का प्रयास हैं अस्मिता

---

115 अनीता भारती, समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, पृष्ठ : 151

116 राजकिशोर, औरत उत्तरकथा, संपादक : राजेन्द्र यादव, अर्चना वर्मा, पृष्ठ : 115

विमर्श आधारित रचनाएँ। इन समस्याओं के समाधान का प्रस्थान बिन्दु इनकी पहचान करना है, न कि इनकी ओर से आँखें मूँद लेना।

दलित स्त्रियों की आत्मकथाएँ भारतीय समाज में व्याप्त स्त्री–शोषण की संस्कृति को समाप्त करने के प्रयास के साथ–साथ दलित स्त्री के प्रति तथाकथित प्रगतिशील लेखकों–बुद्धिजीवियों की भेद–भाव भरी दृष्टि के परिमार्जन का भी कार्य कर रही हैं। दलित लेखिकाएँ अपनी आत्मकथाओं के माध्यम से स्त्री और स्त्री के बीच व्याप्त वर्ग–भेद के साथ–साथ वर्ण–भेद को भी उद्‌घाटित कर रही हैं। इस उद्‌घाटन के बिना स्त्री की मुक्ति संभव नहीं।

चौथा अध्याय

स्त्री आत्मकथाओं में अभिव्यक्त यथार्थ और आकांक्षा का द्वन्द्व तथा उनका रूपायन

1. प्रेम और विवाह : रूढ़ियों से मुक्ति तथा निर्णय की स्वतंत्रता की आकांक्षा
2. घरेलू हिंसा से मुक्ति एवं सम्मान की आकांक्षा
3. जीवन की त्रासदी एवं स्त्री की भूमिका
4. पैतृक सम्पत्ति में भागीदारी एवं सशक्तीकरण का प्रश्न

चौथा अध्याय

स्त्री आत्मकथाओं में अभिव्यक्त यथार्थ और आकांक्षा का द्वन्द्व तथा उनका रूपायन

स्त्री के लिए आत्मकथा लेखन आसान नहीं होता, क्योंकि आत्मकथा जीवन की गोपनीयता को ईमानदारी मे उद्धृत करने की माँग (आत्मकथाकार के स्वविवेक पर निर्भर कि वह किस सीमा तक गोपन को अगोपन करे) करती है। किन्तु एक स्त्री यदि पितृसत्ता की गोपनीयता को भंग करने का दृस्साहस करती है तो व्यवस्था के अन्तर्गत समाज और सम्बन्धों के कठघरे में सबसे पहले खड़ी की जाती है। गोपन को उजागर करने की प्रक्रिया स्त्री के लिए द्वन्द्व की प्रक्रिया है, जो उसके जीवन में और आत्मकथा लेखन में अनेक स्तरों पर एक साथ चलती है। स्त्रियों की आत्मकथा में इसी बिन्दु को रेखांकित करने हुए अनामिका लिखती हैं –

''उसके पहले आत्मकथा ठाठदार मर्म की विधा ही रही है–'रैगसउरिजेज' की गौरव गाथा हो या 'साधारण' से 'असाधारण' हो जाने का आख्यान, गंभीर आत्ममंथन के क्षण भी आत्मकथाओं में रहे– गाँधी, बच्चन, चार्ली चैपलीन की आत्मकथाओं में खासकर, पर निजी सम्बन्धों या सामाजिक विडम्बनाओं की तह उन्होंने वैसे धीरज से नहीं खोली जैसे स्त्री आत्मकथाकारों ने।..... एक विशिष्ट सी आभा में धीरे–धीरे सारे द्वन्द्व काटकर आगे बढ़ते। स्त्री आत्मकथाओं में फाँके–दरारें, अनिश्चितताएँ और लेपन कुछ ज्यादा होते हैं, सम्बन्धों की चिंता ज्यादा होती है, उसका सघनतम वैयक्तिकपन भी सामुदायिक चेतना, सम्बन्धों के वितान से सर्वथा अलग नहीं होता। जहाँ–तहाँ कुछ विशिष्ट कर गुजरने का भाव भी होता है– परिवार, राष्ट्र से कशमकश कई पन्ने घेरते हैं।''[1]

यह कशमकश, यह द्वन्द्व स्त्री के भीतर अपनी स्थिति को लेकर होता है। परिवार, समाज, राष्ट्र के परिप्रेक्ष्य में स्वयं को परिभाषित करने के क्रम में स्त्री

---

[1] अनामिका, स्त्रीकाल, अप्रैल 2010, संपादक : संजीव चन्दन, पृष्ठ : 174

देखती है कि वह शोषित है। अपने शोषण को लेकर चिंतन सबसे पहले स्त्री अपने भीतर ही करती है। वह किसी से खुलकर कह नहीं पाती, लेकिन उसे समझने की प्रक्रिया उसके भीतर लम्बी चलती है। हर स्थिति का विश्लेषण उसे एक मानसिक द्वन्द्व की तरफ ले जाता है। अपने ऊपर थोपे गए जीवन और अपनी आकांक्षा के अनुरूप जीवन में वह तब भी तालमेल नहीं कर पाती है तो उसका मानसिक संघर्ष छिड़ जाता है। इस संघर्ष में वह अपनी अस्मिता को, अपने 'स्व' को पहचानने का प्रयत्न करती है। स्त्री उन रूढ़ियों, समस्याओं से सबसे पहले मानसिक स्तर पर ही जूझती है, तब कशमकश की यह प्रक्रिया कई बार बहुत जटिल हो जाती है–

''जब भी मन की इच्छाएँ उपद्रवी हो जाती थीं मन को भटकाती थीं, तो मैं जाकर अपने उस बिन्दु के आगे खड़ी हो जाती– जैसे वह एक अहसास था, मेरी वास्तविकता था। जाने वह बिन्दु मैडीटेशन के उस क्षण में मेरा ज्ञान–बिन्दु बन जाता था– उसके मौन से मेरे लिए एक चेतना संप्रेषित होती थी– जैसे मुझे एहसास दिला रही हो कि 'इच्छाएँ छोड़ दो, इस संसार में कोई किसी को कुछ नही देता, बिन्दुभर सुख भी नहीं..... तलाशना है तो अपने 'स्व' में ही सुख को तलाशने का प्रयास करो।' मैं आश्वस्त होकर पुनः उस सत्य की तलाश में जुट जाती, उस सत्य की जो मेरी अपनी अस्मिता का है, मेरे होने का है, पूर्ण हो जाने का है.....अपने अंतस को पहचान लेने का है।''[2]

संस्कारों के खोल से बाहर आना, उसे तोड़ पाना किसी भी स्त्री के लिए आसान नहीं होता। लेकिन एक सजग–सचेत स्त्री इनसे सवाल जरूर करती है, कई बार वह द्वन्द्व किसी और माध्यम से बाहर निकलता है जिसमें लेखन एक महत्वपूर्ण माध्यम हो सकता है– ''मनोविज्ञान में एक विद्या है–'कैथार्सिस'। अपने भीतर की छटपटाहट या गोपनीयता को बयान कर देने की प्रक्रिया। शायद मेरा लेखन मात्र वही था जो मुझे जोड़ भी रहा था मुक्त भी कर रहा था।''[3]

---

[2] कुसुम अंसल 'जो कहा नहीं गया', पृ0– 81

[3] वही, पृ0– 46

स्त्री के जीवन में यह गोपनीयता, हरदम चलने वाला द्वन्द्व महत्वपूर्ण स्थान रखता है, क्योंकि यह स्त्री के लिए स्वयं को पहचानने का साधन बन जाता है। इस द्वन्द्व से स्त्री संघर्षों को मूर्त रूप देने से पहले उसे तोलती, समझती और उससे उर्जा ग्रहण करती है। स्थितियों के साथ स्वयं का विश्लेषण उसे मानसिक संबल प्रदान करने के साथ ही आत्मालोचन की अन्तर्दृष्टि भी देता चलता है।

1. प्रेम और विवाह : रूढ़ियों से मुक्ति तथा निर्णय की स्वतंत्रता की आंकाक्षा

स्त्री के जीवन में प्रेम और विवाह बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं, अतः कई बार उसके प्रथम टकराव, उसके संघर्ष की शुरुआत इसी मुद्दे से होती है। पितृसत्ता के दबावस्वरूप कहीं तो वह हार जाती है लेकिन कभी–कभी इन रूढ़ियों को तोड़कर और जीतकर निकलती है। रमणिका गुप्ता जुझारु महिला हैं। वह आदिवासियों के हितों के लिए लम्बी लड़ाई ठाने बैठी हैं। संघर्ष की यह शक्ति उनके स्त्री जीवन के लिए किये गए पूर्व संघर्षों से प्रेरित हो सकती है– ''दो दिन पहले दिल्ली जाकर मैं स्वयं अपनी शादी के लिए सब्जियां, सलाद का सामान और राशन वगैरह खरीद लाई। बड़े भैया मुझे आत्मनिर्भर बनाना चाहते थे। हर काम खुद करने की आदत सिखा रहे थे। वे मुझे जमींदारों, अफसरों की साधारण परजीवी बेटियों से भिन्न बनाना चाहते थे। शादी के एक दिन पहले पापा जी, बीबी जी और नाना जी, छोटी बहन को लेकर रोहतक आ गये। मैंने स्वयं ही अपी शादी के लिए सभी को निमंत्रण भेजा था।– ''मेरी शादी 27 नवम्बर, 1948 को है। आप आएँगें तो मुझे खुशी होगी। मैंने स्वयं चुना है प्रकाश को। बारात के बिना, दान–दहेज रहित इस अन्तर्जातीय विवाह में आप भाग लें और रूढ़ियों को तोड़ने में मेरी मदद करें।''[4]

अपनी आत्मकथा के प्रथम भाग (हादसे) में रमणिका अपने आदिवासी संघर्ष को ही ज्यादा जगह देती हैं, लेकिन अपनी आत्मकथा के दूसरे स्वरूप 'आपहुदरी'

[4] रमणिका गुप्ता, आपहुदरी, पृ0– 222

में अपने निजी जीवन की पूरी चर्चा करती हैं, जिसमें वो मानसिक द्वन्दों की लम्बी पीड़ा से गुजरती हैं। ये द्वन्द उन्हें बहादुर बनाते हैं, खुद का साक्षात्कार कराते हैं।

अपनी शादी के लिए सबको स्वयं नियंत्रण देना, साथ ही बिना बारात, बिना दहेज के शादी करना, और वो भी अन्तर्जातीय प्रेम विवाह, निश्चय ही रमणिका गुप्ता एक बहादुर महिला हैं। लेकिन संघर्ष के इस स्वरूप तक आने और इस तरह के फैसले लेने की नींव उनके बचपन में ही पड़ गई थी। रूढ़ियों को तोड़ना और अपने निर्णय स्वयं लेना उनकी जन्मजात प्रवृत्ति लगती है –

''मैं अपने बचपन के दरवाजे खटखटाती हूँ तो ऐसी कई यादें उभर आती हैं जब मैंने निर्णायक हठ किये और अप्रिय लगने वाले कदम उठाए। वे मेरे लिए निर्णायक घड़ियाँ होती थीं। मेरे सामने प्रश्न था अपने विचारों, अपनी धारणाओं को सार्थक सिद्ध करने का और लोकलाज के रूढ़िगत विचारों के विरुद्ध खड़ा होने का। मैंने अपने मानदण्ड खुद गढ़े।''[5]

किन्तु स्त्री को पितृसत्ता ने स्वतंत्र निण्रय लेने का अधिकार नहीं दिया है, स्त्री जब भी अपने जीवन का निर्णय स्वयं करती है सबसे पहले उसे परिवार से, पुरुष सत्ता से टकराना पड़ता है, खास तौर से प्रेम और विवाह के मामले में। रमणिका गुप्ता के अन्तरर्जातीय प्रेम विवाह के फैसले पर उनके पिताजी उन्हें या उनकी माँ को जहर खाने की सजा सुनाते हैं, जिसमें वो माँ के लिए जहर खाना उचित ठहराती हैं क्योंकि वो दोनों जिंदगी का सुख भोग चुके हैं। वे लिखती हैं –

''मेरी ये बातें परम्परावादी, त्यागवादी और आचरणप्रिय लोगों को अखर सकती हैं। कटु, अप्रिय और हृदयहीन लग सकती हैं, जैसी कि लगी भी। उस समय उसे अटपटे विभूषणों से विभूषित भी किया गया। वह निर्णायक घड़ी थी। मैं न अड़ती तो शायद मेरी जिंदगी ही कहीं गुम हो गई होती और जो मैं कहना चाहती थी, करना चाहती थी, न कर पाती। उन दिनों परम्पराओं को तोड़ना, रूढ़ियों के विपरीत चलना ही मेरा लक्ष्य–सा बन गया था। उसे पूरा करने के लिए

---

5 रमणिका गुप्ता, हादसे, पृ0– 17

विद्रोह जरूरी था और अपनों के विरुद्ध भी हथियार उठाना पड़ सकता था– जिसके लिए मैंने स्वयं को तैयार कर रखा था।''[6]

अपनों के विरुद्ध लड़ने के लिए स्वयं को तैयार करने के पीछे उन्हें कितने मानसिक द्वन्द्वों से गुजरना पड़ा होगा, रमणिका गुप्ता ये नहीं लिखतीं, फिर भी इस बात को महसूस किया जा सकता है। विवाह के बाद रमणिका को पिता के घर से भी अधिक रूढ़िवादी परिवार मिलता है, किन्तु रूढ़ियों के प्रति अपना संघर्ष वे विवाह के बाद भी जारी रखती हैं–

''प्रकाश का परिवार मेरे पिता के परिवार से आर्थिक और सामाजिक तौर पर काफी पीछे था और उसमें बनिया परिवार की सारी रूढ़ियाँ और परम्पराएँ, यहाँ तक कि छुआछूत परले दर्जे की मौजूद थीं, फिर भी मैं अपनी जिद और संकल्प के कारण उन परिस्थितियों से स्वयं ही जूझती और मुकाबला करती रही। किसी से गिला नहीं किया। मैंने अपने घर में न परदा किया और न छुआछूत चलने दी। छुआछूत का विरोध जताने की नियत से मैंने अपने पिता के अस्पताल में कार्यरत एक मेहतरानी के ईसाई पुत्र को रसोइए के काम पर अपने घर में रख लिया। उन दिनों ईसाई और मुसलमान दोनों को 'मलेच्छ' जाना जाता था और उनका हिन्दू घरों में आना–जाना, खान–पान वर्जित था।''[7]

रूढ़ियों से मुक्ति के इसी क्रम में रमणिका गुप्ता स्त्री देह को सामाजिक वर्जनाओं से मुक्त स्त्री की स्वतंत्रता के रूप में परिभाषित करती हैं। अपने जीवन में भी यौन–सम्बन्धों के बारे में स्वतंत्र रूप से निर्णय लेती हैं, बिना किसी अपराधबोध के। वह सीमोन द बुआ के अनुसार 'औरत को उसके औरतपन से मुक्त' करती हैं। औरतपन से मुक्त होने में भी पुरुषसत्ता का मोहरा बनने का डर है। इस डर से रमणिका गुप्ता भी जूझती हैं, द्वन्द्व करती हैं– ''मैं किसको सजा दे रही हूँ ? प्रकाश को ? वह तो अपने काम में व्यस्त है। परिवार को ? वे सोचते होंगे बेटी अपने पाँव पर खड़ी हो गई है। समाज को क्या ? वहाँ ऐसी हजारों लड़कियाँ आती हैं, जाती हैं, जो अपने दम्भ में अपनी पहचान भी गवाँ देती हैं,

---

6 वही, पृ0– 24

7 वही, पृ0–25

जिसका फल उनके बच्चे भोगते हैं। कोई विरल ही होगी जो इस अंधेरे को धकेलकर उजाले हासिल करती हो। ''तो क्या मैं उजाला हासिल कर सकती हूँ ? ''मैं खुद ही सवाल करती और खुद ही उत्तर देती, 'पहले इस अंधेरे से तो जूझो ? इस व्यापार मंडली से पीछा छुड़ाओ ! तुम तो खुद ही शंतरंज का मोहरा बनती जा रही हो ? तुम क्या पलटोगी बिसात ? अरे नहीं ! तुम तो खुद ही बिसात बन गई हो ! तुम पर शर्तें बदते हैं लोग ! मोहरे चलते हैं ! प्यादा, बादशाह, रानी सबके सब तुम्हारी ही देह पर दाँव लगाते हैं। आखिर क्या हो तुम ?''[8]

रमणिका गुप्ता की आत्मकथा के बारे में डॉ धर्मवीर लिखते है– ''रमणिका गुप्ता की यह आत्मकथा ऐसी है मानों कोई चोर या डकैत अपनी चोरियों और डकैतियों की कहानी लिख रहा है। चोरी और डकैती धन की की जाती है, यहाँ विषय बदलकर सेक्स का हो गया है बाकी सब बातें एक सी हैं। यदि चोरों और डकैतों को भी बिना दण्ड के भय के सच बोलने का हक मिल जाए तो वे भी ऐसे आत्मकथ्य लिख सकते हैं। ऐसे स्वच्छन्द आत्मकथ्यों की वजह से स्त्री की पुरुष से समानता की लड़ाई एकदम पीछे रह जाती है। संविधान और कानून कोशिश कर रहे हैं कि किसी तरह पुरुष और स्त्री में राज्य के जरिए समता लाई जाए लेकिन कुछ स्त्रियों की स्वतंत्रता इस प्रयास को हतोत्साहित कर देती है। तभी पुरातनपंथियों और मनुवादियों को नाम लेकर यह बताने का मौका मिलता है कि स्त्रियाँ ऐसी होती है।''[9]

डॉ धर्मवीर अपनी जगह सही हो सकते हैं किंतु वो ये नहीं समझ पा रहे हैं कि संविधान और कानून ने स्त्री को स्वतंत्रता–समानता दी है, किंतु समाज ने उन्हें लागू नहीं किया। रमणिका गुप्ता यह नहीं कर रही हैं कि सभी उनके जैसे बन जाएँ। वह अपनी आत्मकथा के माध्यम से यह बता रही हैं कि एक स्त्री जब स्वतंत्रता, समानता को हासिल करना चाहती है तो उसे शोषण के किन–किन रूपों का सामना करना पड़ता है। उच्चवर्गीय, आर्थिक रूप से सम्पन्न परिवार में भी वे यौन–शोषण का शिकार हुईं, राजनीतिक बुलन्दियों को हासिल करने में भी

---

8 रमणिका गुप्ता, आपहुदरी, पृ0–288

9 डॉ0 धर्मवीर, तीन द्विज हिन्दू स्त्रीलिगों का चिंतन, पृ0– 33–34

शोषण के विभिन्न पड़ावों से गुजरना पड़ा। स्त्री को उसके स्त्रीत्व के नाम पर डराने और दबाये रखने के लिए पुरुष जब भी मौका मिलता है, उसकी यौन शुचिता पर हमला करता है। रमणिका गुप्ता पर भी बचपन से ऐसे हमले हुए, किंतु वो न डरीं ओर न दबीं। उन्होंने कठिन निर्णय लेकर यौन शुचिता के डर को ही खत्म कर दिया।

पद्मा सचदेव किशोरावस्था में प्रेम करके सबसे बगावत कर लेती हैं। पूरे परिवार, खानदान, समाज की परवाह न करते हुए विवाह का निर्णय लेती हैं। ये अलग बात है कि उन्होंने ठीक व्यक्ति का चुनाव नहीं किया। बाद में वे अपने पति से तलाक लेकर अलग हो जाती हैं। किंतु तलाक लेने से पहले वे बहुत ज्यादा तनाव और द्वन्द्व से गुजरती है। यहाँ तक कि वे माइग्रेन की चपेट में भी आ जाती हैं। फिर भी वो पति के झूठे प्रेम का मोह छोड़कर तलाक लेने का दृढ़ निर्णय करती हैं–

''असल में ये काम अगर दीप जीने खुद किया होता तो शायद उन्हें उतना बुरा न लगता पर एक औरत, नाचीज औरत अगर आदमी के अहंकार का फन पाँव तले यूँ मसलकर चली जाए तो वो बहुत आहत होता है। हर चीज के बावजूद दीप जी को ये विश्वास नहीं था कि मैं इस तरह उन्हीं का छोड़ा तीर उन्हीं पर लौटा दूँगी। तलाक का शब्द मैंने अस्पताल में उन्हीं के पत्रों के मुँह से सुना था। तब ये शब्द मुझे भी बड़ा पागल, बचकाना और असंभव–सा लगा था। पर बाद में यहीं से मेरे भविष्य की पगडंडी का रास्ता शुरू हुआ।''[10]

पति, पत्नी को तलाक दे तब तो ठीक किंतु पत्नी, पति को तलाक देकर आत्मसम्मान से जीने की कोशिश करे ये बात समाज के ठेकेदारों को सह्य नहीं। पद्मा सचदेव को भी तरह–तरह से परेशान किया जाने लगता है–

''शहर के कुछ पेंचदार नंबरदार नंबरी लोगों ने रेडियो के बुद्धू से एस0डी0 यूसुफ साहेब से दरख्वास्त दी कि इसने अपने पति को तलाक दिया है, इसने अपने पति को तलाक दिया है, इसलिए इसे रेडियो में रखना ठीक नही हैं।.....

---

[10] पद्मा सचदेव, बूँद बावड़ी, पृ0– 234

.. शहर की लड़की जुल्म से तंग होकर मर जाए तो ठीक है पर तलाक न दे। ब्राह्मणों की लड़की के लिए ये फल की तरह वर्जित था।''[11]

किन्तु किसी की भी परवाह न करते हुए पद्मा सचदेव अपने अस्तित्व को बचाने का निर्णय लेती हैं। पहली बार प्रेम और विवाह में असफल होने के बावजूद दुबारा प्रेम करने की स्वतंत्रता का वरण करती हैं, पुनः विवाह करती हैं, और एक सफल दाम्पत्य जीवन गुजारती हैं।

प्रभा खेतान पहले से विवाहित डॉ0 सर्राफ से प्रेम करती हैं और बिना विवाह किए उनके साथ जीवन गुजारने का निर्णय लेती हैं। मारवाड़ी समाज की लड़की होकर प्रभा विवाह की प्रथा को नकारते हुए रूढ़ियों से मुक्त तो होती हैं किंतु उन्हें इसकी बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है – उस दिन मैं इतना भर कह पाई थी, ''डॉक्टर साहब मैं हर कीमत चुकाने को तैयार हूँ। मुझे अपनी जिन्दगी में बस आपकी जरूरत है केवल आपकी।''

''तुम नहीं जानती कि तुम्हें कितनी बड़ी कीमत चुकानी होगी। हमारा यह मारवाड़ी समाज.....'' उन्होंने ठंडी साँस ली।

''मुझे समाज की परवाह नही।''

''तुम स्वभाव से विद्रोही हो।''[12]

प्रभा पढ़ी–लिखी होकर अपनी जिंदगी के निर्णय स्वयं लेती हैं, ये हिम्मत उनके भीतर अपनी शिक्षा से आई है, शिक्षा उन्हें स्वतंत्रता देती है।

''मैंने प्रत्यक्ष में डॉक्टर साहब से पूछा–''क्या यही है पढ़ने–लिखने का लाभ कि घरवाले चाहे जिस खूँटे से मुझे बाँध आएँ ? चुनाव, निर्णय की स्वतंत्रता,

---

11 वही, पृ0– 235

12 प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, पृ0– 86

प्रतिबद्धता जैसे शब्दों को मैं आज तक सुनती आई हूँ, आज मैं खुद से पूछना चाहती हूँ– बस क्या यही है स्त्री की नियति ? उसका जीवन ?''[13]

ये अलग बात है कि प्रभा का लिया गया निर्णय उनके व्यक्तिगत जीवन में घातक ही साबित हुआ। निर्णयों का प्रतिफलन भविष्य में होता है, किंतु प्रेम में डूबी युवा लड़की का मन भविष्य का नफा–नुकसान कहाँ समझ पाता है। प्रभा खेतान अपनी आत्मकथा में अविवाहित माँ बनना नहीं स्वीकार करतीं, और डरकर, हारकर गर्भपात करवा लेती हैं– वह प्रभा जो जीवन में अनेक बार साहसिक कदम उठाती हैं, क्षणिक भावावेश में शुरू हुए प्रेम सम्बन्ध को इतने खतरों के बावजूद आजीवन निभाने का संकल्प लेती हैं, यह फैसला उनके नारीवादी सिद्धान्तों पर प्रश्न चिह्न खड़ा करता है। उन्होंने प्रेम करने का खतरा उठाया, किंतु उसके परिणामों से डर कर कमजोर साबित हुईं। किंतु अपने इस डर को वे अपनी आत्मकथा में स्वीकार करती हैं।

''हम स्त्रियों के पास इसके सिवा चारा ही क्या है। हम अपने आप को उघाड़कर ही यथास्थिति के खिलाफ विद्रोह कर पाती हैं। हमारा अपना अंतरंग अनुभव ही हमारा पहला अस्त्र है। वही हमारी बौद्धिकता का प्रस्थान बिंदु है जो आगे जाकर अपनी प्रामाणिकता के जरिए इतिहास बनता है।''[14]

मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा 'कस्तूरी कुंडल बसै' में उनकी माँ कस्तूरी का चरित्र ऐतिहासिक है। विधवा होने के बाद मैत्रेयी पुष्पा की माँ, मैत्रेपी के भविष्य और अपने जीवन, घर, खेत को बचाने के लिए, अपनी सशक्तिकरण के लिए शिक्षा हासिल करके नौकरी की आकांक्षा करती हैं। किंतु आजादी से पूर्व के भारत में एक सवर्ण जाति की विधवा के लिए ऐसे सपने देखना समाज की सदियों से चली आ रही रूढ़ परिपाटी में आग लगाने जैसा ही माना जाएगा। अपने इस निर्णय को लेकर कस्तूरी बहुत द्वन्द्व में फँसती हैं–

---

13 वही, पृ0– 87

14 प्रभा खेतान, अभय कुमार दूबे द्वारा उद्धृत , हंस, नवम्बर 2008, पृ0– 69

''उसका संकल्प कोई नहीं समझेगा, क्योंकि यह संकल्प नहीं अजूबा होगा। ससुर मना नहीं करेंगे, मगर रजामंदी देंगे, इसमें संदेह है। दूसरी विधवाएँ हैं, वे कुछ ऐसा सोचती हैं, जिस पर गाँव उँगली उठाए और घर के लोग शर्मशार हों ? अगर अपनी ऐसी–वैसी इच्छा को नहीं दबा पातीं तो कुआँ, पोखर में डूब मरती हैं। विधवा का इतिहास तो इतना ही है, फिर नए भविष्य की ऊटपटाँग माना जाने वाला रवैया क्यों जोड़ने जा रही हूँ ? अपनी जिद, अपना पागलपन भरसक छिपाया, मगर क्या कुछ ढका छिपा रह रहा ? आज जब अपनी गृहस्थी समेटकर पीहर और ससुराल की मर्यादा का पालन करते हुए, 'विधवा कर्तव्य' जैसी किताब (जो ममिया ससुर लाए हैं) पढ़नी चाहिए और पर पुरुषों से बचकर रहना चाहिए। मैं पाँव बाहर निकाल देना चाहती हूँ, जहाँ रास्ते और कस्बे में परपुरुषों से ही वास्ता पड़ेगा। थू–थू तो बहुत होगी।' कस्तूरी का गला काँप गया और कनपटी गर्म हो गई।''[15]

शिक्षा द्वारा स्त्री का अपनी अस्मिता को बचाने का संघर्ष भी परिवार और समाज की नजर में स्त्री का अपराध बन जाता है। कस्तूरी की माँ को लगता है कि कस्तूरी का घर से बाहर निकलकर शिक्षा ग्रहण करने के निर्णय के पीछे पुरुषों की चाह है, कस्तूरी की आकांक्षा कोई नहीं समझना चाहता– ''मेरी माँ मेरी सबसे बडी दुश्मन है, महाबैरिन।'' कह देना धोबिन भाभी, दूसरा खसम करना मतलब फिर से गुलामी में जाना। और कस्तूरी किसी गुलाम मिट्टी की नहीं बनी। चाची को लाज लगती है तो खुद कुआँ–पोखर में डूब मरे। लजवन्तियों के लिए ही यह जगहें बनाई गई हैं। मुझे तंग न करे आगे से।''[16]

मैत्रेयी की माँ ने अपने निर्णयों के द्वारा अपनी जिंदगी की इबारत खुद लिखी। उन्होंने उन रूढ़ियों को नकारा जो स्त्री की राह अवरुद्ध करती हैं, किंतु रूढ़ियों को नकारने और पुरुष वर्चस्व से लड़ने के निश्चय के पीछे कशमकश का लम्बा मानसिक संघर्ष रहा है। स्त्री समाज से तो बाद में लड़ती है, उससे पहले वह अपने भीतर ही एक लम्बा मानसिक संघर्ष कर चुकी होती है। कस्तूरी दुबारा

---

15 मैत्रेयी पुष्पा, कस्तूरी कुंडल बसै, पृ0–31 16.

16 वही, पृ0–32

विवाह न करके शिक्षा के द्वारा अपनी अस्मिता, अपनी पहचान के साथ जीने का निर्णय लेती हैं। अरविन्द जैन सवाल उठाते हैं–

''स्त्री परिवार या विवाह संस्था के बाहर स्वतंत्र रूप से सम्मानजनक जीवन क्यों नहीं जी सकती ? विवाह के अलावा क्या और कोई विकल्प हो ही नहीं सकता ? क्या औरत को हमेशा रक्त या यौन सम्बन्धों और सम्पत्ति के समीकरणों में ही पहचाना जाएगा ? उसकी न अपनी कोई स्वतंत्र पहचान और न कोई स्वतंत्र निर्णय।''[17]

विकल्प हो सकता है किंतु उसके लिए स्त्री के भीतर निर्णय का निश्चय होना चाहिए। प्रेम एवं विवाह के बाद स्त्री जीवन में अनेक समस्याएँ, उलझनें आती हैं, जिनके साथ स्त्री का द्वन्द्व लगातार चलता रहता है, किंतु अपने सुझबूझ से निर्णय लेकर स्त्री उन उलझनों को सुलझाती है। सुनीता जैन, शीला झुनझुनवाला, कौसल्या बैसंत्री, सुशीला टाकभौरे, कृष्णा अग्निहोत्री आदि की भात्मकथाओं में भी यह बात देखी जा सकती है। निर्णय का साहस शिक्षा के द्वारा ही आता है, शिक्षा की आकांक्षा इन सभी लेखिकाओं की सबसे बड़ी आकांक्षा के रूप में उभर कर आती है।

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा एक आदर्शवादी पत्नीव्रता स्त्री के रूप में उभरकर आती हैं। किंतु पत्नी चाहे कितनी भी पतिव्रता क्यों न रहे, पति को उस पर शक करने का, उसके आत्सम्मान को ठेस पहुँचाने का पितृसत्तात्मक अधिकार है। चन्द्रकिरण लेखिका हैं किंतु संपादकों से पत्र–व्यवहार भी इनके पति को स्वीकार नहीं। और उसके लिए ये पत्नी पर लांछन लगाने से नहीं चूकते। चन्द्रकिरण इस अपमान को सहन नहीं कर पातीं और पति का घर छोड़ने का निर्णय लेती हैं। ट्यूशन पढ़ाकर अपना और अपनी बेटी का पालन–पोषण करने का निश्चय करती हैं। किंतु बेटी के भविष्य से जुड़ा एक द्वन्द्व उनकें कदम रोक लेता है और वे अपने निर्णय पर अमल नहीं कर पातीं–

---

[17] अरविन्द जैन, स्त्री मुक्ति का सपना, संपा0– प्रो0 कमला प्रसाद, पृ0–17

''कांति जी भी बच्ची को मन प्राण से चाहते हैं– वह कुछ भी कर सकते हैं– इसके लिए..... मैं इसे मेरठ ले जाऊँगी। बस मामा–माभी और ममेरे भाई–बहन से ही नाता रह जायेगा। बड़े होने पर अगर यह पूछेगी–''मेरे चाचा, चाची, बुआ कहाँ हैं ? मुझे इनसे तुमने अलग क्यों किया ? मेरे किस अपराध की सजा है यह ? ''तो मैं इसे क्या उत्तर दूँगी ? घर छोड़कर जाने का मेरा संकल्प दुर्बल पड़ गया था।''[18]

विवाहोपरान्त स्त्री संबंधों के अनेक बंधनों में बँध जाती है, उसके निर्णय के साथ अन्य लोगों का भी भविष्य जुड़ा होता है, पति–पत्नी के अलगाव का सबसे बड़ा और सीधा असर बच्चों पर पड़ता है, यही कारण है कि स्त्री कभी–कभी स्वतंत्र कदम नहीं उठा पाती। चन्दकिरण जी ने भी यही किया, किंतु भविष्य में दुबारा उन्हें पति के अपशब्द न सुनने पड़ें, इसके लिए कहानी लिखकर प्रकाशनार्थ भेजने की जिम्मेदारी पति को सौंप देने का निश्चय किया। हालाँकि यह निर्णय उनके लेखकीय पहचान के लिए सबसे घातक सिद्ध हुआ–

''शायद यही वह सबसे आदर्शवादी, पतिव्रता पत्नी का निर्णय था– जिसकी कीमत मेरे पूरे साहित्यिक जीवन ने चुकाई और लगभग गुमनामी के कगार पर अभिशप्त सरस्वती के वरदान–सी मैं खड़ी हूँ।''[19]

चन्द्रकिरण के इस फैसले के बारे में रोहिणी अग्रवाल लिखती हैं–''आदर्शवादी पतिव्रता की भूमिका में उतर का चन्द्रकिरण सौनरेक्सा का यह निर्णय उनके वर्तमान और भविष्य, व्यक्ति और लेखन दोनों को खा गया– कहने की आवश्यकता नहीं। यदि चन्द्रकिरण सौनरेक्सा के समूचे जीवन को 'पतिव्रता पत्नी का आत्मघाती' जीवन कहा जाए तो कुछ गलत न होगा।''[20]

वास्तव में हर तरह से सक्षम होते हुए भी झूठे आदर्शवाद के लिए चन्द्रकिरण ने अपने लेखन की बलि चढ़ा दी। उनका यह निर्णय हिन्दी साहित्य को बहुत बड़ी क्षति पहुँचाता है। सवाल उठता है कि क्या वैवाहिक सम्बंध इतना

---

18 चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पिंजरे की मैना, पृ0– 224

19 वही, पृ0– 224

20 रोहिणी अग्रवाल, साहित्य की जमीन पर स्त्री मन के उच्छवास, पृ0– 81

अनिवार्य हो जाता है कि उसे बचाने, निभाने के लिए किसी भी सीमा तक जाना चाहिए ? मन्नू भंडारी इसके जवाब में लिखती हैं– ''जब ऐसी स्थिति हो जाए, आपको जलालत या अपमान की जिंदगी जीनी पड़े, एक–दूसरे को आप तिल–तिल करके खााओ, ऐसी स्थिति में मैं समझती हूँ एक दूसरे से अलग हो जाना चाहिए। वैवाहिक–जीवन में एडजस्टमेंट जरूरी है। जरा–जरा स्त्री बात में हम अलग हो जाएं, यह उचित नहीं है।''[21]

और मन्नू भंडारी भी अपने जीवन में यही निर्णय लेती हैं। राजेन्द्र यादव से अपने रिश्ते को तब तक निभाती हैं जब तक उसमें जरा भी गुंजाइश बची रहती है, किंतु जब सहना असह्य हो जाता है तो वे चुपचाप अलग हो जाती हैं। इस अलग होने के पीछे एक पत्नी के रूप में मन्नू भंडारी ने बहुत व्यथा, बहुत द्वन्द्व झेला है। पति के विश्वासघात से दुखी मन्नू राजेन्द्र जी के लेखनीय व्यक्तित्व का विश्लेषण करती है–

''लेखक तो बड़ा संवेदनशील प्राणी होता है... दुखी, त्रस्त लोगों की वेदना, उसकी यातना उसे किस हद तक विचलित कर देती है कि वह उन पर सारी करुणा उड़ेल देता है पर अपनी पत्नियों की व्यथा वेदना तक आते–आते उसकी संवेदना सूख क्यों जाती है ? उसे महसूस करना तो दूर, वे तो बड़ी निर्ममता से उसका कारण बने रहते हैं। पर क्यों..... क्या पत्नी उन्हें हाड़–माँस का प्राणी नहीं लगती या कि काल्पनिक पात्रों के गढ़े हुए सुख–दुख पर ही अपनी सारी संवेदना उँड़ेलकर वे इतने खाली–खोखले और करुणा विहिन हो जाते हैं कि जीवित पत्नी के लिए उनके पास कुछ बचता ही नही ?[22]

मन्नू भंडारी का यह द्वन्द्व हर पत्नी की पीड़ा बन जाता है। पत्नी अपनी पूरी निष्ठा के साथ तमाम जिन्दगी रिश्ते और घर को प्रेम से सींचती है किंतु पति की उपेक्षा और बेकदरी से वह टूट जाती है। रिश्ते के सुधरने की झूठी उम्मीद के सहारे वह जीवन के महत्वपूर्ण साल तनाव एवं द्वन्द्व में बिता देती है। मन्नू भंडारी

---

21 कल के लिए, मन्नू भंडारी से डॉ0 बीना गुप्ता की बातचीत, जुलाई–दिसम्बर 2012, संपा0–डॉ0 जय नारायण, पृ0– 32

22 मन्नू भंडारी, एक कहानी यह भी, पृ0– 196

ने निर्णय तो लिया लेकिन बहुत देर से। आज की स्त्री अपने निर्णय लेने के लिए स्वतंत्र है, तो उसके पीछे यही कारण है कि वह पढ़ी–लिखी है, आर्थिक रूप से स्वतंत्र है फिर भी उसकी परेशानियाँ कम नहीं हुईं, बल्कि पहले से ज्यादा बढ़ गयी हैं। इस बात को रेखांकित करते हुए अनामिका लिखती हैं–''अब तो ज्यादातर घरों मे स्त्रियाँ नव–स्वातंत्र्य उल्लास के तिहरे दायित्व निभा रही हैं। वे नौकरी करती हैं, गृहस्थी चलाती हैं और बच्चों को पढ़ा–लिखाकर बड़ा भी वे ही करती हैं। ऐसा नहीं है कि पुरुष निखट्टू है और वे नौकरी के सिवा कुछ नहीं कर सकते, पर उन्हें चूल्हा–चौका चलाना और रोता हुआ बच्चा डुलाना हेय और उबाऊ दिखता है, और शरीर बल के आधिक्य के बावजूद वे स्त्रियों की तरह खट नहीं पाते। जिन घरों में स्त्रियों नौकरी करती हैं– बिजली पानी टेलीफोन का बिल जमा करवाना, बैंक–पोस्ट ऑफिस–एल0आई0सी0 के सारे काम बच्चों के स्कूल आना–जाना, उनकी फीस भरना, आए–गए को देखना भालना, सौदा–सुलुफ करना– ज्यादातर काम उन्हीं के जिम्मे रहता है और इसके समर्थन में एक सीधा तर्क यह दिया जाता है कि अधिकारों के साथ कर्तव्य क्यों नहीं बढ़े भला।''[23]

लगभग सभी आत्मकथा लेखिकाएँ इन दुहरी–तिहरी जिम्मेदारियों को उठाती हैं और कुशलता से निभाती हैं, किन्तु फिर भी उन्हें उनके अधिकार नहीं दिये जाते। वे यह सारे काम खुशी से करती हैं, प्यार, विश्वास और सम्मान चाहती हैं, पत्नी का अधिकार चाहती हैं, किंतु पुरुष उन्हें वह भी नहीं दे पाता। यही कारण है कि कई लेखिकाएँ जीवन के उत्तरार्द्ध में पति से अलग होने का निर्णय लेती हैं, क्योंकि उन्हें लम्बे वैवाहिक जीवन में समर्पण और परिवार संभालने के लिए किए गए संघर्ष के बदले भी प्रेम नहीं मिलता। एक तरह से देखा जाए तो पुरुष ज्यादा स्वतंत्र हुआ है, उसे पहले से भी अधिक सुविधा मिली है और जिम्मेदाररियाँ काफी कम हुई हैं। स्त्रियों की स्थिति पहले से ज्यादा जटिल हुई है, जिसने उनके जीवन में अधिक द्वन्द्व की स्थिति पैदा कर दी है, वो पहले से ज्यादा जागरूक हो गई हैं और अपनी स्थिति को समझने लगी हैं। किंतु जीवन की जटिलता से वे घबरा नहीं रही हैं, देर से ही सही वे अपने बारे में निर्णय ले

---

[23] अनामिका, औरत उत्तरकथा, संपा0– राजेन्द्र यादव, अर्चना वर्मा, पृ0–186

रही हैं। स्त्रियों की ये आत्मकथाएँ एक प्रकार से पहली खेप की आत्मकथाएँ हैं, हो सकता है आने वाले समय में अधिक सशक्त स्त्रियों की अधिक सशक्त निर्णयों से युक्त ज्यादा बेहतर आत्मकथाएँ आएँ जो स्त्रियों की स्थिति का एवं स्त्री विमर्श का ज्यादा बेहतर स्वरूप प्रस्तुत कर सकें।

2. घरेलू हिंसा से मुक्ति एवं सम्मान की आकांक्षा

पुरुषों द्वारा स्त्रियों के प्रति हिंसा के अनेक रूप हैं, किंतु स्त्री एक पत्नी के रूप में सबसे ज्यादा घरेलू हिंसा का शिकार होती है। पितृसत्ता की ये स्थापित एवं सर्व स्वीकृत धारणा है कि पुरुष पति के रूप में स्त्री का परमेश्वर है, स्वामी है, और पत्नी के रूप में स्त्री उसके चरणों की दासी है, गुलाम है। अतः पति का ये अधिकार है कि वह अपनी पत्नी के प्रति जैसा चाहे वैसा व्यवहार कर सकता है और पत्नी का कर्त्तव्य है कि वह पति के हिंसात्मक कार्यों, व्यवहारों को अपना पत्नी धर्म समझ कर स्वीकार करे। पत्नी को शारीरिक या मानसिक रूप से उत्पीड़ित करना पति अपना जन्म सिद्ध अधिकार समझता है। पत्नी के प्रति हिंसा पुरुष के अहम एवं वर्चस्व की तुष्टि–पुष्टि करती है, अतः अपने मर्दवादी अहंकार के चलते पति, पत्नी के घरेलू या बाहरी कार्यों में छोटी–से–छोटी सामान्य घटना को भी बहुत बड़ी त्रुटि, अपराध के रूप में व्याख्यायित करता है। वह पत्नी के साथ मार–पीट, गाली–गलौज करने, उसका खाना–पीना बन्द करने, उसे घर से निकालने, सहमति के बिना शारीरिक सम्बन्ध (बलात्कार जैसा) बनाने आदि विभिन्न तरीकों से उसका शोषण करता है। रमणिका गुप्ता घरेलू हिंसा की शुरुआत पर लिखती हैं–

''विजित सम्पत्ति या स्त्री का होने का अर्थ ही गुलाम होना है, जिसे मुनष्य से कमतर माना जाता है और इसलिए उसे अपने अनुकूल बनाने हेतु पुरुष उसे ठोंकता–पीटता व तराशता है। उसी प्रतिक्रिया में वह उसे सजाता और सँवारता भी है। यहीं से हिंसा की शुरुआत होती है। खासतौर से घरेलू हिंसा की। विड़म्बना यह है कि जो व्यक्ति या शरीर हमारे सबसे नजदीक होता है, वही

सबसे अधिक जुल्म ढाता है और बर्बर भी होता है। वह व्यक्ति स्त्री का पति होता है। अजीब बात तो यह है कि इस संबंध के जरिए स्त्री पुरुष से बँधी होती है, उसी से निजात या मुक्ति पाने के लिए संघर्ष भी करना पड़ता है।''[24]

आत्मकथाओं की लेखिकाएँ भी इस घरेलू हिंसा का शिकार होती हैं। भले ही वो उच्चशिक्षित हैं, समाज और सम्बन्धों आदि का गहराई से विश्लेषण करने वाली संवेदनशील रचनाकार हैं, किंतु हैं तो स्त्री। और स्त्री होना कई बार उनकी कमजोरी सिद्ध हो जाता है, किंतु सम्मान और समानता की आकांक्षा में स्त्रियाँ इस शोषण से मुक्त होने के लिए संघर्ष करती हैं।

कृष्णा अग्निहोत्री घरेलू हिंसा के बहुत बुरे अनुभवों से गुजरती हैं। उनकी आत्मकथा में जगह–जगह घरेलू हिंसा के कटु यथार्थ छुपे हुए हैं– ''पद का घमंड मेरे पति को अत्यधिक था। जिला हाकिम क्या थे, भगवान थे और मुझे तो प्रताड़ित करने का उन्हें धार्मिक अधिकार ही था।''[25]

जबकि अन्य स्त्रियों की भाँति कृष्णा अग्निहोत्री भी अपने पित के प्रति एक आदर्श पत्नी के सारे कर्त्तव्य खुशी–खुशी निभाती हैं उनकी पसंद–नापसंद का पूरा ख्याल रखती हैं। घर में नौकरों के होने के बावजूद पति के लिए अपने हाथों से कुछ–न–कुछ बनाती रहती हैं–

''लेकिन मुझे अपने पति की पंसद की मीठी चीजें बनाना अच्छा लगता। कहीं भी जाती कुछ भी सीख लेती, पति को परमेश्वर मान उनकी पसंदगी–रुचि ही जैसे मुझे स्मरण थी। मैं अपने से अधिक उनकी चिंता करती है।''[26]

यहाँ तक कि पति की इच्छानुसार ठंड में भी गरम कपड़े नहीं पहन पाती ताकि पति को पत्नी का सुन्दर शरीर दिखता रहे, कपड़ों से ढ़ँके नहीं।

---

24 रमणिका गुप्ता, स्त्री मुक्ति : संघर्ष और इतिहास, पृ0– 174

25 वही, पृ0– 105

26

''बनारस के तीखे तीर जैसे चुभते जाड़े में भी मैं गरम कपड़े नहीं पहनती और न ही ठंडी पड़ी मेरी देह को संभालने के लिए उन्होंने कोई गरम कपड़े पहनने का आदेश दिया या जोर डाला।''[27]

विवाह से पूर्व माता–पिता के घर में स्त्री को दबाकर, मर्यादा में रहने की शिक्षा दी जाती है, सिखाया जाता है कि विवाह के बाद पति के साथ स्वतंत्रता पूर्वक और खुशी से रहना। विवाह के बाद पति सारी इच्छाएँ, आकांक्षाएँ पूरी करेगा। किंतु स्त्री विवाह से पूर्व कैदी–सा जीवन बिताती ही है, विवाह के बाद तो उसकी स्थिति पर कटे पंछी की तरह हो जाती है, जिसमें वो सिर्फ दर्द से तड़फड़ा सकती है किंतु उड़ नहीं सकती। कृष्णा अग्निहोत्री के आई0पी0एस0 ऑफिसर पति अनेक औरतों से सम्बन्ध रखते हैं, यहाँ तक कि किसी औरत के घर आने पर (नर्स, मित्र, कामवाली आदि) उन्हें घर से बाहर चले जाने का आदेश देते हैं, और नहीं तो खुद कृष्णा जी से कहते हैं कि वो किसी काम से उन औरतों, लड़कियों को बुला लाए और खुद घर से बाहर चली जाए, कभी उनकी मित्र को अपने बीच में सुलाने की जिद। इन सबके बावजूद रात में पत्नी के साथ बलात्कार जैसा सम्बन्ध–

''आधी रात को शराब के नशे में धुत अग्निहोत्री जी घर आते ही मुझे पलंग से घसीट अंक शायिनी बना लेना चाहते। बस मैं यही नहीं सह पाती, विरोध करती और जमकर पिटती और बलात्कार को सह बेशर्मी से सो जाती। अपने दामन में यही तो शादी की सौगात पड़ी थी।''[28]

पति पत्नी का रिश्ता प्यार और विश्वास से बनता है। किंतु जिस रिश्ते में प्रेम न हो, वहाँ सम्बन्धों का स्वरूप कैसा हो सकता है। बिना सम्मान के, प्रेम, मनुहार के शारीरिक सम्बन्ध भी मात्र बलात्कार हो सकते हैं, जहाँ हिंसा के बल पर पत्नी को बेबस किया जाए। पर विड़म्बना यही है कि अधिकतर विवाह सम्बन्धों में पति–पत्नी के रिश्ते का, प्रेम का, सेक्स का यही स्वरुप है। शारीरिक सम्बन्धों में ऐसी रुग्णता, शुष्कता को लक्ष्य करते हुए अनामिका लिखती हैं–

---

27 वही, पृ0– 105

28 वही, पृ0– 153

''कुछ मिनटों का यह तन–घर्षण क्या उतना ही बेमानी और महत्वहीन नहीं जितना बस या ट्राम में कंधे से किसी का कंधा टकरा जाना ? जहाँ प्रेम होता है, वहाँ समर्पण–जैसे बड़े भाव के एक प्रतीक (टोकेन) के रूप में दैहिक संस्पर्श एक महत्वपूर्ण घटना के रूप में जीवन की आह्लादकारी लय बन जाता है, वरना देह से देह लड़ जाने का क्या मतलब।''[29]

स्त्री के कार्यों में छोटी–छोटी बातों पर कैसे कमी निकाली जाती है, कैसे मीनमेख निकाला जाता है– ताकि उसे प्रताड़ित किया जा सके, इसे कृष्णा अग्निहोत्री यथार्थपरक ढंग से अभिव्यक्त करती हैं–

''यदि सब्जी कोफ्ते की बनी हो तो इन्हें छोले चाहिए। छोले बने हों तो भरवां बैंगन की कमी महसूस होती। यदि आम का मीठा अचार बनाया है तो मीठा कटहल क्यों नहीं बना, नाश्ते में मठरी है तो मुंगौड़े होने चाहिए थे, मुंगौड़े बने तो कचौड़ी होनी थी। त्रुटि ढूँढ़कर मुझे कमजोर सिद्ध बनाने में ही शायद पति का पतित्व सुखी व संतुष्ट होता। रात सदैव मेरे लिए परीक्षा की ही रहती। दुर्गंध–उल्टी। अनाप–शनाप व्यवहार, उल्टा–सीधा बकना, गाली–गलौज, अस्वीकृति पर पिटाई।''[30]

घरेलू हिंसा की आँच में लगातार झुलसते हुए अन्ततः कृष्णा अग्निहोत्री अपने पति से अलग होकर आत्मसम्मान के साथ जीने का फैसला करती हैं–

''समाज मुझे कानपुर जाने की ही सलाह दे रहा था। घर व बाहर दोनों ओर से मुझ पर यही दबाव था कि यदि मैं अच्छी औरत हूँ तो मुझे कानपुर में ही बर्तन माँजकर तिरस्कृत होकर मरना चाहिए। मैं ऐसी अच्छी औरत सिद्ध न हो सकी और मन ही मन आत्मनिर्भर बनने की दिशा ढूँढ़ने लगी।''[31]

कृष्णा अग्निहोत्री की जागृत चेतना, अस्मिता और आत्मसम्मान की आकांक्षा ही थी कि उन्होंने ससुराल में बरतर माँजकर, पति की पिटाई खाकर मरने की

---

29 अनामिका, औरत उत्तरकथा, संपा0– राजेन्द्र यादव, अर्चना वर्मा, पृ0– 182

30 कृष्णा अग्निहोत्री, लगता नहीं है दिल मेरा, पृ0– 126

31 कृष्णा अग्निहोत्री, लगता नहीं है दिल मेरा, पृ0– 193–194

अपेक्षा संघर्ष करके सम्मान से जीना स्वीकार किया। तसलीमा नसरीन लिखती हैं–

''असल में समाज में औरतों की आर्थिक आत्मनिर्भरता और सुरक्षा के न होने की वजह से अकेले रहना या अकेले बच्चों को बड़ा करना एक दुखद मामला है; पर क्या इस वजह से अत्याचारी पति के साथ समझौता करना पड़ेगा। बहुओं पर उत्पीड़न और उनकी हत्या जिस रफ्तार से बढ़ रही है उसे देखकर बदन सिहर उठता है। पुरुष तन्त्र का वीभत्स नारी विद्वेष और नारी घृणा किस उत्कृष्ट भाव से प्रकाश पाते हैं।''[32]

कृष्णा अग्निहोत्री चूँकि पहले से आत्मनिर्भर नहीं थी, अतः वे ज्यादा प्रताड़ित हुईं किंतु आत्मनिर्भर स्त्री भी जब घरेलू हिंसा का शिकार होने लगे तो क्या कहा जाना चाहिए। प्रभा खेतान विवाह बंधन में नहीं बँधतीं, किंतु फिर भी वे अपने विवाहित प्रेमी द्वारा चरित्रहीन की दृष्टि से देखी जाती हैं–

''सब सालों को लड़कियों से चोंच लड़ाने में ही मजा आता है। जैसे सड़क पर चलने वाली हर औरत वैश्या नहीं होती, वैसे हर मर्द औरत को देखते ही लार नहीं टपकाने लगता। **XXX** अच्छा तो अब तुम्हें मर्दों का वर्गीकरण भी आ गया, पर लग गए हमारी सोनचिरैया को। **XXX** प्लीज डॉक्टर साहब इतना कड़वा मत बोला कीजिए।''[33]

यह है पुरुष सत्ता की स्त्रियों के प्रति अन्तर्विरोधी सोच। जिसमें स्त्री सोनचिरैया भी है और पुरुष चाहता है कि उसके 'पर' भी न हों। प्रभा खेतान कई बार इस सम्बन्ध से मुक्त होना चाह कर भी नहीं हो पातीं, क्योंकि वो जिसके साथ जुड़ती हैं, उसके साथ प्रेम उन्हें अलग नहीं होने देता। किंतु क्या यह जबरदस्ती का जुड़ाव प्रेम ही है या कुछ और ? प्रभा खेतान के ही शब्दों में –

---

32 तसीलीमा नसरीन, हंस, मई–2013, संपा0– राजेन्द्र यादव, पृ0– 84

33 वही, पृ0– 249–250

''डॉक्टर साहब की बाहों के घेरे से निकलना इतना आसान भी नहीं होगा। मैं तो अपना कमाया हुआ धन लेकर भी नहीं जा पाऊँगी। बड़े दबंग व्यक्ति हैं डॉक्टर साहब, ऊपर तक उनकी पहुँच है। चिन्दियों में बिखेर दी जाऊँगी, बड़ी गैर जरूरी लड़ाई होगी वह।''[34]

यह दबंगई पितृसत्तात्मक सोच की है, जिसमें स्त्री चाहे जितनी भी मजबूत स्थिति में हो, आत्मनिर्भर हो किंतु पुरुष उस दायरे में उससे अधिक मजबूत स्थिति में है, और स्त्री की स्थिति उसकी तुलना में कमजोर पड़ जाती है, जिसके कारण वह उसके वर्चस्व से मुक्त नहीं हो पाती। स्त्री की आकांक्षा इसी स्थिति को बदलने की है। वह भी मनुष्य है सक्षम है, किंतु हमेशा ही उसे दोयम दर्जे का अधिकारी ही क्यों समझा जाता है ? पितृसत्ता आखिर अपनी सोच क्यों नहीं बदलना चाहती ? स्त्री का द्वन्द्व एवं संघर्ष इसी वर्चस्वशाली मानसिकता से है उसकी आकांक्षा एक समानता परक समाज, परिवेश की है। स्त्री आत्मकथा लेखिकाएँ अपने–अपने घरों, समाज में इसी वर्चस्व से संघर्ष करती नजर आती हैं।

शीला झुनझुनवाला, सुनीता जैन, कुसुम अंसल, मैत्रेयी पुष्पा आदि की आत्मकथाओं में मारपीट, गाली–गलौज, उत्पीड़न की घटनाएँ लगभग नहीं हैं। कहीं–कहीं सम्बन्धों में तनाव दिखाई दे जाता है, जो कि पति–पत्नी के लम्बे वैवाहिक रिश्ते में स्वाभाविक माना जा सकता है। पद्मा सचदेव भी अपने पहले पति से तलाक लेकर दुबारा विवाह करती हैं और एक शान्तिपूर्ण, स्वस्थ दाम्पत्य जीवन गुजारती हैं। मन्नू भंडारी राजेन्द्र यादव के दाम्पत्येतर प्रेम सम्बन्धों को लेकर बेहद तनावपूर्ण जीवन जीती हैं, दोनों के बीच कटुतापूर्ण स्थितियाँ होती हैं, इस स्थिति में मन्नू भंडारी मानसिक अत्याचार सहते हुए चाहर कर भी अलग नहीं हो पातीं–

''या कि दो वर्ष की मित्रता में मैं राजेन्द्र से इतने गहरे जुड़ गई थी कि उनको नकार देना मुझे अपने आपको नकार देने जैसा लगने लगा था..... या कि पिताजी की इच्छा के विरुद्ध अपनी इच्छा से की हुई इस शादी को मैं किसी भी

---

[34] वही, पृ0– 249–250

कीमत पर असफल नहीं होने देना चाहती थी– चुनौती ही थी यह मेरे लिए एक तरह से.....। या यह भी हो सकता था कि मुझे उम्मीद थी कि मेरा समर्पण एक न एक दिन राजेन्द्र को जरूर बदल देगा और बाद में तो टिंकू भी एक बहुत बड़ा कारण हो गई थी। मैं नहीं जानती कि क्या कारण था..... शायद सभी का मिला–जुला रूप रहा होगा.....एक–दो बार तो कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं कि स्थिति मेरी सहन–शक्ति के बाहर हो गई और मैंने अलग होने का निर्णय ले भी लिया तो आँसू भर–भरकर राजेन्द्र ने अपने को ऐसा कातर बना लिया कि मेरा सारा आक्रोश, सारा संकल्प उसी में बह गया।''[35]

मन्नू भंडारी गहरे मानसिक दबावों के बीच उहापोह की स्थिति से गुजरते हुए भी इस पीड़ा से मुक्त होने का निर्णय नहीं ले पातीं। और जब निर्णय लेती हैं तब बहुत देर हो चुकी होती है। वो जीवन के ऐसे अन्तिम दौर में अलग होती हैं जिसमें संबंधों की तल्खी और टूटन के सिवा कुछ हाथ नहीं आता।

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ऐसी आत्मकथाकार हैं जो जीवन–पर्यन्त पति की ऐयाशियों को इज्जत के नाम पर ढ़ोती रहीं, जीवन भर संघर्ष करती रहीं और पति के द्वारा अपमानित होती रहीं। कहानी के प्रकाशन की स्वीकृति पत्र आने पर चरित्रहीन साबित हुईं–

'' 'यह' रसोई के सामने खड़े थे– क्रोध–ईर्ष्या की मिली–जुली तस्वीर बनकर– ''तुमने भी तो कहानी भेजते समय पत्र में कुछ न कुछ तो लिखा ही होगा जरूर..... उसके चूतड़ों में घी मला होगा।''[36]

कृष्णा अग्निहोत्री और चन्द्रकिरण सौनरेक्सा के पति दोनों सिविल सर्विस में होते हैं किंतु अपनी ऐयाशियों के चलते दोनों इतनी बड़ी नौकरी, पद, सम्मान सब कुछ गवाँ देते हैं, फिर भी उन्हें अपनी गलतियों का एहसास नहीं होता, और न ही अहम कम होता है। दोनों बात–बात पर पत्नी के प्रति हिंसा बदस्तूर जारी रखते

---

35 मन्नू भंडारी , एक कहानी यह भी, पृ0– 60–61

36 चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पिंजरे की मैना, पृ0– 220

हैं। चन्द्रकिरण के पति अपनी सनक में इतनी कुंठा पाल लेते हैं कि अपने बच्चों तक के प्रति घटिया विचार रखते हैं–

''तुम्हें मैंने मद्रास में दस रुपये नहीं दिये, तो तुम जरुर रास्ते भर मुझे कोसती गई होगी। तुम्हारा कोसना सफल हुआ। बम्बई स्टेशन पर मेरा बक्सा तोला गया और मुझे पन्द्रह रुपये जुर्माना देना पड़ा। पर कोसना तुम्हें ही नहीं आता, मुझे भी आता है। मैं अभिशाप देता हूँ कि तुम जीवन भर भीख माँगोगी, तुम्हारे लड़के बेयरे बनकर, होटलों की जूठन खायेंगे और तुम्हारी लड़कियाँ कोठों पर बैठेंगी।''[37]

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा जीवन भर इज्जत और सम्मान के लिए संघर्ष करती रहीं। किंतु उनके पति हमेशा गैर जिम्मेदाराना व्यवहार और विचार अपनाए रहे, पत्नी का घरेलू शोषण करते रहे। बच्चों के खातिर और परिवार की इज्जत के नाम पर चन्द्रकिरण जीवन भर ऐसे अपमानों का सामना करती रहीं, जिसका उन्हें अफसोस भी होता है–

''हालाँकि इस जीवन संध्या में, मुझे यह एहसास जरूर हुआ है कि ऐसे ही अवसरों के समझौते ने, हमारे जैसे लोगों को समझदार कम और कमजोर ज्यादा सिद्ध किया है।''[38]

स्त्री चाहे सवर्ण हो या दलित घरेलू हिंसा सभी वर्ग, वर्ण, जाति की स्त्रियों का कड़वा यथार्थ है। दलित स्त्रियाँ भी दलित पुरुषों की पितृसत्तात्मक मानसिकता का शिकार उसी प्रकार हैं जिस प्रकार सवर्ण स्त्रियाँ। दलित स्त्री पुरुष सत्ता के जातिगत शोषण एवं घरेलू हिंसा दोनों का शिकार होती है।

कौसल्या बैसंत्री उच्च शिक्षित दलित महिला हैं, उनके पति भी उच्च शिक्षित होते हैं किंतु फिर भी पति की घरेलू हिंसा का शिकार होती हैं–

---

37 चन्द्रकिरण सौनरेक्सा 'पिंजरे की मैना' पृ0– 339

38 वही, पृ0– 248–249

''देवेन्द्र कुमार सिर्फ अपने ही घेरे में रहने वाला आदमी है। गर्म मिजाज और जिद्दी। अपने मुँह से कहता है कि मैं बहुत शैतान आदमी हूँ। उसने मेरी इच्छा, भावना, खुशी की कभी कद्र नहीं की। बात–बात पर गाली, वह भी गंदी–गंदी और हाथ उठाना। मारता भी था बहुत क्रूर तरीके से। उसकी बहनों ने मुझे बताया था कि वह माँ–बाप, पहली पत्नी को भी पीटता था। उसे आदत थी मारने की।''[39]

कौसल्या बैसंत्री पति का यह अत्याचार सहती हैं, अपने छोटे बच्चों, और अपने माता–पिता को कोई मानसिक आघात न पहुँचे इस वजह से। पति के रूप में आते ही पुरुष का व्यवहार स्त्री के प्रति किस तरह बदला जाता है, अनीता भारती इस बारे में लिखती हैं–

''देवेन्द्र दलित आन्दोलन का सक्रिय कार्यकर्त्ता है। जब तक लेखिका से उसकी शादी नहीं हुई तब तक उसका बर्ताव लेखिका से सहयोगपूर्ण है, मित्रवत है। जैसे ही शादी हो जाती है दृश्य बदल जाता है, मित्र की जगह पति विराजमान है और पति के साथ उसका पुरुष अहम है।''[40]

सम्मान एवं समानता की आकांक्षी लेखिका अन्ततः अपने पति से अलग होने के लिए तलाक का मुकदमा दायर कर देती हैं, जिसके मूल में घरेलू हिंसा, पति प्रताड़ना से मुक्ति छुपी है। पितृसत्ता से मुक्ति का आह्वान एवं स्त्री स्वतंत्रता की आकांक्षा लेखिका अपनी आत्मकथा की भूमिका में ही अभिव्यक्त कर देती हैं–

''पुत्र, भाई, पति सब मुझ पर नाराज हो सकते हैं, परन्तु मुझे भी तो स्वतंत्रता चाहिए कि मैं अपनी बात समाज के सामने रख सकूँ। मेरे जैसे अनुभव और भी महिलाओं को आए होंगे परन्तु समाज और परिवार के भय से अपने अनुभव समाज के सामने उजागर करने से डरती और जीवन–भर घुटन में जीती हैं। समाज की आँखें खोलने के लिए ऐसे अनुभव सामने आने की जरुरत है।''[41]

---

39 कौसल्या बैसंत्री, 'दोहरा अभिशाप', पृ0– 104

40 अनीता भारती, 'समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध,' पृ0– 40

41 कौसल्या बैसंत्री, 'दोहरा अभिशाप', पृ0– 8

सुशीला टाकभौरे की स्थिति भी अन्यों से जुदा नहीं है। वे भी बार–बार पति की उपेक्षा, प्रताड़ना, हिंसा का शिकार होती हैं, पति के बेवजह के गुस्से का शिकार होती रहती है–

''पता नहीं किस बात पर माँ और बहन से इनकी झंझट शुरु हुई, सीधे मेरे पास आकर मेरी थाली में ठोकर मारी। थाली दूर गिरी। सब्जी–रोटी नीचे बिखर गई। मैं चुपचाप देखती रह गई। 'किसी की थाली में खाना खाते समय कोई उस तरह लात मारता है ?' यह मैंने अपने जीवन में पहली बार देखा था। मन वेदना से भर गया, गला रुँध गया, आँखें भीग गईं।''[42]

हालाँकि सुशीला टाकभौरे जी के पति शिक्षक, धीर गंभीर व्यक्तित्व वाले थे, किंतु पत्नी के लिए वे एक सामान्य पुरुष ही थे जो पत्नी को प्रताड़ित कर बड़प्पन महसूस करता है–

''टाकभौरे जी में बड़प्पन की भावना बहुत थी। बहुत लाड़–प्यार में पले इकलौते बेटे थे। वे घर में मेरे साथ तानाशाही व्यवहार करते हुए कहते थे – ''मुझे बहुत गुस्सा आता है, गुस्से में मैं कुछ भी कर सकता हूँ।'' मैं चुपचाप उनकी बातें सुनती थी। दूसरों के सामने मेरे साथ सम्मानपूर्ण व्यवहार करते मगर घर में माँ–बहन के सामने हमेशा डाँट–फटकार, व्यंग–कटाक्ष करते, आतंकपूर्ण वातावरण बनाकर रखते। ऐसा करके वे अधिक बड़प्पन महसूस करते थे। घर में झगड़ा होता, मारने–पीटने की और मेरे रोने चिल्लाने की आवाज ऊँची सुनाई देती। पड़ोसियों को ये बातें सुनाई न दें, इसके लिए वे रेडियो की आवाज ऊँची कर देते थे। घर में झगड़ा, मारपीट चलते रहते।''[43] ''मैं कुछ कहती तो इन्हें भयंकर गुस्सा आता। एकदम मारने पीटने लगना जैसे इनका जन्मसिद्ध अधिकार था।''[44]

---

42 सुशीला टाकभौरे 'शिंकजे का दर्द' पृ0– 143

43 वही, पृ0– 145

44 वही, पृ.144

घरेलू हिंसा, शोषण–उत्पीड़न के बीच ही सुशीला टाकभौरे आत्मनिर्भरता की दिशा में सतत् प्रयासरत रहती हैं, अपने पैरों पर खड़ी होकर अपना आत्मसम्मान पाना चाहती हैं। हालाँकि अपने प्रति हिंसा के विरोध की भावना भी उनके भीतर धीरे–धीरे जन्म लेती है। मुक्ति की प्रबल आकांक्षा उनकी आत्मकथा की भूमिका में प्रमुखता से अभिव्यक्त हुई है–

''मेरी आत्मकथा मेरी वेदना का दस्तावेज है। इस वेदना–पीड़ा से छुटकारा तभी मिलेगा जब पूरी समाज व्यवस्था बदलेगी।..... नारी मुक्ति की भी लड़ाई हो जिसे सब देखें, जानें और समझें। समाज में नारी के प्रति 'अबला' की मानसिकता को बदलकर नारी को सबल रूप में स्थापित करना नारी मुक्ति का उद्देश्य है। नारी शोषण की स्थितियों को बदलकर उसे सभी अधिकारों से सम्पन्न बनाना सामाजिक प्रगति और परिवर्तन का लक्ष्य है। सम्पूर्ण दलित समाज और नारी वर्ग को शोषण–अपमान से मुक्ति का अधिकार मिलना चाहिए।''[45]

घरेलू हिंसा स्त्री जीवन का वो अभिशाप है, जिसे वो जीवन भर झेलती है। यह अमानवीयता की वो पराकाष्ठा है, जो कई बार स्त्री का जीवन समाप्त कर देता है। बात–बात पर होने वाली यह यंत्रणा स्त्री के शरीर और मन को लगातार छलनी करता है प्रतिदिन, प्रति क्षण। स्त्री के मानवीय अधिकारों का हनन करने वाली हिंसा के प्रति कानून भी पास हुआ किंतु उसका ज्यादा फर्क स्त्री जीवन पर नहीं दिखाई देता। इसके कारणों की पड़ताल करते हुए अरुण कुमार त्रिपाठी लिखते हैं–

''सख्त से सख्त कानूनों के बावजूद अत्याचार नहीं रुकते। वे कम होने के बजाय बढ़ते जाते हैं। कुछ साल बाद इन कानूनों की समीक्षा होती है तथा सजा के प्रावधान और कड़े कर दिये जाते हैं। जुर्माना बढ़ा दिया जाता है। लेकिन नतीजा फिर वही। दहेज हत्या, बलात्कार, घरेलू हिंसा और वैश्यावृत्ति की घटनाओं में कमी आने की बजाय बढ़ोत्तरी होती जाती है। इसके अलावा इन कानूनों से सजा पाने वालों की तादाद भी नगण्य होती है। स्त्री अधिकारों के प्रति बढ़ती

---

[45] वही, (भूमिका से)

चेतना के इस दौर में पास हुए तमाम–कानून सही मायने में उपयोगी होने के बजाय सजावट की वस्तु साबित हुए हैं। उन्होंने स्त्रियों को अधिकार सम्पन्न बनाने के बजाय राज्य को ज्यादा अधिकार–सम्पन्न बनाया है। नतीजा, स्त्री स्वतंत्र होने के बजाय और लाचार हुई है।''[46]

इस बात से इतना तो तय है कि घरेलू हिंसा के मामले में कानून भी ज्यादा कुछ नहीं कर पाएगा जब तक कि स्त्री स्वयं ही इसके प्रतिरोध के लिए नहीं उठ खड़ी होगी, जब तक अपने खिलाफ हिंसा के प्रति नहीं बोलेगी। सदियों के शोषण को झेलती हुई स्त्री अब अस्मिता के लिए अपने अधिकारों के लिए मुखर होने लगी है। शिक्षा ने उसे अपने अधिकारों का बोध कराया है। वह पितृसत्ता के द्वारा थोपी गई नैतिकता, आदर्श एवं त्याग के षड्यन्त्र को भी समझने लगी है। अपनी मानसिक 'कंडिशनिंग' से बाहर आने में उसे समय जरुर लगा, किंतु आत्मनिर्भर होकर वह इन मूल्यों की समीक्षा करने लगी है। लेखिकाओं की आत्मकथाएँ पितृसत्ता के शोषण से मुक्ति की गाथा हैं। पितृसत्तात्मक वर्चस्व के साथ स्त्री अपनी अस्मिता को लेकर द्वन्द्व करती है और मुक्ति की आकांक्षा के साथ उसका प्रतिकार करती है। अपने सम्मान और अपनी स्वतंत्रता को स्त्री छोटे–छोटे कदमों से ही प्राप्त करने के उपक्रम में लगी है।

3. जीवन की त्रासदी एवं स्त्री की भूमिका

''हमारी पूरी मानव सभ्यता मुनष्य के विकास के साथ–साथ स्त्री की गुलामी के विकास का दस्तावेज है।''[47]

इस कथन के पीछे मातृसत्तात्मक व्यवस्था को अपदस्थ कर पितृसत्तात्मक व्यवस्था का स्थापित होना, वर्चस्वशील होना है। स्त्री की शोषणपरक दोयम स्थिति का कारण पितृसत्ता है, इसमें कोई दो राय नहीं, किंतु प्रश्न ये है कि विकास की संभावनाओं से युक्त स्त्री का अपने जीवन की विडम्बनापूर्ण स्थितियों या त्रासदी में

---

46 अरुण कुमार त्रिपाठी, स्त्री के लिए जगह, संपा0– राजकिशोर, पृ0– 91

47 रमणिका गुप्ता, स्त्री मुक्ति : संघर्ष और इतिहास, पृ0– 170

क्या कोई योगदान नहीं है ? क्या अपने जीवन के लिए स्वतंत्र रूप से लिए गए निर्णयों (चाहे उनका प्रतिफल अच्छा हो या बुरा) के लिए स्त्री को किसी तरह जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता ? या फिर ठहराया जाए तो यह गलत होगा ?

भले ही आर्थिक रूप से पति पर पूर्णतः निर्भर, अनपढ़ या कम पढ़ी–लिखी, घर की चारदीवारियों में कैद, परतंत्र स्त्री को लेकर यह प्रश्न नहीं किया जा सकता किंतु उच्च शिक्षित, आत्मनिर्भर, अस्मिता की चेतना से ओत–प्रोत, संवेदनशील रचनाकार स्त्री को अपनी जिन्दगी की रूपरेखा तय करने में, उसे बिगाड़ने–बनाने में उसके योगदान से इंकार नहीं किया जा सकता। अर्थात अपनी त्रासदी के लिए पितृसत्ता के साथ–साथ स्त्री भी जिम्मेदार है, भले ही उसके निर्णयों को प्रभावित करने में अनेक मूर्त–अमूर्त कारणों (पितृसत्तात्मक कारण भी) का भी योगदान हो, किंतु इस आधार पर स्त्री पूर्णतः बरी नहीं घोषित की जा सकती।

अपने जीवन, अपनी पहचान के लिए किए गए संघर्षों से उपजी सफलता का श्रेय स्त्री को मिलता है तो जीवन की त्रासदियों में भी उसकी, उसके निर्णयों की भागीदारी बनती है। वह भी कहीं–न–कहीं दोषी होती है, पितृसत्ता के साथ उसकी भी भागीदारी बनती है। और यह भागीदारी स्त्री को खुले मन से स्वीकार करनी होगी, क्योंकि आवश्यकता से अधिक हर जगह स्त्री के नाम पर सहानुभूति बटोरना, स्त्री के नाम पर सही–गलत छूट लेना वस्तुतः स्त्री मुक्ति की राहों को अनरुद्ध करना है।

स्त्री आत्मकथाओं में कई जगह स्त्रियों की खुद की भी कमजोरियाँ जाहिर हुई हैं जिसके प्रति कहीं तो स्त्रियों ने आत्मालोचन की दृष्टि अपनाई है और कहीं स्त्रियोचित छूट लेती दिखाई देती हैं। चूँकि इन आत्मकथाओं में स्त्रियों की पहली खेप की आत्मकथाएँ ज्यादा हैं, अतः इनके बारे में रोहिणी अग्रवाल लिखती हैं– ''आज इसे पलायन का नाम देकर कोसना और पितृसत्तात्मक व्यवस्था को मजबूती प्रदान करने के लिए स्त्री की दुर्बलता और परवशता को देषी ठहराना गलत है, लेकिन उस युग में सतीत्व और मातृत्व के महिमामंडन में पर्यवसित स्त्री छवि के

साथ बँधी स्त्री के पास इस रूढ़ छवि को जीने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प था ही नहीं। जिन्होंने विकल्प को तलाशकर स्त्रीत्व पर मनुष्यत्व का आरोपण किया, वे पं0 रमाबाई, रख्माबाई, अज्ञात हिन्दू महिला और दुखिनीबाला जैसी स्त्रियों की तरह मिटा दी गयीं।''[48]

स्त्री आत्मकथाकारों की कमजोरियों को रेखांकित करने का उद्देश्य स्त्री को अपराधी सिद्ध करना न होकर, उन कमजोरियों का विश्लेषण करना, एवं उन्हें दूर करना है जो स्त्री के सशक्तिकरण में बाधक साबित होते है। इन कमजोरियों को स्वीकार करना, उन आरोपों का जवाब है जो स्त्री साहित्य के माध्यम से स्त्री विमर्श पर लगाए जाते हैं।

अकेली, संघर्षों से जूझती स्त्री के लिए जिंदगी का एक थपेड़ा सबक सिखाने, समझदार बनाने के लिए काफी होता है, किंतु कृष्णा अग्निहोत्री गलतियों पर गलतियाँ किए जाती हैं और समाज के तानों से दुखी होकर रोये जाती हैं। विवाहित व्यक्ति से प्रेम, गंभीर रूप से धोखा खाकर व्यक्ति पर दुबारा विश्वास। छात्रों के प्रति सामान्य से अधिक लगाव, झुकाव। इनके बारे में लोग बिना गलती के भी अफवाहें फैलाते हैं, उस पर दूसरे भावी पति के साथ लापरवाही भरा व्यवहार–

''हम खुलेआम नशेलचियों की तरह सड़कों–सिनेमा गृहों, पार्क, बाजार व रेस्त्रा में घूम रहे थे, इसलिए मुझे पूरा विश्वास था कि श्रीकान्त मेरे विषय में गंभीर हैं।..... नशे में व्यक्ति भला–बुरा नहीं सोचता। समाज उसे तमाचा मारकर होश में लाता है।''[49]

कृष्णा अग्निहोत्री वो सारे काम खुलकर करती हैं जिसमें उन्हें अपना फायदा दिखता है। सबके समझाने के बावजूद किसी की नहीं सुनतीं और एक गलत, विवाहित व्यक्ति का चुनाव करती हैं, और जब वह धोखा देता है तो ढ़ेर–ढ़ेर सारे आँसू बहाती हैं। कृष्णा अग्निहोत्री पढ़ी–लिखी, समझदार, व्याख्याता

---

48 रोहिणी अग्रवाल, साहित्य की जमीन पर स्त्री मन के उच्छ्वास, पृ0– 80

49 कृष्णा अग्निहोत्री, लगता नहीं है दिल मेरा, पृ0– 254

और प्रसिद्ध लेखिका थीं, फिर भी उनसे जीवन की इतनी बचकानी भूलें होती रहीं। वे अपनी बेवकूफी को, हार को प्रेम का नाम देती रहीं–

''अग्निहोत्री जी से ब्याही गई तो 16 साल की थी मैट्रिक पास और प्रतिष्ठित पिता की बेटी थी जिसके भाई–बहनों का ब्याह होना था। आज की कृष्णा आत्मनिर्भर, विवेकपूर्ण, चेतन व भारत की कथाकार थी। पढ़ी–लिखी एक जागरूक महिला। उससे भी मनुष्य मन का यह रहस्य नहीं पढ़ा गया। वैसे उस वर्तमान में सत्य यही था कि श्रीकान्त जी से मैं प्रेम करती थी या हो सकता है कि 'इन्फेचुएशन' हो या अव्यक्त मन में अकेलेपन से घबरा गई थी, लेकिन इस पर भी मैं स्वीकारती हूँ कि आत्मसमर्पण करने वाली साधारण स्त्री नहीं हूँ। अनायास ही कोई लालच या सौदा मुझे झुका नहीं पाता। जब भी मैं झुकी या टूटी तो कहूँगी। प्रेम से ही मारी गई। जो कुछ भी मुझे पूर्व में नहीं मिला था वह मिल रहा था।''[50]

दूध का जला छाछ भी फूँककर पीता है किंतु कृष्णा जी न जाने सपनों की किस दुनिया में रहती हैं, वे अपने रिश्ते में पति, मित्र दोस्त लगभग सभी पुरुषों द्वारा धोखा खाती हैं, बचपन में लम्बे समय तक रिश्तेदार द्वारा यौन शोषण का शिकर भी होती हैं। किंतु उसके बावजूद पुरुषों पर अबोध बालिका की तरह विश्वास करती हैं। दरअसल कृष्णा जी न तो मासूम थीं, न भोली थीं और न ही मूर्ख। वे दुबारा विवाह करने के फैसले में सिर्फ और सिर्फ अपनी चालाकी में मारी जाती हैं।

''मैं बहुत आगे बढ़ गई थी। मुझे किसी की रखैल बनना पसंद न था। मेरा अहं एक प्रतिष्ठित सामाजिक स्थान पाने के लिए लालायित था। मेरे अन्दर की सीधी औरत यह नहीं सोच सकती थी कि श्रीकांत धोखा दे रहे हैं।''[51]

''श्रीकान्त से विवाह का प्रमुख कारण प्यार के साथ सामाजिक सुरक्षा, प्रतिष्ठा व निहार का ब्याह था, परन्तु उन्होंने यही सब हमसे छीन लिया।''[52]

---

50 वही, पृ0– 256

51 वही, पृ0– 254

52 वही, पृ0– 289

कृष्णा जी स्वयं नौकरी करती थीं, लेखिका थीं, आत्मनिर्भर थीं, जान–पहचान वाली भी काफी थीं, वे स्वयं अपनी बेटी का विवाह कर सकती थीं, जैसा कि उन्होंने बाद में किया भी। दरअसल कृष्णा जी एक रईस और प्रतिष्ठित सवर्ण परिवार की बेटी थीं, बाद में आई0पी0एस0 ऑफिसर की पत्नी भी बनीं। कालान्तर में पिता का वैभव व्यापार में घाटा होने और पति का वैभव उसकी ऐयाशियों के चलते खत्म हो गया, और कृष्णा गरीबी, मार–पीट से तंग आकर अपने पहले पति को छोड़ देती हैं। किंतु रईसी, वैभव, ठाट–बाट का मोह नहीं छोड़ पातीं। यही कारण है कि सबके मना करने के बावजूद, बेटी को भी नापसन्द होने के बावजूद दुबारा विवाह करके धोखा और अपमान पाकर अपना और अपनी बेटी का भविष्य चौपट करती हैं–

''समाज परिवार ने मुझे दूसरी शादी करने पर क्षमा तो नहीं किया, अपमानित ही हुई। मेरी बच्ची का भविष्य भी अन्धकार में था। उस पर बेवजह श्रीकान्त ने यह बेबुनियादी हमला बोल दिया।''[53]

हालाँकि वे आत्मविश्लेषण तो करती हैं, लेकिन बहुत देर से––''मैं अन्दर से अतिरिक्त व्यावहारिक महिला होने का दावा करती रहीं हूँ, परन्तु कुछ व्यावहारिक पक्षों से मुँह मोड़कर अपने को समस्याओं में डाल देती हूँ। अन्दर से महत्वाकांक्षी तो हूँ ही, उस पर आदर्शों का नशा भी रखती हूँ। अब दोनों का तालमेल बैठाना इतना सरल तो नहीं है। मुझे जोग साहब का सौन्दर्य, मजिस्ट्रेट की पोस्ट, उनकी डिग्निटी तो दिख रही थी, परन्तु उनके घर की गरीबी व चार बच्चों को मैं नजर अंदाज क्यों कर रही थी।... मैं जब अग्निहोत्री जी के परिवार में सब भुगत चुकी थी, तब भी मेरी आँखें इस कटु यथार्थ से कैसे मुँद गईं, पता नहीं।''[54]

अपनी महत्वाकांक्षा में कृष्णा अग्निहोत्री जी दूसरे पति से इस आश्वासन पर भी विवाह करती हैं कि उसने स्टांप पेपर पर लिखकर दिया था कि अपनी सारी जायदाद वो उनके नाम कर देगा ताकि उसके बच्चे अपनी सौतेली माँ के

---

[53] वही, पृ0– 281

[54] वही, पृ0– 253

साथ दुर्व्यवहार न कर सकें। आखिर इस आकांक्षा का क्या अर्थ है कि आप दूसरों के बच्चों के हिस्से की जायदाद भी अपने नाम करवाने को राजी हो गई ! जबकि उन्हें खुद कहना चाहिए कि जायदाद के जितने भी हिस्सेदार हैं सबके नाम हो, सिर्फ उनके नाम ही क्यों ? कृष्णा जी लिखती हैं–

''मुझे रुपये का लालच नहीं था, लेकिन जिस आधार व विश्वास पर हमारे रिश्ते की नींव थी, वह हिल गई। बाद में श्रीकान्तजी ने कहा कि पत्नी का चौथा हिस्सा तो मैं तुम्हें दूँगा, जो कि वे नहीं दे सके। देना ही नहीं चाहा।''[55]

कृष्णा जी को भले रुपये का लालच नहीं था, लेकिन किसी की भी सम्पत्ति कानूनी रूप से पूरी आपके नाम हो जाए ये भी तो नहीं ठीक था, न सामाजिक रूप से न कानून की नजर में। अपने सौतेले बच्चों का अपनी पागल माँ से मिलना कृष्णा अग्निहोत्री पसंद नहीं करतीं, जबकि अपने पूर्व पति की अस्वस्थता में अपनी सास के बुलाने पर भूतपूर्व ससुराल जाती हैं, अपने सारे फर्ज पूरे करती हैं–

''राजेन्द्र शुक्ला ने कानपुर जाते समय मुझे समझाया था। पिछले के मोह से तुम्हारा वर्तमान बिगड़ जाएगा, परन्तु निहार के पिता की पुकार मैं नहीं ठुकरा सकती थी।..... अग्निहोत्री जी के सामने बैठी मैं रोती ही रही। न चाह कर भी पीड़ित थी। उनके सिर पर हाथ रखा, पैर छुए व एक परिभाषित दर्द लिए बैठी।''[56]

यह एक तरह का विशेषधिकार ही तो है कि आप भी अपनी सुविधा की दृष्टि से अपने लिए नियम बनाती हैं। ''मैं भी जलन–ईर्ष्या से परे नहीं। सरला के प्रति कर्त्तव्य करते रहना मुझे अच्छा लगता था, पर श्रीकान्त का तनिक भी कोई वाक्य यदि उसके प्रति लगाव का होता तो मैं जल–भुन जाती। आज उस बात के

---

55 कृष्णा अग्निहोत्री,लगता नहीं है दिल मेरा, पृ0– 259

56 वही, पृ0– 267–268

लिए मन धिक्कारे भी तो क्या। यदि मैं किसी को भी तन–मन से चाहूँगी तो यह जलन पुनः सताने लगेगी, जिस पर मेरा जोर नहीं।''[57]

कई जगह कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा में अन्तर्विरोधी बातें, अन्तर्विरोधी व्यवहार झलकते हैं। अपने पूर्व पति के प्रति कृष्णा अग्निहोत्री फर्ज निभाएँ, लगाव रखें क्योंकि वे उनकी बच्ची के पिता हैं। वहीं दूसरी ओर उनके दूसरे पति अपनी पागल पत्नी की देखभाल करें, लगाव रखें तो कृष्णा अग्निहोत्री को जलन–ईर्ष्या होती है, एक पागल स्त्री के प्रति। इसे यदि नितान्त स्वार्थ न कहा जाए तो आखिर क्या कहा जाए। दरअसल कृष्णा अग्निहोत्री ने सोचा कि मजिस्ट्रेट से विवाह करके उसकी पूरी जायदाद अपने नाम लिखवाकर वे आराम से अपना बुढ़ापा काटेंगी, किंतु ऐसा न हो सका। कृष्णा अग्निहोत्री के जीवन की विडम्बनात्मक त्रासदी में पुरुष सत्ता का तो हाथ होता ही है, किंतु इनका स्वयं का भी योगदान कम नहीं है। एक बार धोखा खाने के बाद ये संभल जातीं और स्वयं के बलबूते जीवन गुजारने का निश्चय करतीं तो एक बेहतर जिंदगी जी सकती थीं, किंतु ये दूसरों का सहारा ढूँढ़ती रहीं, स्वयं को अबला स्त्री मानती रहीं, अपनी महत्वाकांक्षा को दूसरों के द्वारा पूरा करने की चाह में कष्ट, धोखा, अपमान सहती रहीं।

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा उच्चशिक्षित, अपने समय की प्रगतिशील प्रसिद्ध लेखिका हैं, किंतु अपने व्यक्तिगत जीवन में वे सदा इज्जत एवं नैतिकता के नाम पर पति की ऐयाशियों को सहती रहीं, उन्हें बढ़ावा देती रहीं। आर्थिक आत्मनिर्भर एवं लेखिका होकर भी गलत बातों का विरोध न करना उन्हें बढ़ावा देना ही साबित होता है। पति अपनी हरकतों से सिविल–सर्विस जैसी नौकरी गवाँ देते हैं, शायद उन्हें पहले ही रोका जाता तो ऐसी स्थिति न पैदा होने पाती। यहाँ तक कि एक बार इनके पति इनके प्रति दुर्भावना रखते हुए इन्हें पत्र में भीख माँगने, अपने बच्चों के बेयरा बनकर होटल में जूठन खाने, बर्तन माँजने और बच्चियों को कोठों पर बैठने का अभिशाप देते हैं, तथा घर वापस न आने एवं इनके हाथ का खाना न खाने की घोषणा करते हैं। इसके जवाब में चन्द्रकिरण सौनरेक्सा लिखती हैं–

---

[57] वही, पृ0– 268

''अगर आप कहीं और ठहरे, तो आपकी और बाबूजी की बदनामी ज्यादा होगी, मेरी कम; खाना न मेरे हाथ का खाना; कुंतल बड़ी हो गई है बना दिया करेगी। बच्चे क्या बनेंगे, क्या नहीं, इस पर अभी से क्या भविष्यवाणी करनी ! वक्त ने खुद ही सिद्ध कर देना है। पर हाँ, इतना जरुर कहूँगी, कोई बाप वह सपने में भी, बुरी से बुरी औलाद के लिए नहीं सोच सकता, जो आपने लिख दिया।''[58]

जो बाप अपनी बेटी को कोठे पर बैठने का अभिशाप दे रहा है, उसे ही चन्द्रकिरण उन्हीं बेटियों के हाथ का बना खाना खाने की सलाह दे रही हैं, इज्जत और मर्यादा के नाम पर। इसे ही रोहिणी अग्रवाल 'पतिव्रता पत्नी का आत्मघाती जीवन' कहती हैं। आगे वे लिखती हैं–

''लेखन उनकी पहली प्राथमिकता कभी नहीं बन पाया। इसलिए पातिव्रत्य के बावजूद जहाँ वे संतान के भविष्य के संदर्भ में पति के विपरीत जाकर या छुपकर स्वतंत्र निर्णय लेती हैं, वहीं अपने लेखन के प्रकाशन के संदर्भ में निरीह आत्मसमर्पण करती रही हैं। यह एक समर्थ जुझारु स्त्री के क्रमिक और अनिवार्य विघटन की कथा नहीं तो और क्या है। उल्लेखनीय है कि यह स्त्री चन्द्रकिरण सौनरेक्सा और उनकी पीढ़ी की स्त्री के साथ समाप्त नहीं हुई है, अपनी बेटियों की जिन्दगी में घुल–मिलकर स्त्री को अदृश्य रहने और हाशिए पर जीने का संस्कार आज भी दे रही है। इसलिए स्त्री विमर्श पर होने वाली ताजातरीन बहसें जब स्त्री को पुरुष से अधिक सशक्त साबित कर 'पुरुष की बेचारगी बनाम स्त्री की उच्श्रृंखलता' का राग छेड़ने लगती हैं, तब लगता है कि 'चन्द्रकिरण सौनरेक्साओं' को तितली 'मालती' बनाने वाले स्त्री द्वेष से बचाने के लिए अभी लम्बी जंग लड़नी शेष है।''[59]

प्रभा खेतान डॉ0 सर्राफ की प्रेमिका के रूप में अपने लिए एक अन्धकारपूर्ण प्रेम पथ चुनती हैं। यह उनका अपना स्वतंत्र निर्णय था, इस राह में आने वाली बाधाओं का डट कर सामना करने का माद्दा था। किन्तु आगे चलकर उनके

---

58 चन्द्रकिरण सौनरेक्सा 'पिंजरे की मैना' पृ0– 340

59 रोहिणी अग्रवाल 'साहित्य की जमीन पर स्त्री मन के उच्छ्वास' पृ0– 82–83

जीवन का सबसे बड़ा दुख यह है कि वो पूर्व विवाहित डॉ0 सर्राफ की पत्नी नहीं बन सकीं। अपने हर निर्णय में सामाजिक मान्यताओं की परवाह नहीं करने वाली प्रभा खेतान समाज द्वारा न स्वीकार किये जाने पर दुखी होती हैं, रोती हैं, डॉ0 सर्राफ से कहती हैं कि इस सम्बन्ध में उनकी आहुति हुई है–

'' ''आहुति.... आहुति.... दिन–रात तुम्हारी एक ही रट है। ऐसा क्या अनर्थ हो गया तुम्हारी जिंदगी में ? क्या मेरे कारण तुम्हारा नुकसान ही हुआ, कोई फायदा नहीं हुआ ? क्या मुझसे तुमको दुख ही मिला, कभी कोई सुख नहीं मिला?

''क्यों नहीं सुख भी मिला है।'' बात खत्म करने के लिए मैंने कह तो दिया था लेकिन बाद में देर तक याद करने की कोशिश करती रही कि क्या मुझे कभी कोई सुख मिला भी ? याद नहीं आता कि प्यार और संतुष्टि के क्षण कभी दो दिन भी मेरे जीवन में स्थायी रहे हों। किसी दिन यदि मैं जरा खुश भी होती तब अमूमन कुछ ऐसा घटता, कुछ ऐसे ताने बोली कि मुझे वापस रोने का दौरा पड़ जाता, आँसुओं का सैलाब उमड़ पड़ता। परिस्थति पूरी तरह मुझ पर हावी थी, एक अवैध रिश्ते को जीकर दिखलाने के प्रयास का शायद यही हश्र होना था, इससे भिन्न और कुछ नहीं।''[60]

प्रभा खेतान की जिद है कि एक तरफ वो अपने अवैध रिश्ते को जीकर भी दिखायेंगी, और दूसरी तरफ वो समाज में इसकी स्वीकृति और सम्मान भी चाहती हैं, और ऐसा न होने पर गंभीर रूप से तनावग्रस्त रहती हैं। डॉ0 धर्मवीर काफी आगे बढ़ते हुए प्रभा खेतान के बारे में लिखते हैं–

''नारी यह भूल जाये कि व्यभिचारिणी होने पर उसे सम्मान मिलेगा। तब उसका उपभोग ही होगा। विवाह और परिवार में वह गलत पक्ष लेकर आगे नहीं बढ़ सकती। अपने विकासमान चिंतन में उसे थोड़ी–बहुत जगह त्याग और बलिदान के लिए भी देनी पड़ेगी।..... सदाचार मुनष्य का ही गुण है– पुरुष का भी, स्त्री का भी।''[61]

---

60 प्रभा खेतान 'अन्या से अनन्या' पृ0–

61 डॉ0 धर्मवीर, तीन द्विज हिन्दू स्त्री लिंगों का चिंतन, पृ0– 84

प्रभा खेतान को व्यभिचारिणी नहीं कहा जा सकता, उन्होंने एक निष्ठता के साथ एक नयी राह चुनी, एक कठिन निर्णय लिया, उनकी कमजोरी यही है कि प्रेम का खुमार उतरने के बाद वो अपने रिश्ते को सामाजिक मान्यताओं के अनुसार परिभाषित करने लगती हैं, और इस आधार पर अपने निर्णय को कमजोर सिद्ध करती हैं।

मैत्रेयी पुष्पा 'कस्तूरी कुंडली बसै' और 'गुड़िया भीतर गुड़िया' में एक बोल्ड स्त्री के रूप में उभर कर आती हैं। आत्मकथा के प्रथम भाग में वह अपनी माँ की तरह पढ़–लिखकर आत्मनिर्भर बनने के विपरीत हर रीति–रिवाजों का पालन करने वाली एक गृहस्थिन बनना चाहती हैं, जिसके लिए पति के घर एवं चरणों में ही सुख–सुरक्षा है। अपने जीवन के एकाध साहसिक प्रसंगों को छोड़कर मैत्रेयी पुष्पा सिर्फ प्रेम कविता और दैहिक जरुरतों के रूप में मुखर होने के अलावा नितान्त घरेलू और सामाजिक मान्यताओं को जीने की लालसा रखने वाली सरल युवती हैं। अपने भीतर के 'बोल्डनेस' से विवाह की प्रथम रात्रि में पति को आश्चर्यचकित करती हैं। किंतु वही मैत्रेयी विवाह के बाद पितृसत्ता का सीधे–सीधे मुकाबला करने की हिम्मत न रखकर स्त्रियों की विशेष रणनीति 'त्रिया चरित्र' का सहारा लेती हैं। आत्मकथा में कहीं–कहीं मैत्रेयी की सारी निर्भीकता स्वाभाविक न लगकर स्त्री विमर्श के सिद्धान्तों से संचालित ज्यादा लगती है, ऊपर से ओढ़ी हुई लगती है। रोहिणी अग्रवाल इसका सटीक विश्लेषण करती हैं–

''विद्रोह और बोल्डनेस के घालमेल से तैयार 'बिकाऊ' स्त्री विमर्श जिसके इस ओर परम्पराओं को तोड़ने का दर्प और खुल्लम खुल्ला वर्जित फल चखने का आनन्द है तो दूसरी ओर ' उन अंतरंग और लगभग अनछुए अकथनीय प्रसंगों' के 'अन्वेषण और स्वीकृति' के सहारे साहसिक तत्वों से भरपूर (क्या इसलिए श्रेष्ठ मानी गयी ?) मराठी और उर्दू की आत्मकथाओं की पाँत में बैठने का गौरव भी। यों आत्मकथा की तथ्यपरकता और प्रामाणिकता पर उँगली उठाना ठीक नहीं। न ही स्त्री की उद्दाम कामेच्छा को गलत ठहराने का पोंगापंथी हठ। लेकिन बिना किसी सामाजिक सरोकार और सुस्पष्ट उद्देश्य के उनका वर्णन और महिमामंडन ही कहाँ तक उचित है ? बेशक अपनी देह और इंद्रियों, भावना और लालसा को

लेकर निर्णय लेने की स्वतंत्रता स्त्री का बुनियादी हक है, लेकिन उसे सही पर्सपेक्टिव देना क्या लेखक का नैतिक दायित्व नहीं ? बेशक विवाह संस्था का अमानुषिक रूप स्त्री को बगावत के लिए प्रेरित करता है, लेकिन विद्रोह की हड़बड़ी में निर्माण की सम्भावनाओं और विकल्पों पर विचार की जरूरत को भी नजरअंदाज किया जा सकता।''[62]

मन्नू भंडारी राजेन्द्र यादव के साथ एक लम्बा तनावपूर्ण वैवाहिक जीवन गुजारती हैं, इसमें राजेन्द्र यादव के प्रति मन्नू भंडारी के प्रेम के साथ उनके सुधरने की आशा और सबसे बड़ी बात कि पिता के विरुद्ध जाकर लिए गए अपने प्रेम विवाह के निर्णय को सही साबित करने की जिद। यही जिद मन्नू जी को एक तनाव भरे रिश्ते को लम्बे समय तक खिंचे जाने के लिए मजबूर करती है। राजेन्द्र यादव लिखते हैं––

''इधर हिन्दी में तीन आत्मकथाओं को लेकर काफी हंगामा है। एक तो 'अन्या से अनन्या' है ही, दूसरी है मन्नू भंडारी की एक कहानी यह भी, तीसरी है मैत्रेयी पुष्पा की गुड़िया भीतर गुड़िया। तीनों को एक सूत्र में समझना चाहें तो कहेंगे, अन्या से अनन्या में नायिका की सारी तकलीफ है कि वह प्रेमिका है, पत्नी नहीं बन पाई। मन्नू पत्नी है प्रेमिका नहीं बन सकी। गुड़िया में कौशल यह है कि मैत्रेयी स्वतंत्र दोस्त भी है, पत्नी भी। मैत्रेयी मानती है कि जिसे हम हिकारत से 'तिरिया चरित्र' कहते हैं वह वस्तुतः पुरुषों की खूँखार दुनिया में अपने को बचाये रखने की कला या स्त्रीवादी रणनीति है।''[63]

मन्नू भंडारी अपने पति के कई प्रेम सम्बन्धों (जिसमें दैहिक सम्बन्ध भी शामिल है) से जीवन भर दुखी रहीं और इसी वजह से उनका सम्बन्ध टूट जाता है। किंतु रमणिका गुप्ता अपने दाम्पत्येतर सम्बन्धों को अपनी देह पर अधिकार, अपनी इच्छा, अपनी दैहिक भूख और प्रेम मानती हैं। प्रश्न ये उठता है कि 'स्त्री का अपनी देह पर अधिकार' का स्वरुप क्या है ? क्या दाम्पत्येतर सम्बन्धों में स्त्री देह का शोषण नहीं होता है ? यदि शोषण वहाँ भी बदस्तूर जारी है तो फिर ये

---

62 रोहिणी अग्रवाल 'साहित्य की जमीन और स्त्री मन के उच्छ्वास' पृ0– 112–113

63 राजेन्द्र यादव, 'हंस' नवम्बर 2008, संपा– राजेन्द्र यादव, पृ0– 5 (भूमिका)

स्त्री का अपनी देह पर अधिकार कैसे साबित हो सकता है, क्योंकि स्त्री तो वहाँ भी शोषित हो रही है, पुरुष द्वारा उसका, उसकी देह का फायदा उठाया जा रहा है और स्त्री इसे अपनी स्वतंत्रता मानकर मुदित है। रमणिका गुप्ता पति द्वारा अपनी वफादारी पर शक किए जाने के बाद उस शक को सही साबित करने की कोशिश में जी–जान से लग जाती हैं, अपने स्त्री अधिकार की चेतना से युक्त होकर। अपनी विभिन्न प्रेम एवं देह सुख की यात्राओं के बारे में वे लिखती हैं–

''इसके बाद फरीदकोट में मैंने जो यात्रा शुरू की, उसमें कई ऐसी पगडंडियाँ थीं, जो अन्धी गलियों में बदल गयीं। कुछ तो दूर तक जाकर चौराहे बन गयीं और कुछ कई तंग गलियों का मुहाना। यह यात्रा लक्ष्यहीन थी या लक्ष्य की खोज, मैं नहीं जानती। उस समय मुझे अपना लक्ष्य ही नहीं मालूम था। एक बंधन जिसे मैंने स्वयं गले में डाला था, उससे मुक्ति की हटपटाहट में मेरे कदम कभी आगे बढ़ते, कभी पीछे हटते, स्वच्छंदता की खोज या बंधनों से उठे पाँव मुझे टिकने नहीं दे रहे थे। प्रचलित रास्तों से भिन्न था यह रास्ता, इसिलए झाड़–झंकार से लहूलुहान भी हो रही थी मैं। हर रास्ता प्रेम का रास्ता नजर आता था, पर प्रेम नहीं था वहाँ। बस एक ललक थी।''[64]

दरअसल रमणिका गुप्ता मानसिक बीमारी की हद तक पहुँच चुके 'देह भाव' को मानसिक विकृति नहीं स्वीकार कर पातीं और उसे प्रेम और स्त्री अधिकारों का नाम देती हैं, जबकि वो खुद स्वीकार करती हैं कि उन सम्बन्धों में कहीं प्रेम नहीं था, अतः नहीं मिलता था। लेखिका इतनी भोली हैं कि मात्र दैहिक तृप्ति के आमंत्रण को प्रेम समझने की भूल कर बैठती हैं।

''मैं नौकरी करने के काबिल तो हो गई थी, पर मैंने केवल तीन महीने छोड़कर कभी नौकरी नहीं की थी। अपनी जरूरतें पूरी करने के लिए कई प्रेमियों से मेरे रिश्ते बनते– बगड़ते रहे। मेरी यह यात्रा भटकाव की यात्रा थी।''[65]

---

64 रमणिका गुप्ता 'आपहुदरी एक जिद्दी लड़की की आत्मकथा' पृ0– 345

65 वही, पृ0– 345

कई जगह लेखिका ने स्वीकार किया है कि देह की भूख जगने पर वह भक्ष्य–अभक्ष्य कुछ भी सामान्य भाव से खा लेती थीं, फिर इनमें प्रेम कहाँ रहा ? यहाँ तो एकमात्र भूख ही प्रधान हो गयी। डॉ0 धर्मवीर लिखते हैं – ''उन्होंने विवाह जैसी महान संस्था को भी अपनी हिप्पोक्रेसी से नहीं बख्शा है, जीवन के हर क्षेत्र में प्रच्छन्नता का साम्राज्य कायम कर दिया है। दूसरी तरफ यूरोप और अन्य सभ्य देश हैं। वहाँ पर पुरुष से लैगिंग सम्बन्ध बनाने के लिए अपने पति से तलाक लेने की जरुरत नहीं है।''[66]

समाज को सुचारु रूप से चलाने के लिए नियमों एवं कानूनों की आवश्यकता होती है। इससे समाज में अनुशासन पैदा होता है। बिना अनुशासन के समाज मनुष्यों की भीड़ के अलावा कुछ नहीं है। यह अनुशासन जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से होते हुए यौन आचरण पर भी लागू होता है, यह स्त्री–पुरुष दोनों पर समान रूप से लागू होता है। नैतिकता जीवन को संतुलित और मर्यादित करने के लिए अति आवश्यक है तथा व्यक्तिगत हितों एवं सुखों के लिए इसकी मनमानी परिभाषा नहीं दी जा सकती। स्वतंत्रता एवं उच्श्रृंखलता दोनों एक दूसरे के पर्याय कभी नहीं हो सकते, इस बात को समझने की आवश्यकता है।

कौसल्या बैसंत्री दलित परिवार में आजादी से पूर्व के भारत में उच्चशिक्षित महिला हैं। इनके दाम्पत्य जीवन की मूल समस्या यही होती है कि पति इन्हें पैसे नहीं देता, बाहर जाकर कमाकर लाने और खाने की बात करता है तथा मार पीट, गाली–गलौज करता है। पति द्वारा मारपीट करना अत्यन्त गलत बात है और यह घरेलू हिंसा के अपराध में आता है। किन्तु प्रश्न यह है कि लेखिका इतनी पढ़ी–लिखी होकर, नौकरी करने में पूरी तरह समर्थ होकर भी नौकरी क्यों नहीं करतीं, अपने पैरों पर खड़े होने, आत्मनिर्भर बनने की कोशिश क्यों नहीं करतीं ? इनकी माँ और बहनें भी सलाह देती हैं कि अगर पति अच्छा नहीं है तो उसे छोड़ दो, किन्तु ये बच्चे छोटे होने और नौकरी न होने की बात कहकर पति को नहीं छोड़तीं। अगर घर में आर्थिक समस्या है और पति–पत्नी दोनों नौकरी करने में

---

[66] डॉ0 धर्मवीर 'तीन द्विज हिन्दू स्त्री लिंगों का चिंतन' पृ0– 40

समर्थ हैं तो दोनों को नौकरी द्वारा आर्थिक जिम्मेदारियों को मिल बाँटकर उठाना चाहिए। किंतु लेखिका ऐसा नहीं करतीं और कहती हैं कि –

''शादी के बाद पत्नी को पालने की जिम्मेदारी पति की होती है। मैं भी यहाँ मुफ्त में तो नहीं खाती। यहाँ काम करती हूँ। तब कहता, बाहर जाकर काम करो और खाओ।''[67]

लेखिका के दो लड़के पढ़–लिखकर अच्छे ओहदों पर नौकरी करने दिल्ली से बाहर जाते हैं। जाहिर सी बात होगी कि उन्हें उनके पिता ने ही पढ़ाया–लिखाया होगा, लेखिका एक जगह उल्लेख करती हैं कि उनके पति के तीन भाई–बहन भी थे, और उनके पति उन्हें अपने साथ बनारस में रखने लगे थे, ऐसे में उनके शादी–ब्याह का भी खर्च होगा। लेखिका के सामने खुद अपनी आजी एवं माँ के स्वाभिमान एवं संघर्ष का उदाहरण है, फिर भी वो पूर्णतः पति पर निर्भर रहना चाहती हैं, बजाय स्वाभिमान के साथ नौकरी करने के। यह तथ्य लेखिका की आत्मकथा में बहुत बड़ी कमी के रूप में उभर कर आता है और उनके व्यक्तित्व को कमजोर साबित करता है।

अपनी आत्मकथाओं में लेखिकाएँ अपने संघर्षशील एवं कमजोर दोनों व्यक्तित्व के साथ उपस्थित हैं। कहीं वे उन्हें अपनाती हैं तो कहीं उन्हें 'जस्टीफाई' करती नजर आती हैं। मजबूती और कमजोरी, व्यक्तित्व के दोनों पक्षों के साथ संघर्ष करतीं ये स्त्रियाँ स्वयं के गढ़े जाने की प्रक्रिया के साथ अपनी सम्पूर्णता में उभर कर आती हैं।

4. पैतृक सम्पत्ति में भागीदारी एवं सशक्तिकरण का प्रश्न

स्त्री के शोषण के सबसे बड़े कारणों में से एक है उसका पैतृक सम्पत्ति के अधिकार से वंचित होना। आर्थिक रूप से अधिकार विहीनता की यह स्थिति उसे जीवन में आने वाली परेशानियों के समक्ष निहत्था खड़ा करती है। स्त्री

---

[67] कौसल्य बैसंत्री 'दोहरा अभिशाप' पृ0– 106

को पैतृक सम्पत्ति में हिस्सेदार नहीं माना गया। ले–देकर उनके भरण–पोषण एवं वैवाहिक जिम्मेदारियों के निर्वहन तक की व्यवस्था ही प्रमुख रही। स्त्री के पास उसकी सम्पत्ति के नाम पर मुख्यतः गहने–कपड़े ही होते हैं जो वक्त–जरूरत अपर्याप्त सिद्ध होते हैं। यहाँ तक कि जीवन की छोटी–मोटी जरूरतों के वक्त परिवार के पुरुषों द्वारा उनका उपयोग कर लिया जाता है। अन्ततः स्त्री आर्थिक रूप से पति (पुरुष) पर निर्भर रहने के लिए विवश हो जाती है। कहीं स्त्री के नाम पर सम्पत्ति, जमीन की रजिस्ट्री होती भी है तो उसके पीछे पुरुष सत्ता की चालाकी एवं चोरी छिपी होती है। अरुण कुमार तिवारी लिखते हैं –''व्यक्तिगत सम्पत्ति को महत्त्व देने वाले समाज में पिता और पति की सम्पत्ति में अधिकार स्त्री की आत्मनिर्भरता की आधारशिला है। लेकिन यह आधारशिला स्त्री आज तक नहीं रख सकी है। इस मामले में न सिर्फ कानूनी विसंगतियाँ हैं, बल्कि सामाजिक कट्टरता और दोगलापन भी है। ऐसा नहीं है कि स्त्री के नाम से सम्पत्तियाँ नहीं हैं या वे खरीदे व बेची जाती हैं। लेकिन ऐसा तभी किया जाता है, जब पति या पिता को किसी तरह की बेईमानी या चोरी करनी होती है। ...लेकिन सामान्य तौर पर पिता की सम्पत्ति में बेटी को हक नहीं दिया जाता।''[68]

दरअसल कानूनी विसंगतियों ने भी स्त्री को सम्पत्ति के अधिकार से वंचित रखने में एक सकारात्मक भूमिका निभाई है। इन विसंगतियों के आधार पर ही स्त्री के सम्पत्ति संबंधी मामलों में कानून की मनमानी व्याख्या की जाती है, जिसकी चर्चा करते हुए अरूण प्रकाश लिखते हैं –

''पिता की सम्पत्ति में स्त्री के हक के बारे में जबरदस्त कानूनी विसंगति भी है। हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम के अनुसार बेटे और बेटी के पिता की सम्पत्ति में एक साथ हक मिलेगा। ...जाहिर–सी बात है कि हिन्दू विधि में 1956 के पहले यह स्थिति नहीं थी और यह सामाजिक सुधार के बढ़ते दबाव का परिणाम है। लेकिन कई राज्यों में भूमि कानूनों पर हिन्दू समाज के पुराने उत्तराधिकार नियम हावी हैं। ...हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम में तो स्त्री सम्पत्ति

[68] अरूण कुमार त्रिपाठी, 'स्त्री के लिए जगह', संपा.–राजकिशोर, पृ. 94

की पूर्ण स्वामिनी है, पर भूमि कानूनों में ऐसा नहीं है। ...इस तरह बेटी सिर्फ पिता की जायदाद पर दावा कर सकती है, न कि उसकी जमीन पर। ग्रामीण समाज जमीन पर दावा यह कह कर देने से इंकार करती है कि इससे जमीन के टुकड़े होंगे व उत्पादकता घटेगी और गाँव में बाहरी व्यक्ति (दामाद) के आने से तनाव बढ़ेगा।''[69]

सामाजिक, धार्मिक मान्यतानुसार बेटियों को पराया धन माना जाता है। उसे किसी दूसरे के घर जाना है। अतः उन्हें सम्पत्ति में हिस्सा देने पर उस पर दूसरे का अधिकार हो जाएगा। बाप–दादा की जमीन गैर वंश–खानदान में चली जाएगी। ऐसी सोच परिवारों में व्याप्त है। पितृसत्तात्मक समाज में वंश पिता के नाम से चलता है। अतः जमीन–जायदाद भी पीढ़ी–दर–पीढ़ी पुत्रों को हस्तांतरित होती हैं, पुत्रियों को उससे वंचित रखा जाता है। चूँकि जमीन अचल सम्पत्ति है, अतः पुत्री को हिस्सा देने से गाँव में बाहर का व्यक्ति आकर रहेगा जिससे गाँव की व्यवस्था में, सम्बन्धों के स्वरूप में, गड़बड़ी उत्पन्न होगी। स्त्री का जीवन दो परिवारों के साथ दो गाँव एवं समाजों के साथ गहराई से जुड़ा होता है, अपने जीवन का एक हिस्सा वह पिता के घर में गुजारती है तो दूसरापति के घर में। इस वजह से भी स्त्री के मामले में सम्पत्ति संबंधी विवाद उत्पन्न होते हैं।

''दरअसल, यह विवाद बहुत पेचीदा है कि स्त्री को बाप की जायदाद में हक मिले या पति के या दोनों के। अगर स्त्री को पिता की सभी सम्पत्तियों में हक देना उचित है, तो जमीन में क्यों नहीं ? इस तर्क में कोई दम नहीं लगता कि इससे गाँव में बाहरी व्यक्ति आकर बसेगा और गाँव की व्यवस्था में गड़बड़ी पैदा होगी। रही जमीन के बँटने और उत्पादकता घटने की बात, तो जमीन भाई के रहने पर भी बँटती है। तब क्या उत्पादकता बढ़ जाती है ? ये सब स्त्री अधिकारों के बारे में उसी तरह के पुरुषवादी अड़ंगे हैं।''[70]

---

[69] अरूण कुमार त्रिपाठी, 'स्त्री के लिए जगह', संपा.–राजकिशोर, पृ.94–95

[70] अरूण कुमार त्रिपाठी, 'स्त्री के लिए जगह', संपा.–राजकिशोर, पृ.95

इतना तो स्पष्ट है कि कानूनन अधिकार होने के बावजूद पुरुष सत्ता स्त्री को सम्पत्ति में कोई अधिकार नहीं देना चाहती। यदि कोई स्त्री पैतृक सम्पत्ति में अधिकार चाहती है तो उसे तमाम परेशानियों का सामना करना पड़ता है। स्त्री आत्मकथाकारों में कृष्णा अग्निहोत्री और मैत्रेयी पुष्पा पैतृक सम्पत्ति में अधिकार एवं स्वामित्व को लेकर लम्बा संघर्ष करती हैं।

कृष्णा अग्निहोत्री का विवाह काफी धूमधाम से होता है। इनके पति आई.पी.एस. अधिकारी थे किंतु अपनी अय्याश आदतों के कारण नौकरी गवाँ बैठते हैं। कृष्णा अग्निहोत्री पहले भी पति द्वारा घरेलू हिंसा का शिकार होती रहीं, नौकरी चले जाने के बाद तो पति की हिंसा में और भी इजाफा हो जाता है – ''एक साथ हरामजादी – कुतिया, कमीनी, नीच वेश्या, रंडी, निकम्मी बेवकूफ से होते वे मुझे मारने व दबोचने को जैसे ही तैयार होते, मैं दरवाजा बन्द कर लेती।''[71]

घरेलू हिंसा से त्रस्त हो कृष्णा अग्निहोत्री अपने जेवर लेकर हमेशा के लिए ससुराल छोड़कर पिता के घर आ जाती हैं। कृष्णा ससुराल छोड़कर मायके आ जाती हैं किंतु उनके पति भी वहीं आ जाते हैं। कृष्णा अग्निहोत्री के पिता इनके भविष्य की चिंता करते हुए दामाद को जायदाद में हिस्सा देने की बात करते हैं – ''बहुत सोच–समझकर पिताजी ने मेरे ही सामने माँ से कहा कि, 'मैं अग्निहोत्री जी को सिनेमा का हिस्सा दे देता हूँ ताकि उसे काम में भी मदद मिलेगी और कृष्णा की देखरेख हो जाएगी।' मेरी छोटी–सी व्यावहारिक बुद्धि का प्रयोग कर मैंने सारे परिवार का हित ध्यान में रख पिता से कहा, 'आप उनसे उनके हिस्से के रूपे ले लें और काम भी वे करें, पर सिनेमा मेरे नाम रखें ताकि अग्निहोत्री कुछ गड़बड़ न कर सके। 'ऐसा संभव नहीं', पिता बोले।

'क्यों नहीं ? आपने वीणा भाभी के नाम भी तो सिनेमा कर दिया है।'

'वह तो इनकम टैक्स बचाने की तरकीब है।'

---

[71] कृष्णा अग्निहोत्री, 'लगता नहीं है मेरा दिल, पृ.

'पर मेरी सुरक्षा हो जाएगी।'

वे निर्णय लेते, इसके पहले ही मेरी माँ ने स्पष्ट कह दिया, 'मैं नहीं चाहती कि मेरे बेटे के हिस्सों में कोई भी बाहर का व्यक्ति भागीदार हो, बेटी भी नहीं।''[72]

जायदाद में हिस्सा माँगने वाली बेटी माँ–बाप के लिए भी असह्य हो जाती है। उसे प्रताड़ना, उपेक्षा द्वारा किसी भी प्रकार वापस ससुराल भेजने की कोशिश जारी हो जाती है। कृष्णा अग्निहोत्री के साथ भी यही सब हुआ किंतु अपने सशक्तिकरण के प्रति प्रतिबद्ध कृष्णा जी अपना संकल्प सबको मजबूती से सुनाती हैं –

'' 'मैं वहाँ नहीं जाऊँगी' धीर–गंभीर व तेज आवाज में उत्तर देने वाली मुद्रामें उन्होंने घूरा। यह स्त्री उनकी सीधी, सिर झुका कर डाँट व उपदेश सहने वाली लड़की नहीं थी, यह घूँघट काढ़े ससुराल में डाँट–मार–गाली खानेवाली सीधी लड़की नहीं थी, न जाने कब से उसके भीतर एक साहसी स्त्री जन्म ले रही थी। मुझे तो लगता है कि मैं स्वयं ही ध्वस्त मिट्टी से प्रारब्ध द्वारा एक नई स्त्री को निर्मित करते देख रही थी।''[73]

विवाह के बाद माता–पिता अपना फर्ज पूरा करके एक प्रकार बेटी से भी संबंध समाप्त कर लेते हैं। जो थोड़ा बहुत रिश्ते में सम्मान बचा होता है वह ससुराल त्यागकर मायके में आने पर, रहने पर पूरी तरह खत्म हो जाता है। बेटी अपने ही माँ–बाप–भाई की आँखों में खटकने लगती है। कृष्णा अग्निहोत्री को अलग रहने के लिए कहा जाता है, वह घर के ऊपर वाले हिस्से में रहने लगती हैं, पिता द्वारा दिये जाने वाले 100 रुपये में गुजारा करती हैं, कभी–कभी अपनी बेटी के साथ कुत्ते को दिये जाने वाले बिस्किट या चने–मुरमुरे खाकर गुजारा करती हैं। एक ही घर में रहते हुए संबंध परायों से भी पराये हो जाते हैं –

---

[72] कृष्णा अग्निहोत्री, 'लगता नहीं है मेरा दिल, पृ.179–80

[73] कृष्णा अग्निहोत्री, 'लगता नहीं है मेरा दिल, पृ.181–182

''मैं कभी–कभी अपनी सब्जी–रोटी लेकर नीचे माँ के रसोईघर में चली जाती ताकि माँ के साथ खाना खा सकूँ। कैसी बीतती थी एक बेटी पर, जब मैं रूखी–सूखी रोटी खाती थी और माँ–भाभी दही, दो–दो सब्जी खाती थीं। पता नहीं क्यों माँ भी एक–दो दिन बाद मुझे नीचे आते देख खुश नहीं होती थीं।''[74]

कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा का यह अंश परिवार में बेटी की स्थिति को कटु यथार्थवादी तरीके से पेश करता है। कृष्णा अग्निहोत्री के लिए धीरे–धीरे परिस्थितियों को असह्य बनाया जा रहा था, व्यवहार में दिनों–दिन तल्खी बढ़ाई जा रही थी जिससे वो मायका छोड़ दें, एवं सम्पत्ति बच जाये, बेटी को न देनी पड़े –

''हरी को मेरा घर पर रहना उचित नहीं लग रहा था। रोज ही वह दुहरा देता है, 'शादी के बाद इनका घर यह है ही नहीं, क्यों रहती हैं यहाँ ये।'

पिताजी उत्तर देते हैं, 'कहाँ ढकेल दूँ ?''[75]

माता–पिता तो एक बारगी बेटी का मायके में रहना स्वीकार भी कर लेते हैं, किंतु भाई शायद ही स्वीकार कर पाता हो। बाप के बाद पूरे जायदाद पर भाई का हक होता है और भाई को बहन अपनी सम्पत्ति के हिस्सेदार के रूप में खटकने लगती है –

''तेज पानी की बारिश में मेरे भाई ने चीखकर मुझसे कहा,

'तुम इस घर में नहीं रह सकती।'

'क्यों नहीं रह सकती ? मैं तो यहीं रहूँगी।

x x x

'देखता हूँ कैसे रहती हो ?

---

74 कृष्णा अग्निहोत्री, 'लगता नहीं है मेरा दिल, पृ.181

75 कृष्णा अग्निहोत्री, 'लगता नहीं है दिल मेरा, पृ.191

लेकिन हरी दौड़ता सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर पहुँचा और मेरी (टीन की) पेटी व बिस्तर नीचे बरांडे में भरे पानी में फेंककर कहा, 'निकल जा कमीनी, कुत्ती, हरामजादी ! तेरी जैसी औरत हमारे घर में नहीं रहनी चाहिए, जो अपने ससुराल को छोड़ आई है' ।''[76]

पितृसत्तात्मक मूल्यों से संचालित समाज में स्त्री के लिए कोई अपना नहीं है, कोई रिश्ता भी नहीं है। जो रिश्ते बनाये गए हैं, स्त्री के प्रति जो बड़ी–बड़ी आदर्शवादी मान्यताओं का उदाहरण दिया जाता है, स्त्री अधिकारों की बात पर सभी का असली चेहरा सामने आ जाता है। कृष्णा अग्निहोत्री को दी जाने वाली सजा का एकमात्र कारण यही था कि वो घरेलू हिंसा बर्दाश्त नहीं करतीं, सम्मान से जीने के लिए मायके के मकान पर अपना अधिकार नहीं छोड़तीं, संघर्ष कर आत्मनिर्भर बनने की कोशिश करती हैं। इन सब बातों को लेकर कृष्णा अग्निहोत्री के भीतर द्वन्द्व चलता है। वे अपने विरुद्ध रचे जा रहे षड्यंत्र को अच्छी तरह समझती है –

''बात केवल जायदाद के अधिकार से वंचित करने की नहीं है। पूरे रूख की है जिसमें स्वार्थ की बू अधिक थी। मुझे दुश्मन मानकर मेरे प्रति परिवार वाले घृणा का व्यवहार करके उपहास उड़ाते, नुक्ता–चीनी होती व खंडवा के कई परिवारों में मुझे एक चरित्रहीन, भ्रष्ट स्त्री के रूप में प्रचारित किया जाता।''[77]

कृष्णा अग्निहोत्री के संकल्प को तोड़ने के अनेक प्रयत्न किये जाते हैं। यहाँ तक कि अपने ही परिवार द्वारा चरित्र हनन भी किया जाता है। किंतु वे अपनी सशक्ति की राहमें आगे बढ़ती हैं। कृष्णा अग्निहोत्री इन बाधाओं से नहीं घबराती हैं। वे कॉलेज में नौकरी करती हैं, एवं अपना अधिकार किसी भी कीमत पर नहीं छोड़तीं।

---

[76] कृष्णा अग्निहोत्री, 'लगता नहीं है दिल मेरा, पृ.224

[77] कृष्णा अग्निहोत्री, 'लगता नहीं है दिल मेरा, पृ .227

''स्त्री को मूलतः एक प्रकार की सम्पत्ति के रूप में देखा गया है और उसकी सुरक्षा, हस्तांतरण, सार्वजनिक प्रदर्शन और अभिवृद्धि (पैसे से पैसा जुड़ता है, स्त्री से कुछ आगे बढ़ता है), के प्रबन्ध किए गए। ...स्त्री का ही 'कन्यादान' होता है, स्त्री को ही पहले पिता, फिर पति और फिर पुत्र के संरक्षण में रखने की शिक्षा दी जाती है, स्त्री को ही पैतृक कुल की सम्पत्ति में उस सहदायिक अधिकार का भागी नहीं माना जाता जो पुत्र को जन्मना प्राप्त है।''[78]

मैत्रेयी पुष्पा अपने माता–पिता की इकलौती संतान होती हैं, बचपन में ही पिता की मृत्यु होने पर बूढ़े दादा और विधवा माँ के हाथों इनका लालन–पालन होता है। मैत्रेयी का कोई भाई नहीं है, सगे चाचा, ताऊ भी नहीं हैं, क्योंकि इनके पिता भी अपने पिता के इकलौते पुत्र थे। किंतु फिर भी सम्पत्ति के लिए, जमीन के लिए सगे ममेरें की तरफ से मैत्रेयी की जान को खतरा है। मैत्रेयी के दादा जी इस खतरे को भाँप लेते हैं –

''कस्तूरी, तुझे बुरा लगा होगा बेटी, मेरा इस तरह हक जताना अखरा होगा। पर मैं अब जब सब तरह से निहत्था हूँ, अपने पड़ोसियों से कहता हूँ – वे सबसे ज्यादा नजदीक हैं, मुझ बूढ़े की कब्र आँखें, मुँद जाएं, यह भी तो हो सकता है। हमारी लाली (मैत्रेयी) को बड़ा खतरा है। जल्लाद हेतराम उसका टेंटुआ दबा सकता है, नदी में बहा सकता है। मुझे डर लगता है, क्योंकि जायदाद का लोभ बड़ा बेहरम होता है।''[79]

मैत्रेयी पुष्पा की माँ विधवा हैं और मैत्रीयी छोटी हैं। किसी पुरुष वारिस के न होने से नाते–रिश्तेदार सभी स्त्रियों की सम्पत्ति पर अपना अधिकार जमाने लगते हैं, इसके लिए किसी प्रकार का अपराध करने से भी नहीं चूकते। कितनी विधवाओं को सम्पत्ति के लालचमें मार दिया जाता है, अथवा डायन करार दिया जाता है। सती प्रथा का एक कारण विधवाओं को सम्पत्ति के मार्ग से हटाना भी रहा है। दरअसल पितृसत्ता किसी भी तरह नहीं चाहती कि

---

78 मृणाल पाण्डे 'देह की राजनीति से देश की राजनीति तक', पृ. 43–44

79 मैत्रेयी पुष्पा ' कस्तूरी कुंडल बसै', पृ.29

स्त्रियाँ अचल सम्पत्ति की मालिक बनें। वह तरह–तरह के षड्यंत्र रचती है स्त्रियों को अधिकार विहीन करने के –

''मुझे बड़े भरोसेमन्द आदमी ने बताया है कि यह बद–फरोस मामा हमारी लाली को मारकर बहन को दूसरी जगह बिठाना चाहता है। बहन की रकम भरेगा और यहाँ खेती का कोई वारिस नहीं।''[80]

यदि किसी तरह सम्पत्ति के नाम हो जाए तब भी उसे बचाए रखने के लिए उसे सतत प्रयासरत रहना पड़ता है। मैत्रेयी पुष्पा की माँ जब मरती है तो मैत्रेयी माँ के मरने के बाद तुरंत अपने खेत बचाने की प्रक्रिया में लग जाती है, उनके पास शोक मनाने का भी समय नहीं रहता। जबकि इस बात के लिए उनकी बेटियाँ भी उलाहने देती हैं। जबकि मैत्रेयी वर्चस्ववाद के विरुद्ध हैं – ''मुझसे तुम्हारा खेत कोई नहीं छीन सकेगा, माँ। इस पर मेरा दखल है तो दावा भी मेरा ही होगा। मैं कट–मर जाऊँगी, पिता और पितामहों की विरासत को छीनने नहीं दूँगी।''

''मैं सफाई नहीं दे सकती बबली कि माँ के लिए रोने की औपचारिकता क्यों नहीं निभा पाई। बस, समझ ले कि मैं रोने बैठ जाती और वे (माँ के भतीजे) कचहरी में चढ़ आते। कहते उनकी बुआ का स्वर्गवास हुआ है, वह अपनी शादीशुदा बेटी के पास गई थीं, लाश के रूप में लौटकर आई हैं। बुआ का ख्याल हम रखते थे, लड़की तो मेहमान की तरह आती थी। हक हमारा है।''[81]

बेटियों, विधवाओं, कुल मिलाकर स्त्रियों की सम्पत्ति को हड़पने के हजार हथकण्डे हैं, पितृसत्ता के पास। कभी प्यार से, कभी लड़ाई से। किंतु मैत्रेयी एक सशक्त माँ कीसशक्त बेटी हैं। वह अपने अधिकारों से भली–भाँति अवगत हैं। पुरुष–सत्ता की सारी चालाकियों, षड्यंत्रों को समझते हुए वे अपने अधिकार के लिए विरोधियों की चाल को उन्हीं की भाषा में ध्वस्त करती हैं–

---

80 मैत्रेयी पुष्पा ' कस्तूरी कुंडल बसै', पृ.29

81 मैत्रेयी पुष्पा 'गुड़िया भीतर गुड़िया', पृ.127

''लड़कियों के सम्पत्ति के हक इसी तरह काटे जा रहे हैं। कचहरियों में न्याय नहीं कारोबार होता है, जो नए कानून (बेटी का हक बाप की सम्पत्ति में) को चुपचाप लील जाता है। मैं अपनी माँ की मौत पर बेहोश नहीं हुई, जोकि दुख के कारण मुझे हो जाना था, क्योंकि मेरे खूनी रिश्ते की आखिरी मंजिल ढह रही थी। मगर मैं गवाहों और झूठे एफिडेविटों की जालसाजियों के विरुद्ध चौकन्नी होकर देख रही थी। कहीं कोई साजिश घटित हो गई तो मैं माताजी के लिए झूठी पड़ जाऊँगी। तब फिर कोई बताए मुझे, जल्दी–जल्दी गोपनीय तरीके से अपने नाम के दाखिल खारिज के लिए अर्जी लिखने और प्रधान को देने के सिवा चारा क्या था ? ...मैं इस घर की लड़की और लड़का दोनों ...मैं इस घर के लिए चूल्हे से खेतों के चक तक फैली हुई ....सब कहीं मैं।''[82]

अपने पूर्वजों के खेत मैत्रेयी के लिए अपनी जड़ों की अमानत हैं। वह जड़ें जहाँ स्त्री का बचपन बीता, स्त्री जीवन भर उन जड़ों से दूर जाती है, किन्तु जड़ों से कटती नहीं। पैतृक सम्पत्ति में भागीदारी स्त्री की अस्मिता से जुड़ी है।

देवेन्द्र कुमार चौबे लिखते हैं, ''पितृसत्तात्मक व्यवस्था में सम्पत्ति का उत्तराधिकारी सिर्फ पुरुष ही होता है। इसलिए यदि स्त्री को सम्पत्ति का कोई भी अंश चाहिए तो उसके लिए इसे किसी की पुत्री, पत्नी अथवा माता बनना होता है। बिना इस सांस्कृतिक संबंध के स्त्री को सम्पत्ति के अधिकार से वंचित रहना पड़ता है।''[83] स्त्री की विडंबना यह है कि इन संबंधों से जुड़ने के बावजूद वह संपत्ति की अधिकारी नहीं है।

पैतृक सम्पत्ति में भागीदारी की लड़ाई स्त्री के समानता एवं सम्मान की लड़ाई है। इस प्रकार से यह लड़ाई स्त्री सशक्तिकरण की दिशा में एक बुनियादी स्वरूप ग्रहण करती है। स्त्री को पैतृक सम्पत्ति में दिया गया हिस्सा परिवार वालों की उदारता का प्रतिफल है– इस मानसिकता को भी बदलने की जरूरत है। पैतृक सम्पत्ति में भागीदारी स्त्री का अधिकार है – जिसके लिए वो

---

82 मैत्रेयी पुष्पा 'गुड़िया भीतर गुड़िया', पृ.127–128

83 देवेन्द्र कुमार चौबे, 'आजकल', मार्च 2007, संपा.–सीमा ओझा, पृ.47

संघर्ष करती है। स्त्री सशक्तिकरण की राह स्त्री की सम्पत्ति के अधिकार से होकर ही गुजरती है। यह उसकी समानता के लिए उठाये गये छोटे–छोटे कदम हैं। पितृसत्तात्मकता को अपने नजरिए में बदलाव की जरूरत है, क्योंकि स्त्री न अब दया की आकांक्षी है न महानता की। वह अब सम्मान और समानता की आकांक्षा है –

''स्त्री की समानता की लड़ाई बुनियादी लड़ाई है इससे उसे स्वतंत्रता, आत्मनिर्भरता एवं अस्मिता की पहचान मिलेगी। इस संघर्ष के प्रति तदर्थभाव, दयाभाव या सहानुभूति स्त्री के संघर्ष एवं अवदान को कम करेगा। स्त्री की समानता के संघर्ष के प्रति दया या सहानुभूति की जरूरत नहीं है बल्कि यह महसूस करने की जरूरत है कि यह तो उसका अधिकार था जो उसे दिया जाना चाहिए।''[84]

स्त्री आत्मकथाएँ ये प्रतिपादित करती हैं कि अपने आर्थिक तथा अन्य अधिकारों के प्रति सजग स्त्री को किसी की दया एवं उदारता नहीं बल्कि न्याय चाहिए। लेकिन यह तभी संभव है जब भेद–भाव, अन्याय–अत्याचार और शोषण को बढ़ावा देने वाली संस्कृति को अपदस्थ करने के लिए निष्पक्ष समतामूलक सामाजिक संस्कृति का निर्माण किया जाय जिसमें स्त्री–अधिकारों के प्रति सहज स्वीकार्यता हो।

---

[84] जगदीश्वर चतुर्वेदी, 'स्त्रीवादी साहित्य विमर्श', पृ.204

पाँचवाँ अध्याय

स्त्री आत्मकथाओं में यथार्थ और आकांक्षा का द्वन्द्व : भाषा शिल्प

1. स्त्री आकांक्षा के धागे और आत्मकथाओं की आंतरिक संरचना

2. स्त्री–पुरुष सम्बंधों में तनाव और टकराव का भाषिक रूपान्तरण

3. दलित एवं ग़ैर–दलित चरित्रों की भाषिक भिन्नता

3. लोकगीतों, लोकोक्तियों एवं मुहावरों में यथार्थ और आकांक्षा के स्वर

पाँचवाँ अध्याय

स्त्री आत्मकथाओं में यथार्थ और आकांक्षा का द्वन्द्व : भाषा शिल्प

स्त्री आत्मकथाएँ स्त्री जीवन के यथार्थ और आकांक्षा को भाषा व शिल्प के स्तर पर पूरी सम्प्रेषणीयता के साथ अभिव्यक्त करती हैं। पितृसत्तात्मक समाज में भाषा किस प्रकार स्त्री पर वर्चस्व का, उसके शोषण का माध्यम बन जाती है, स्त्री आत्मकथाएँ जीवन के इस विडम्बनात्मक यथार्थ को प्रमुखता से अंकित करती हैं। जीवन के सुख–दुख, शोषण–संघर्ष के साथ जीवन की उत्साहधर्मिता, उल्लास, उत्साह, आशाओं–आकांक्षाओं को स्त्री अपने गीतों में किस प्रकार ढालती है, उसे अभिव्यक्त करती है––स्त्री आत्मकथाएँ इस प्रश्न का उत्तर अत्यन्त विस्तार से देती हैं। स्त्री का अनुभव संसार अत्यन्त समृद्ध है, अनुभव की इस समृद्धि को स्त्री भाषा–शिल्प के विभिन्न अवयवों द्वारा अपनी आत्मकथा में रूपायित करती है।

1. स्त्री आकांक्षा के धागे और आत्मकथाओं की आंतरिक संरचना

आत्मकथा लेखिकाएँ जीवन के अनुभवों को पिरोने के लिए आत्मकथा विधा को चुनती हैं तो इसके पीछे उनके महान जीवन के गुणगान या तुष्टिकरण की भावना नहीं होती। यदि ऐसा होता तो प्रभा खेतान अपने 'एबॉर्शन' की बात को आत्मकथा में कभी स्वीकार नहीं करतीं। अपने प्रेमी डॉ॰ सर्राफ के मना करने के बावजूद वे इसे सबके सामने लाती हैं –

''गर्भपात, भ्रूण हत्या, प्रजनन का अधिकार, स्त्री जीवन से संबंधित न जाने कितने मुद्दों पर लिखती रही हूँ, मगर उस दिन अविवाहित मातृत्व की कल्पना मात्र से मेरा सर्वांग सिहर उठा था। बस किसी तरह इससे मुक्ति मिले, नहीं तो घरवाले मुझे फाँसी के तख्ते पर लटका देंगे। भ्रूण हत्या एक

पाप कर्म है ऐसी कोई भावना नहीं थी मेरे मन में। मैं कुछ गलत कर रही हूँ ऐसा क्षण भर को मुझे नहीं लगा।''[1]

प्रभा खेतान यदि साधारण महिला होतीं तो यह बात भी एक साधारण दुखदायी घटना बन सकती थी, किन्तु प्रभा खेतान लेखिका हैं, स्त्री विमर्श की प्रमुख पैरोकार एवं सिद्धान्तकार हैं। यह सच्चाई उनके व्यक्तित्व में फाँक पैदा करती है। यह लेखिका प्रभा और जीने वाली प्रभा में फर्क पैदा करती है। स्त्री के लिए आत्मकथा लेखन न अहं का तुष्टिकरण है, न उसका रुदन। यह मुक्ति की आकांक्षा है – शोषण, वर्चस्व, पितृसत्ता से। भीतर की स्त्री एवं बाहर की स्त्री के बीच निरन्तर चलने वाले मानसिक द्वन्द्व से। स्त्री की आकांक्षा स्वयं को पाना है और स्वयं से मुक्त होना है। भीतर छुपी स्त्री और बाहर दिखाई देती स्त्री में एकरूपता, एकात्मकता स्थापित करना ही स्त्री का उद्देश्य है –

''मैं अपने आचरण से पत्नी लेकिन मानसिक स्तर पर जो दख़ल देने लगती, वह कौन थी ? कौन थी वह जो धीरे–धीरे मुझे विवाह संस्था से विरक्त करती हुई ....मैंने क़लम थाम ली। क़लम के सहारे मेरी चेतना, जिसे मैंने आत्मा की आवाज के रूप में पाया, तभी तो साहित्य के द्वार तक चली आई। ...हाँ, लिखकर ही तो मैंने जाना कि न मैं धर्म के खिलाफ थी, न नैतिकता के विरुद्ध। मैं तो सदियों से चली आ रही तथाकथित सामाजिक व्यवस्था से खुद को मुक्त कर रही थी।''[2]

अपनी आत्मकथा के माध्यम से स्त्री पूरी स्त्री जाति की मुक्ति के सवालों को उठाने की कोशिश करती हैं –

''मेरी स्मृतियों का गीलापन रूढ़ियों की पक्की मिट्टी व स्त्री के प्रति सोच को थोड़ा–सा भी ढहा सके वो जीवन के अंत होने की प्रक्रिया में अंत पर सवर्ण शत दलों को देखने का सुखद अहसास होगा।''[3]

---

1 प्रभा खेतान, 'अन्य से अनन्या', पृ.95–96

2 मैत्रेयी पुष्पा, 'गुडिया भीतर गुड़िया'

3 कृष्णा अग्निहोत्री 'लगता नहीं है दिल मेरा', पृ.7

अपनी आत्मकथाओं के माध्यम से पितृसत्ता के बरक्स मातृसत्ता खड़ा करना स्त्री का उद्देश्य कभी नहीं रहा। वह तो बस स्त्री जीवन में शोषण एवं संघर्ष का प्रामाणिक यथार्थ अभिव्यक्त कर प्रेम और समानता की सत्ता का प्रतिफलन चाहती है। इसी क्रम में वह अपनी आकांक्षा को प्रामाणिकता के साथ शब्दबद्ध करती है।

स्त्री का पूरा जीवन स्मृतियों की गठरी खोलते–बाँधते गुजरता है, और स्मृतियाँ आत्मकथा लेखन का अनिवार्य अंग हैं। जीवन के कड़वे–मीठे अनुभवों को स्मृतियों से छान कर स्त्री एक–एक कर अपनी आत्मकथा में पिरोती जाती है। स्त्री आत्मकथाओं में ये स्मृतियाँ अलग–अलग तरीके से अभिव्यक्ति हुई हैं। रमणिका गुप्ता जीवन की कुछ महत्त्वपूर्ण बातों, कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं एवं परिस्थितियों को छोटे–छोटे शीर्षकों के अन्तर्गत दर्ज करती हैं। वे इन स्मृतियों के छोटे–छोटे टुकड़े आत्मकथा में एक साथ गूँथ देती हैं। इन स्मृतियों में कहीं–कहीं एक लम्बे अंतराल हैं। घटनाओं, शीर्षकों में तारतम्यतातो नहीं है किंतु एक साथ एक जगह होने के बाद एक दूसरे से जुड़कर ही वो प्रभावोत्पादक बन पाती हैं। ये स्मृतियाँ कई बार सूचनापरक भी महसूस होती हैं –

''मैं रोज गुरुद्वारा सिंघसभा में गतका सीखाने जाती थी। गुरुद्वारे में लम्बे–लम्बे उकसाने वाले भाषण होते थे। मैंने एक बड़ा जलता–सा लेख शुद्ध हिन्दी में पढ़ा था। ज्ञान सिंह राड़ेवाले की बेटी अपने फार्म पर मुझे अपने साथ गत का सिखाने ले जाती थी। यह सब बचाव के लिए था या हमले के लिए, यह नहीं बताया था।''[4]

आत्मकथा स्मृतियों के माध्यम से अतीत में ले जाती है, किंतु प्रभा खेतान स्मृतियों में रहकर भी स्मृतियों में जीती हैं। फ्लैशबैक पद्धति द्वारा स्वयं के वर्तमान से अतीत में, पुनः वर्तमान में, पुनः अतीत में आवागमन करती हैं –

[4] रमणिका गुप्ता 'आपहुदरी', पृ.177

''उस चमकती हुई दोपहरिया में एक पुराने मकान की पाँचवीं सीढ़ी पर अकेली बैठी–बैठी न्यूयार्क जैसे शहर में सुबक रही थी। डॉक्टर साहब मुझे छोड़कर जा चुके थे।''[5]

यहाँ पर डॉक्टर प्रभा को हमेशा के लिए छोड़कर नहीं गए हैं, लड़ाई करके गुस्से में होटल में चले गए हैं जिस होटल में दोनों रुके हुए हैं।

''मैं क्या लगती थी डॉक्टर साहब की ? मैं क्यों ऐसे उनके साथ चली आई ? ...मैं तो आँखों का इलाज कराने एक रोगी के रूप में उनके पास आई थी। और वे मेरी आँखों में ही खो गए थे। माना वह क्षणों की कमजोरी थी, एक भूल थी, मगर अपनी इस भूल को अपराध कैसे मान लूँ।''[6]

यहाँ पर प्रभा खेतान सीढ़ियों पर बैठकर रोते हुए अपने प्रेम संबंध की शुरुआत को याद कर रही हैं, और उसका विश्लेषण कर रही हैं। ''उधर से एक काली औरत आती हुई दिख रही है। मैली–कुचैली जीन्स पहने, रूखे जट्ट बाल बहुत ही बुरी लग रही है, भूतनी कहीं की, मुझे तो वह पागल लगती है। ...मैं आँसुओं से भरा चेहरा दूसरी ओर घुमा लेती हूँ, उल्टी हथेलियों से आँसू पोंछती हूँ।''[7]

उपरोक्त तीनों उद्धरण एक ही परिस्थिति के हैं लगातार हैं। जाहिर–सी बात है कि ये घटना उनकी स्मृति से आत्मकथा में आई है अर्थात् बाद में। पहला उद्धरण आत्मकथा लेखन के समय याद आया होगा कि प्रभा न्यूयॉर्क की सीढ़ियों पर बैठकर एक दिन रो रही थीं।

दूसरे उद्धरण में वो सीढ़ियों पर रोते हुए ही अपने अतीत में संबंधों के विश्लेषण तक जाती हैं। तीसरे उद्धरण में पुनः वो अतीत से बाहर आकर पास आई एक औरत को देखने लगती हैं। इस तरह वो स्मृतियों की भी कई परतें बनाती हैं। प्रभा खेतान अपनी आत्मकथा की शुरुआत भी बीच से करती हैं,

---

5 प्रभा खेतान, 'अन्य से अनन्या', पृ.8

6 प्रभा खेतान, 'अन्य से अनन्या', पृ.9

7 प्रभा खेतान, 'अन्य से अनन्या', पृ.9

जहाँ से उनके संबंधों में तनाव की तीव्रता होती है जैसे – प्रौढ़ावस्था की उम्र से युवावस्था में गमन, युवावस्था से बचपन में, वापस फिर वहाँ जहाँ से आत्मकथा की शुरुआत का क्षण।

''मैं स्मृतियों की पगडंडी पर संभाल–संभालकर कदम रख रही हूँ। कभी आँचल साड़ियों में उलझता है, कभी पैरों में नुकीले पत्थर चुभते हैं ...कभी सामने कोहरे के बादल ....सामने कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता ...और कभी पैरों के नीचे ठंडी ओंस की बूँदें, मुझे मेरे आँसुओं की याद दिलाती हुई। कहीं दूर पीछे छूटा हुआ अतीत ठंडी साँसें भर रहा है।''[8]

वास्तव में प्रभा खेतान आत्मकथा में बहुत संभलकर सोचकर ही चली हैं। सम्बन्धों को, घटनाओं को बहुत ज्यादा गहराई से नहीं उघाड़तीं। अपनी अंतरंगता में, द्वन्द्व में सम्बन्ध जितने अनिवार्य रूप से खुल पाते हैं, बस उतना ही। पूरी आत्मकथा स्मृतियों में अन्तर्द्वन्द्व के माध्यम से बुनी गई है, यथार्थ के प्रति छटपटाहट एवं मुक्ति का द्वन्द्व, विश्लेषण आत्मकथा की आन्तरिक संरचना में हर जगह व्याप्त है।

सुनीता जैन अपनी आत्मकथा का ढाँचा रेखाचित्र के धागों से मिलाकर तैयार करती हैं। वैसे इनकी आत्मकथा अत्यन्त संक्षिप्त है। वे व्यक्तिगत जीवन संघर्षों और नौकर रामसिंह के कार्यों, जिम्मेदारियों, बच्चों के प्रति उसके लगाव तक ही सीमित हैं। वे लिखती हैं –

''क्या इस एकदम कृष्ण वर्ण मझोले कद के तीसेक वर्ष के व्यक्ति में कि उसने मेरे सारे कामों को अपने सिर ओढ़ लिया। ...बहुत कम बोलता था वह। बच्चों से बोलता था। ...किसी बच्चे के बिस्तर गीला करने पर यदि मेरा धीरज टूटता, तो वह कहता, 'सीख जाएँगे अम्मा। आपने कभी किसी को बड़े होकर गीला करते देखा है ? ये भी नहीं करेंगे।''[9]

---

[8] प्रभा खेतान, 'अन्य से अनन्या', पृ.28

[9] सुनीता जैन, 'शब्दकाया', पृ.15

पद्मा सचदेव अपनी आत्मकथा में स्मृतियों के साथ दूर तक जाती हैं। गुजरे हुए जीवन को जिन्दादिली के साथ बूँद–बूँद करके पीती हैं। उनकी आत्मकथा में पूरा जम्मू जैसे अपने पूरे वैभव के साथ जीवंत हो उठा है। पद्मा भी अपनी जिंदगी में बड़े दुख देखती हैं, बचपन में आततातियों द्वारा पिता की हत्या। सत्रह वर्ष की उम्र में प्रेम विवाह, अट्ठारह की उम्र में टी.बी. की बीमारी के कारण अस्पताल में तीन वर्ष तक लगातार बेड पर रहना, जीना। तलाक। किसी भी लड़की को कमजोर, बेजार करने के लिए ये दुख काफी हैं, किंतु पद्मा सचदेव दुखों को नहीं जिंदगी को जीती हैं, जिंदगी और जिंदादिली पूरे प्राकृतिक वैभव के साथ आत्मकथा के हर पन्ने पर बिखरी पड़ी हैं। जम्मू कश्मीर का पूरा स्वर्ग बिखरा पड़ा है।

आत्मकथा को पढ़ते हुए ऐसा लगता है जैसे सारी स्मृतियाँ बिल्कुल पास आ गई हैं और शब्द–शब्द करके कागज पर उतारती जा रही हैं, शब्दों के माध्यम से पूरा मंजर आँखों के सामने से जीवंत होकर गुजरता है। नफासत एवं करीने के साथ छुपी हुई स्मृतियाँ कहीं पर भी रसभंग नहीं करतीं। स्मृति–दर–स्मृति पाठक से आत्मकथा तादात्म्य स्थापित कर लेती है। लेखिका का कवि व्यक्तित्व आत्मकथा में भी मौजूद है। वातावरण के विश्लेषण में काव्यात्मकता है –

''ये सब सोचते–सोचते मुझे लगा मैं सचमुच बच गई हूँ। ...मेरी दोनों आँखें भी ठीक हैं, मैं पढ़ सकती हूँ, लिखते वक्त देख भी सकती हूँ। देख सकती हूँ रंग बरसते आसमान पर उभरते चेहरे, बदलते चेहरे, चलचित्र की तरह दौड़ते बादल। देख सकती हूँ, ऊपर उठती हुई मुहब्बत में सराबोर आँखें। गहमागहमी से भरे बाजार, दुख और सुख में अडिग लोगों के चेहरे, दफ्तरों को दौड़ते मर्द–औरतें, बच्चों को पैदा करते, बड़ा करते और हाथों में सहेजकर आसमान की तरफ उड़ा देते लोग, बच्चों के रोजगार तलाशते, घरों में बुढ़ाते और मर जाते लोग।''[10]

[10] पद्मा सचदेव 'बूँद–बावड़ी', पृ.26–27

आत्मकथा में एक और चित्र कविता देखी जा सकती है – ''मैंने देखा कितनी सुन्दर रात है और एकान्त कितना सुन्दर हो सकता है। रात ने चुपके–चुपके आँगन में उतरकर अपनी घोर काली चादर फैला दी थी।''[11]

पद्मा सचदेव की आत्मकथा जिंदगी से लबालब भरा प्याला है, जिसे पीकर तृप्त हुआ जा सकता है।

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की संरचना एक अलग प्रकार की है, स्मृतियाँ तो हैं किंतु वो लगातार एक के बाद एक इस तरह आती जाती हैं कि उनमें कहीं पर भी जोड़ बिल्कुल नहीं नजर आता। एक बार जहाँ जिस बिन्दु से आत्मकथा शुरू करती हैं उससे लगातार आगे बढ़ती जाती हैं, क्रमवार, व्यवस्थित ढंग से। अपने जीवन की घटनाओं को वह एक किस्सागो की भाँति व्यक्त करती चलती हैं, ऐसा कोई जल्दी सिरा पकड़ में नहीं आता जहाँ से एक घटना को दूसरी से अलग किया जा सके। हर घटना अलग होते हुए भी एक दूसरे से परस्पर गुँथी हुई है।

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा अपनी आत्मकथा की शुरूआत अपने दादा–परदादा के समय लगभग प्रथम स्वतंत्रता संग्राम से शुरू करते हुए अपने जीवन के छियासी वर्षों की कथा कहती हैं। इतने लम्बे समय को शब्दबद्ध करने में कहीं भी घटनाओं में अंतराल छोड़ना बड़ी बात है किंतु सबसे बड़ी बात यह है कि विस्तार के बावजूद आत्मकथा में नीरसता नहीं आती। पूरी रोचकता और विस्तार से स्थितियों को प्रस्तुत करती हैं – ''पुराने लोहे की दुकान पर सस्ता और ठीक–ठाक मिला। वहाँ नीलामी से खरीदा माल था। आठ आने का तवा, दो आने का चिमटा, और चार आने की अँगीठी खरीदने के बाद 10 रुपये बचे थे – और पूरे महीने की जीन्स बाकी थी लेनी। फरवरी की सर्दी में भी मुझे पसीना आ गया। आधा सेर अरहर, पाव–पाव भर उड़द, मूँग

[11] पद्मा सचदेव 'बूँद–बावड़ी', पृ.89

की दालें, चार सेर आटा, एक सेर चावल, आधा सेर सरसों का तेल और आधा पाव देसी घी – बनिये के लिए; 10 रुपये फुर्र।''[12]

अपनी आत्मकथा में चन्द्रकिरण सौनरेक्सा एक लेखिका के रूप में नहीं, एक मध्यमवर्गीय गृहस्थिन के रूप में हैं, जो पूरी जिन्दगी घर–परिवार को व्यवस्थित ढंग से चलाने की चिंता में घुलती रहती हैं – उसी के लिए संघर्ष करती हैं। आत्मकथा का पूरा ताना–बाना मध्यवर्गीय पारिवारिक बजट का संतुलन साधने की स्त्री की कला के साथ बुना गया है।

मन्नू भंडारी अपनी आत्मकथा में बहुत ही हल्के–फूल्के ढंग से अपनी जिंदगी की चर्चा करती हैं। थोड़ा–बहुत बचपन के बारे में, थोड़ा–सा इशारा वैवाहिक जीवन में आए उथल–पुथल, तनाव, द्वन्द्व के बारे में, थोड़ा–सा अपने लेखन के बारे में, बस। वह इसे आत्मकथा न कहकर कहानी कहती हैं, ऐसी कहानी जिसमें कल्पना का तत्व नहीं है –

''पर अपनी कहानी लिखते समय सबसे पहले तो मुझे अपनी कल्पना के पर ही कतर कर एक ओर सरका देने पड़े, क्योंकि यहाँ तो निमित्त भी मैं ही थी और लक्ष्य भी मैं ही। यहाँ न किसी के साथ तादात्म्य स्थापित करने की अपेक्षा थी, न संभावना। यह शुद्ध मेरी ही कहानी है और इसे मेरा ही रहना था, इसलिए न कुछ बदलने–बढ़ाने की आवश्यकता थी, न काटने–छाँटने की। यहाँ मुझे केवल उन्हीं स्थितियों का ब्यौरा प्रस्तुत करना था, वह भी जस–का–तस जिनसे मैं गुजरी ...दूसरे शब्दों में कहूँ तो जो कुछ मैंने देखा, जाना अनुभव किया, शब्दशः उसी का लेखा–जोखा है यह कहानी।''[13]

मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा के प्रथम भाग 'कस्तूरी कुंडल बसै' में औपन्यासिकता का तत्व भरपूर है। स्मृतियाँ छोटे–छोटे शीर्षकों में बँटकर छाई हैं, जिन्हें एक सूत्र में पिरोने के लिए काल्पनिकता का भरपूर सहारा लिया है उन्होंने–

---

[12] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, 'पिंजरे की मैना', पृ.178

[13] मन्नू भंडारी ' एक कहानी यह भी', पृ.7–8

''बहुत–सी घटनाएँ याद रहीं, बहुत–सी विस्मृत हो गईं और बहुत–सी ऐसी थीं, जिनका छोर तो अपने पास था, मगर वे किसी दिशा की ओर नहीं ले जाती थीं। कालान्तर में ऐसा भी हुआ कि सब कुछ अभी आँखों के सामने घटित हुआ, लेकिन फिर भी क्रम टूटता था। जगह खाली रह जाती थी। वहाँ कल्पनाओं–अनुमानों से सूत्र जोड़ने पड़े।''[14]

अपनी आत्मकथा में लेखिका मैत्रेयी और आत्म्कथा वाली मैत्रेयी दोनों अलग खड़ी हैं। स्वयं को अन्य पुरुष के शब्दरूप में अभिव्यक्त करती हुईं मैत्रेयी पुष्पा यह नहीं लिखतीं कि मैंने माताजी से कहा', वो लिखती हैं 'मैत्रेयी ने माताजी से कहा'। मैत्रेयी पुष्पा अपने जीवन का स्मृतियों में स्वयं को हटाकर प्रवेश करती हैं। काल्पनिकता की वजह से कहीं–कहीं आत्मकथा में स्त्री संघर्षों के मुद्दे रूमानियत के साथ प्रस्तुत किए गए हैं। इसी कारण वे संघर्ष किए गए नहीं वरन मात्र दूर से देखे गए प्रतीत होते हैं। काल्पनिकता आत्मकथा की खालिस प्रामाणिकता को कहीं–कहीं कमज़ोर सिद्ध करती है।

कृष्णा अग्निहोत्री और सुशीला टाकभौरे की आत्मकथाएँ चुनी हुई स्मृतियों के विस्तार की कथा हैं। आवश्यक विस्तार के साथ घटनाओं, परिस्थितियों का सिलसिलेवार, क्रमबद्ध वर्णन आत्मकथा की चुस्ती को खत्म नहीं करता। स्मृतियों में अंतराल बिल्कुल नहीं है, जिसके कारण जीवन का यथार्थ संघर्ष और आकांक्षा तीनों प्राभावोत्पादक ढंग से आत्मकथा में उभर कर सामने आते हैं। सुशीला टाकभौरे लिखती हैं –

''जिंदगी दो–चार दिन की बात नहीं है। साल, महीने, दिन, घंटे और क्षणों में बँटी जिन्दगी अपने स्मृतिकोश में यादों को सुरक्षित रखती है। कुछ स्मृतियाँ धूमिल हो जाती हैं, कुछ सुप्त होकर खो जाती हैं मगर यादों की आँधी यदि फिर से उन्हें झकझोर दे या सहला कर जागृत कर दे तब वे जीवनभर भुलाई नहीं जातीं।''[15]

---

[14] मैत्रेयी पुष्पा, 'कस्तूरी कुंडल बसै', भूमिका से

[15] सुशीला टाकभौरे, 'शिकंजे का दर्द', पृ.127

शीला झुनझुनवाला की आत्मकथा का परिवेश बहुत व्यापक है। विभिन्न खंडों एवं उपशीर्षकों में बँटी यह आत्मकथा कई काल खंडों के, विभिन्न शहरों के, सामाजिक, राजनीतिक घटनाओं से होते हुए, व्यक्तिगत, पारिवारिक जीवन, समाज, संस्थाओं से प्रेम, टकराव, संघर्ष की कथा कहती है। यह स्त्री की कथा के साथ–साथ इतिहास को बहुत ही गहरे स्त्री दृष्टिकोण से देखे जाने की भी कथा है। शीला जी लिखती हैं – ''आप कहेंगे आप बीती लिखते–लिखते आपने तो जगबीती ही लिख डाली। एक पूरे इतिहास की संरचना कर दी। यह कल क्या है ? यह बीता हुआ कल, जिंदगी की सच्चाइयों से जुड़ा कल, अनुभूतियों का कल इतिहास ही तो होता है। ...उस कल को घटना चक्र, जीवन की सच्चाई या फिर आत्मकथ्य कुछ भी कह सकते हैं। यह कल ही सच है, अक्षत है, यादों की न खत्म होने वाली अमर बेल है, पर यह मेरे परिवार का दस्तावेज नहीं है। इसमें बहुत से लोग जुड़े हैं।''[16]

कुसुम अंसल की आत्मकथा का स्वरूप स्त्री मन के भीतर चलने वाले द्वन्द्वों से गढ़ा गया है। अपने भीतर अपने बीते हुए कल की स्मृतियों को द्वन्द्वों में ढालकर इस आत्मकथा की बुनावट की गई है। अपने द्वन्द्वों में भी लेखिका ज्यादा खुलकर नहीं आती। स्थितियों और घटनाओं को भी बहुत स्पष्टता से नहीं उभारा गया है। सब कुछ कुहरे में बस धुँधला–सा ही दिखाई देता हैं कुसुम अंसल की आत्मकथा के द्वन्द्व स्त्री मन की छटपटाहट एवं आकांक्षा को सामने लाते हैं। स्थितियों के साथ स्वयं की पड़ताल, आत्मकथा के मूल में है। किंतु संघर्ष का तेज नहीं है। स्मृतियों को टुकड़ों में बाँटकर इन्होंने तरतीब दी है, किन्तु उन्हें आपस में जोड़ा नहीं है बस रख दिया है –

''मेरी ये जीवनी हमारे परिवार का कोई ऐतिहासिक दस्तावेज नहीं है, ये मात्र मेरे जीवन का सार तत्व है। ...मैं अहम्वादी नहीं हूँ, अपने को परिचित कराने का संकोच आज भी मेरे भीतर है। पता नहीं क्यों लिखने बैठ गई हूँ। ..

---

[16] शीला झुनझुनवाला ' कुछ कही कुछ अनकही', भूमिका से

.अपनी आत्मकथा में कल्पना का प्रयोग नहीं हो सकता था, तभी तो ये किस्साबयानी न रहकर सपाट जैसी है।''[17]

कौसल्या बैसंत्री की आत्मकथा की बुनावट अपने परिवार, और पूरे दलित समाज के संघर्षों, पीड़ाओं और मुक्ति के सपनों के साथ की गई है। इन सबके साथ एक अवान्तर कथा के रूप में कौसल्या बैसंत्री अपनी कथा कहती हैं। कुछ उट्ठाईस प्रकरणों में बँटी कौसल्या बैसंत्री की आत्मकथा मेंव्यक्तिगत जीवन की चर्चा दलित एवं स्त्री शोषण के सन्दर्भों में ही की गई है। आन्तरिक जीवन की चर्चा बहुत ही कम है।

स्त्री आत्मकथाओं की संरचना के शोषण, उत्पीड़न, संघर्ष एवं मुक्तिकामी सपनों के साथ आकार ग्रहण करती है। इन आत्मकथाओं का उद्देश्य देश, समाज, परिवार के संदर्भ में स्त्री की भूमिका एवं स्त्री के सन्दर्भ में इनका आकलन है। स्त्री आत्मकथाएँ अपनी आंतरिक संरचना में, मूल मनोभावों के साथ पितृसत्ता का विरोध हैं।

2. स्त्री–पुरुष सम्बंधों में तनाव और टकराव का भाषिक रूपान्तरण

स्त्री का संघर्ष पितृसत्ता से मुक्ति का संघर्ष है, अतः इस संघर्ष के फलस्वरूप स्त्री का टकराव पुरुष सत्ता से अनिवार्यतः होता है। इस टकराव की भाषिक अभिव्यक्ति स्त्री आत्मकथाओं में प्रमुखता से हुई है। पुरुष–सत्ता स्त्री पर वर्चस्व के लिए भाषा के अनेक रूपों का चुनाव करती है। सुधीश पचौरी लिखते हैं कि – ''दैनिक भाषा में मर्दों के द्विअर्थी संसार में स्त्रियाँ उसी तरह आखेट की शिकारी होती हैं जैसे जीवन में होती हैं।''[18]

स्त्री–अस्तित्व को अपनी भाषा से पद–दलित करते हुए पुरुष सत्ता हर तरह से उसके स्वाभिमान को कुचलने का प्रयास करती है। पुरुष भाषा के

---

[17] कुसुम अंसल, 'जो कहा नहीं गया', पृ.13, 15

[18] सुधीश पचौरी, औरत उत्तरकथा, संपा.–राजेंद्र यादव, अर्चना वर्मा, पृ.122

नुकीले हथियारों से संवेदनशील स्त्रियाँ प्रतिदिन, जीवन भर आहत होती हैं। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा प्रतिष्ठित लेखिका एवं पतिव्रता पत्नी हैं, उनके पति भी उच्च शिक्षित हैं, किंतु पत्नी के अस्तित्व, मान–सम्मान को कुचलने वाले, उनके शब्दों में देखा जा सकता है –

''यथा–समय कांतिजी लौटे, और पत्र पढ़ते ही बोले, ''वाह ! बड़ी तारीफ़ लिखी है आपकी अमृतराय ने।'' मैं रसोई में काम करते हुए सुन रही थी। दो मिनट बाद ही फिर मैंने सुना 'ये' तलख़ी से भरे स्वर में कह रहे थे, ''ये साले संपादक भी लड़कियों को बड़े मीठे–मीठे पत्र लिखते हैं। अभी कोई पुरुष लेखक अपनी रचना भेजता तो उत्तर ही पन्द्रह दिन बाद मिलता – या मिलता ही नहीं। ''और यहाँ'', रसोई के सामने खड़े थे – क्रोध–ईर्ष्या की मिली–जुली तस्वीर बनकर – ''तुमने भी तो कहानी भेजते समय पत्र में कुछ न कुछ तो लिखा ही होगा ज़रूर ...उसके चूतड़ों में घी मला होगा।''[19]

स्त्री को कमजोर सिद्ध करने के लिए सबसे आसान है उसके चरित्र पर लांछन लगाना। पुरुष इस सच्चाई को भली–भाँति जानता है। पुरुष के लिए तो स्त्री को दी गई गाली महज कुछ शब्द या वाक्य होती है, किंतु स्त्री के लिए यह उसके पूरे अस्तित्व का नकार महसूस होता है, यह अपमान वह सह नहीं पाती, और तनाव एवं द्वंद्व के भँवर में धँस जाती है –

''बस अब और नहीं बढ़ने दूँगी यह सिलसिला; – अविश्वास के धुंध में मानो मेरा दम घुटने लगा...। ...मैं फिर जिंदगी के दो राहो पर खड़ी थी – साधनहीन, मित्र व परिजन विहीन। पति परित्यक्ता नारी है यह मैं खूब समझती थी। किंतु गाली खाकर, निदोर्ष होने पर भी अविश्वास रूपी धुआँ घर में रहना भी मृत्यु के समान पीड़ादायी था। वह रात मेरे लिए मृत्यु से भी अधिक भयावह थी।''[20]

---

[19] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, 'पिंजरे की मैना', पृ.220

[20] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, 'पिंजरे की मैना', पृ.221

चन्द्रकिरण जी अपने अस्तित्व के प्रति सचेत महिला हैं। किन्तु फिर भी आदर्शों के कारण पति के प्रति अपने सारे फर्ज निभाती हैं, जब सहनशक्ति जवाब देती है तो अपमान के बदले ये भी पलटकर जवाब देती हैं –

''इनके उत्तर से, बहस करने की गुंजाइश ही नहीं रह गयी थी। मन इतना दुःखी हुआ कि अपनी रुलायी रोकने को, मैं गुसलखाने में चली गयी। कुछ देर बाद, संयत होकर मुँह धोकर बाहर आयी, तो 'ये' बोले, ''अच्छा भीतर जाकर रो रही थी। मैंने कड़वे स्वर में उत्तर दिया, ''रोने पर भी क्या टैक्स है?'' और जल्दी–जल्दी अपनी अटैची बंद करने लगी। स्टेशन यहाँ से काफी दूर था। 'ये' गुस्से बोले ''मना किसने किया है, और रोओ, पर अब मैं स्टेशन छोड़ने भी नहीं जाऊँगा। अपने आप चली जाओ।''[21]

पुरुष जब भी स्वार्थ पर उतर आता है तो पति–पत्नी के बीच संबंधों में तल्खी आ जाती है। शब्दों की चुभन भाले की नोंक से भी तेज हो जाती है। किंतु स्त्री–पुरुष के बीच भाषागत तल्खी के आदान–प्रदान में एक महत्वपूर्ण अंतर होता है कि पुरुष भाषा के माध्यम से शब्दों के माध्यम से आक्रमणकारी की भूमिका में होता है और स्त्री बचाव की। हालांकि ये स्थिति अनिवार्य नहीं, फिर भी सामान्य तो है ही –

''मुझे अपनी कमजोरी पर गुस्सा आता है। तुम आगे बढ़ रही हो और मैं पिछड़ रहा हूँ।''

x x x x x

''बाहर चल रहे हैं ना ? आप कपड़े नहीं बदलेंगे ?''

''नहीं, जरूरत नहीं, वैसे भी मैं तुम्हारे सामने जवान लगने से रहा।''

x x x x x

अचानक उन्होंने पलटकर मेरी आँखों में झाँकते हुए पूछा –

---

[21] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, 'पिंजरे की मैना', पृ.336

''तुम सिर्फ मेरी हो ना, मेरी चीज ?'' मैं एकदम चुपचाप थी।

x x x x x

''मैं सिर्फ आपकी हूँ, लेकिन आप केवल मेरे नहीं।''

x x x x x

''दया तो एक बहाना है। उसे तुम्हारी आवाज जो सुननी थी।''

''क्यों बेकार की बात करते हैं ? स्त्री–पुरुष अच्छे दोस्त नहीं हो सकते?''

''अरे छोड़ो ये जुमले ! तुम इस हद तक गिरी हुई हो मैं सोच भी नहीं सकता था। कहो और कितने यार हैं तुम्हारे ? और कितने चक्कर चलाओगी तुम ?''[22]

प्रभा खेतान एक प्रसिद्ध हस्ती होती हैं। किन्तु अपने प्रेमी डॉ॰ सराफ के व्यंग्यबाणों से सदैव लहूलुहान होती रहती हैं। स्त्री–पुरुष का जो संबंध प्रेम से शुरू होता है, शक, ईर्ष्या और अधिकार से भरकर वह कितना कटु हो सकता है इसकी कोई सीमा नहीं। भाषा के द्वारा इस तरह कोंचे जाने से प्रभा खेतान सदैव आहत होती हैं, हमेशा एक तनावपूर्ण रिश्ते को जीती हैं –

''आपसी रिश्ते की क्या यही मर्यादा रह गई है कि हम एक–दूसरे को कोंचते रहें। मैं कहना चाहती हूँ कि शाम कितनी सुन्दर है लेकिन कह नहीं पाती।''[23]

स्त्री सदैव प्रेम करना चाहती है, प्रेम करना जानती है, किन्तु पति–पत्नी के संबंधों में पुरुष का अहंकार स्त्री को हमेशा अपने से कमतर देखना चाहता है। फलतः दबाकर रखने की कोशिश करता है। इस कोशिश को वह अपने शब्दों को हथियार बनाकर फलीभूत करता है। स्त्री के भीतर ये सारे शब्दगत

---

[22] प्रभा खेतान, 'अन्य से अनन्या', पृ.136–164

[23] प्रभा खेतान, 'अन्य से अनन्या', पृ.165

अपमान धीरे–धीरे कोयला बनकर सुलगते रहते हैं। इस अपमान का कभी वह जवाब देकर प्रतिरोध करती है, कभी चुपचाप, खामोश रहकर।

प्रभा खेतान लिखती हैं – ''हम स्त्रियों के पास वे शब्द ही नहीं हैं, जिनके माध्यम से हम अपने असंतोष को व्यक्त कर सकें। स्त्री खामोश रहती है। हाँ, जब उसकी खामोशी टूटने लगती है तो बहुत कुछ ऐसा अभिव्यक्त होता है जिसे अब तक शब्द नहीं दिए गए हैं।''[24]

कभी–कभी शब्दों के अपमान की पीड़ा, उनका दर्द, इतना तेज होता है कि स्त्री सोच भी नहीं पाती कि इस प्रहार का वह क्या उत्तर दे। क्योंकि अपना कहा हुआ हर शब्द उसे उस पीड़ा से छोटा लगता है –

''तुम्हें इतना दुख क्यों हो रहा है डार्लिंग, सच्ची बताओ।''...

''मुझे दुख....इस अनजान शहर में मैं अकेली रहूँगी, सारे दिन।''

''तो साथ ले चलो इन सारे कुँवारे देवरों को।'' कहते हुए उनका निचला होंठ नामालूम तरीके से ऐंठ गया।

''साथ ? साथ क्यों ?''

''इसलिए कि चार–पाँच मुसाफिर , एक हीसना। तुम्हें तो कुँआरेपन की यही आदत है।'' क्रूर व्यंग्य!

टो ! मैं गहरी साँस लेकर रह गई। कहूँ भी क्या ?

मेरा जीवन साथी, साथी के नाम पर जलकुक्कड़ आदमी है। दिशाओं में जब रंग बिखरने शुरू होते हैं, कालिख पोतने आ जाता है। मैं दाँत पीसती रही।''[25]

दरअसल स्त्री के पास प्रहार का कोई रास्ता नहीं बचता। पुरुष के पास तमाम बातें हैं, मौके हैं वह जब चाहे तब स्त्री के सिर के ऊपर लात धर देता

---

[24] प्रभा खेतान, 'औरत उत्तर कथा', पृ.145

[25] मैत्रेयी पुष्पा, 'गुड़िया भीतर गुड़िया', पृ34

है, किन्तु स्त्री के पास कोई रास्ता नहीं बचता। चरित्रहीनता को पुरुष सबसे बड़ी गाली के रूप में प्रयुक्त करता है किंतु स्त्री क्या करें ? पुरुष का तो चरित्रहीन होना भी उसकी मर्दानगी के गुणों में गिना जाता है। उसे स्त्री के कोई भी शब्द जल्दी विचलित नहीं कर पाते, और उसके शब्द स्त्री के लिए मौत के फन्दे की घुटन बन जाते हैं –

''किसी अच्छे मूड़ में अग्निहोत्री जी सदा की तरह शेखी बघारते बता गए थे, 'उसे मैंने गोद में बैठाकर छुआ था, परंतु उसने आगे नहीं बढ़ने दिया।'

अन्दर ही अन्दर भभकते हुए मैंने पूछा था, 'कितनी खराब थी वह, उसमें क्या रखा था भला ?'

'भाई, मेरे सारे दोस्तों ने उसे टेस्ट किया, मैं भी फॉर ए चेंज टेस्ट करना चाहता था।''[26]

अपनी तल्खी में स्त्री–पुरुष संबंध इतने कड़वे हो जाते हैं कि कभी–कभी जीवन की सामान्य बातों या घटनाओं में भी उनका प्रभाव स्पष्ट झलकने लगता है–

'' ''दो रुपये।'' ताँगे वाला बोला।

''वाह ! बस कुल दो रुपये ! इसे दो रुपये और बख्शीश में दे दो प्रकाश, बेचारा कितने प्यार से सामान भी उठा लाया है।'' मैंने कहा।

प्रकाश हतप्रभ ! उनके कान गुस्से से लाल हो गये, ''क्यों ? पैसे क्या पेड़ पर लगते हैं, जो फेंक दें।''

''...कितनी अच्छी तरह बेचारा ताँगा चला कर लाया है, होटल खोज दिया है। सामान भी ऊपर ले आया है।''[27]

---

[26] कृष्णा अग्निहोत्री 'लगता नहीं है दिल मेरा', पृ.145

[27] रमणिका गुप्ता, ''आप हुदरी एक जिद्दी लड़की की आत्मकथा', पृ.229

स्त्रियाँ अब अपनी चेतना, अस्मिता के प्रति सजग हो रही हैं। पुरुषों को अपनी अस्मिता के भाषिक हनन के लिए स्त्री भले ही उनकी बराबरी में हर बार जवाब न दे पाती हो, किंतु अपमान उसे क्रोध और शर्म के चौराहे पर ला पटकता है। पद्मा सचदेव लिखती हैं – ''शराब पीकर आदमी जितने तमाशे करता है, वो सभी दीप साहब भी करते थे। पर उन्हें याद करके मैं अपनी शर्मिन्दगी नहीं बढ़ाना चाहती। मैं ये मानती हूँ कि जहाँ तक हो सके, स्त्री को समझौता करना चाहिए, पर अपनी अस्मिता व गरिमा गवाँकर नहीं। जब तक आदर न हो प्यार का कोई महत्त्व नहीं होता। पर स्त्रियाँ आदर भी कहाँ माँगती हैं। हम तो ये कहती हैं कि हमारा अपमान मत करो। दीप जी जैसे सुसंस्कृत व्यक्ति के मुँह से अपने लिए गंदी–गंदी गालियाँ सुनकर मैं शर्म से गढ़ जाती। उनके आरोपों का अंत न था मुझे राह नहीं सूझती थी। ...अब मैं दफ्तर जाती तो दीप साहब लोगों को कहते – ये दफ्तर जाती है। पता नहीं किस–किस के साथ इसके संबंध हैं। पाँच रुपये हो तो दो मैं जरा गम गलत करूँगा।''[28]

पुरुष के भाषिक अपराध जब स्त्री की सीमा को लाँघ जाते हैं तो फिर स्त्री को मजबूरन अपने आदर्शों और अपने स्त्री धर्म को त्यागकर रौद्र रूप अपनाना पड़ता है –

''गम और गुस्से से पागल होकर मैं रेजीडेंसी रोड गई। दीप साहब को मेरे आने की पूरी उम्मीद थी। मैं बिफरी हुई शेरनी की तरह थी। मैंने लकड़ियों के बोझ से एक लकड़ी निकाली और कहा – मैं आज, आपको मार डालूँगी। मुझे जो चाहे कहो, मेरी माँ को आप कुछ नहीं कह सकते। आज मैं सारा टंटा खत्म कर दूँगी। या तो आप रहेंगे या मैं। फाँसी पर चढ़ना या जेल में चक्की पीसना, इस जीवन से बेहतर है।''[29]

प्रभा खेतान लिखती हैं – ''हम स्त्रियों के पास वे शब्द नहीं हैं जिनके माध्यम से हम अपने असंतोष अभिव्यक्त कर सकें। स्त्री खामोश रहती है। हाँ

---

[28] पद्मा सचदेव, 'बूँद बावड़ी', पृ.221

[29] पद्मा सचदेव, 'बूँद बावड़ी', पृ.222

जब उसकी खामोशी टूटने लगती है तो बहुत कुछ ऐसा अभिव्यक्त होता है जिसे अब तक शब्द नहीं दिए गए।''[30]

स्त्री आत्मकथाएँ पितृसत्ता के प्रति भाषिक अपराधाओं को सवाल–जवाब के रूप में प्रामाणिक ढंग से अभिव्यक्त कर रही हैं, और कल के लिए सुरक्षित भी रख रही हैं, जिसका हिसाब इतिहास एक दिन जरूर माँगेगा।

3. दलित एवं गैर–दलित चरित्रों की भाषिक भिन्नता

गैर–दलितों ने दलित समाज को हमेशा अलग–थलग हाशिए पर रखा है। एक गाँव में (भले ही दलित बस्ती गाँव के किनारे दूसरे छोर पर हो) रहते हुए भी दोनों समुदाय एक दूसरे से रहन–सहन, रीति–रिवाज, भाषा–बोली, संस्कृति सबमें बहुत अलग हैं। दलित एवं गैर दलितों में बाह्य अन्तर जितना है, आन्तरिक अन्तर भी उससे कम नहीं है।

रमणिका गुप्ता दलितों, आदिवासियों की प्रबल पक्षधर महिला हैं, उनके अधिकारों के लिए इन्होंने बहुत संघर्ष किया है, कर रही हैं। वह किसी भी प्रकार के भेद–भाव, छुआछूत, असमानता की विरोधी रही हैं, किन्तु फिर भी इनकी आत्मकथा में कहीं–न–कहीं अपने कुल–खानदान के गौरव का अहम् झलक ही जाता है –

''वह उदासी साधु था। उसे जब पता चला कि मैं बेदी परिवार की बेटी हूँ, तो वह नौका में ही दंडवत् लेट गया और मेरे पाँव छूकर प्रणाम करने लगा।

''हमारे गुरुओं का अंश है यह बेटी तो। मैं उदासी साधु हूँ, गुरु नानक के बेटे बाबा लक्ष्मीचन्द की औलाद। आप हमारी पूज्या हैं, आप लोग हमारे आश्रम चलिए।''

---

[30] प्रभा खेतान, 'औरत उत्तरकथा', संपा.–राजेंद्र यादव, अर्चना वर्मा, पृ.145

x x x x x

मेरा अहम् जाग उठा, ''मुझे भी लोग पूज्य मानते हैं।'' मैं अपने कुल पर गौरवान्वित हो रही थी।''[31]

कुल का गौरव विशिष्ट होने का भाव कमजोर से कमजोर व्यक्ति में भी अहंकार के साथ–साथ स्वाभिमान और आत्म सम्मान भर सकता है। इसके विपरीत मजबूत से मजबूत दलित व्यक्ति में समाज की नजर में हेय, नीच, अछूत होने की पीड़ा उसके पूरे व्यक्तित्व को बौना साबित कर देती है। उसे मानसिक कुंठा से भर देती है। सुशीला टाकभौरे अपनी गरीबी और जातिगत बेबसी को रेखांकित करते हुए लिखती हैं –

''माँ, नानी, बहन और मैं रामलीला देखने, भजन और कव्वाली सुनने जाते थे। ...भीड़ बढ़ने पर हमको बीच से उठा दिया जाता था, तब हम बाद में आए हुए लोगों के पीछे जाकर बैठते। गाँव में नानी को सब पहचानते थे। हमें दूसरे लोगों के नजदीक देखकर लोग डाँटकर कहते – ''अरे, ठंड में रात के समय छूकर नहलवाओगे क्या ? आये हो तो अलग हटकर दूर बैठो।''[32]

दलित और गैर दलित में यही भिन्नता है। एक को साष्टांग दंडवत किया जाता है और दूसरे को कुत्ते से बदतर तरीके से दूर भगाया जाता है, दलितों को दंडवत की आकांक्षा नहीं है, किंतु समानता के अधिकारी वे हर हाल में हैं।

कुलीन श्रेष्ठता का ऐसा ही भाव पद्मा सचदेव की आत्मकथा में भी अभिव्यक्त हुआ है। पद्मा सचदेव जम्मू–कश्मीर की ब्राह्मण जाति से है। समाज के हर व्यक्ति के मन में अपने प्रति आदर, सम्मान की भावना, मदद के लिए लोगों के आगे बढ़े तत्पर हाथ पद्मा सचदेव को विषम परिस्थितियों में भी टूटने नहीं देते। पद्मा सचदेव बिना किसी जान–पहचान के एक प्रसिद्ध

---

[31] रमणिका गुप्ता, ''आप हुदरी एक जिद्दी लड़की की आत्मकथा', पृ.231

[32] सुशीला टाकभौरे, 'शिकंजे का दर्द', पृ.52

मुसलमान डॉक्टर के घर में बीमारी के कारण उनकी बेटी बनकर रही थीं। किन्तु यदि पद्मा किसी ऊँची जाति से न होतीं तो भी डॉक्टर उन्हें उतना हीप्रेम, सम्मान और अपनापन देते ? अपने कुलीन खानदान के बारे में पद्मा सचदेव लिखती हैं –

''एक बार दादाजी मंदिर में पूजा कर रहे थे। महाराजा प्रताप सिंह वहाँ से गुजरे। उन्होंने देखा और मंदिर में दर्शन करने चले गए। आकर दादाजी को प्रणाम किया तो क्रोध में दादाजी ने कहा – पहले ब्राह्मण को प्रणाम करना चाहिए, फिर भगवान को। क्रोध में दादा जी ने कहा – जाओ, तुम निस्संतान मरोगे।

x x x x x x

जब मेरे दादा जी की मृत्यु हुई, तब बिहारी पंडितजी के गुरु दूसरे–तीसरे दिन पुरमंडल में आए थे। ...किसी दुकान की छत पर सोये थे तो उन्होंने रोने की आवाज सुनी। फिर ये आवाज भी सुनी – मैं सरस्वती हूँ। मेरा पुत्र नहीं रहा इसलिए रो रही हूँ। दस दिन तक जब तक उनकी अस्थियाँ देविका में रहीं तब तक सरस्वती रोती रहीं। जब उनका पिण्डदान हुआ तभी रोने की आवाज आनी बंद हुई। ऐसे दादाजी की पोती होने पर मेरा सिर गर्व से ऊँचा और ह्रदय असामान–जैसा विशाल हो गया।''[33]

अपनी कुलीन श्रेष्ठता के बावजूद पद्मा सचदेव अपनी आत्मकथा में दलितों के प्रति भी सहानुभूति, लगाव रखती हैं। उनके घर की रोटियाँ भी खा लेती हैं –

''मुझे वो गँवई लड़के बहुत याद आये थे जो सुदूर पहाड़ों से उतर कर पुरमंडल में मेलों–जमावड़ों में जूता गाँठने का काम करने आते थे। ताई ने उन्हें आँगन के आखिर में खाली पड़ा एक मकान दे दिया था। जो उन्होंने चमका लिया था। वो पहाड़ से खूब दूध में बनी और घी में तली नमक

[33] पद्मा सचदेव, 'बूँद बावड़ी', पृ.32–33

आजवाइन की रोटियाँ लाये थे जो वो कई दिन तक खाते रहे थे। उन्हें मैं अपनी ताई के घर से लाई हुई लस्सी यदा–कदा दे देती थी। कास्तू ताई ने कहा था ये चमार हैं, इन्हें अपना बर्तन नहीं देना। पर एक दिन मैंने कास्तू ताई की हंडिया में से लस्सी भरकर उन्हें दे दी। फिर उनकी रोटी का टुकड़ा भी खा लिया जो बड़ा स्वादिष्ट था। अगर मेरी ताई को पता चल जाता तो वे बेहोश हो जातीं।''[34]

'दूध में बनी, घी में तली, नमक–आजवाइन डली' दलितों की रोटियाँ तो पद्मा जी ने खा लीं, किंतु सभी दलितों के भाग्य में दूध में बनी, घी में तली रोटियाँ नहीं लिखी होतीं, उनके भाग्य में तो धर्म ने जूठन ही लिखा है–

''गाँव के शादी ब्याह या किसी आयोजन के भोजन की जूठन घर में लाने की सख्त मनाही थी। मुझे भाइयों की यह बात अच्छी नहीं लगती थी। कभी–कभी नानी उनसे छुपाकर लाती। जूठन अपनी बहन के परिवार के लिए सिवनी पहुँचा देती, अच्छा अपने लिए सुखाकर रखती थी। कभी–कभी नानी सुखाई हुई पूरियों और रोटियों में गुड़ डालकर पकाकर लप्सी बनाती, तब वह चुपके से छोटे भाइयों और मुझे बुलाकर खिलाती थी। खाने में तो अच्छा लगता ही था। मगर नानी ने क्या बनाया है और मैंने क्या खाया है यह बताने में शर्म आती थी। बड़े भैया मुझे डाँटकर कहते थे – ''ऐसा खाने से विद्या नहीं आती है, बुद्धि नहीं आती है। पढ़ने वाले बच्चे ऐसी चीजें नहीं खाते हैं।''

पिताजी भी यह सब लाने, बनाने और खाने पर नाराज होते थे। तब नानी गुस्से में उन्हें कहती थी – ''बड़ो रईश का जायो है, बड़ी बातें करे है। अरे, अपने गाँव गली की रोटी खाने में काय की शरम है ? अपनी मेहनत के रोटी, ठुकड़ा है, का इन्हें फेंक दें ? धर्म और आदर्श की बातों के अनुसार नानी उसे अपना कर्त्तव्य मानती थी।''[35]

---

[34] पद्मा सचदेव, 'बूँद बावड़ी', पृ.77

[35] सुशीला टाकभौरे, 'शिकंजे का दर्द', पृ.65

हालाँकि यह कर्तव्य–बोध सहज और स्वतः स्वीकृत नहीं, बल्कि वर्चस्व का परिणाम है।

पद्मा सचदेव ईश्वर को मानने वाली आस्थावान स्त्री हैं, दुखों, तकलीफों में वे भगवान की शरण में जाती हैं, तो उन्हें अपने दुखों का ताप कम लगता है –

''मुझे गुस्से से अधिक अपनी असहायता पर खीझ आई। मैं मंदिर गई और शिव की पिंडी पर सिर रख दिया और मैंने कुछ नहीं माँगा। पर उन्होंने मुझे बल दिया। बल लेकर मैं लौटी मैंने लिखा –

बोले मेरे शिव शंभु भला हुन
कुन मेरा रखवाला ऐ।''[36]

शायद ईश्वर भी छुआछूत मानता होगा, क्योंकि वह सबके दुख तो दूर करता है लेकिन दलितों के नहीं। दलितों की पूरी जिंदगी नर्क से भी बदतर गुजरती है लेकिन ईश्वर को जरा–सा भी रहम नहीं आता। सुशीला टाकभौरे की नानी गाँव में सफाई का काम करती थीं, लोगों की गंदगी उठाते–उठाते ही उनका पूरा जीवन गुजरता है –

''बजबजाती गंदगी पर मुट्ठी भर राख डालकर वह अपनी किस्मत को कोसती थी। ऐसे समय में उसे गाँव बस्ती के लोग शैतान नजर आते। कभी भगवान ही सबसे बड़ा शैतान नजर आता। नानी गुस्से से उसे कोसते हुए कहती थी –''यह सब तेरी ही करतूत है भगवान। मुँह–पेट बनायो तो बनायो, जात–पांत क्यों बनाई ? हम ही क्यों करें नरक सफाई का काम ? जिसने रीत बनाई है, कभी वे भी करके देखें तब पता चलेगा।'' जिनके लिए भगवान के नाम से सब अच्छा है, वे भी भगवान की स्तुति ही करेंगे लेकिन जिनके लिए कुछ अच्छा नहीं, जिन्हें सुख–सुविधा, अवसर–अधिकार जैसी कोई चीज नहीं,

[36] पद्मा सचदेव 'बूँद–बावड़ी', पृ.221

वे भला भगवान को क्यों न कोसें ?... ऐसे समय में नानी कहती थी – ''किसका भगवान ? कौन सा भगवान, कैसा भगवान ?''

x x x x x x

कठोर परिश्रम से थककर, अपने कष्टों से घबराकर किलप–किलप कर गालियाँ देती हुई गुस्से से कहती – ''तेरी ठठरी बँध जाये, तेरो बुरो हो जाए भगवान। ओ तेरो सिंहासन डोल जाए... तेको सब भूल जाएँ...।''. ...''हे भगवान, तेरे मुँह में कीड़े पड़ जायें। कोई तोहे पानी देने वाला न रहे। तू तड़फ–तड़फ कर मरे। कोई तेरी मौत मट्टी पर न रोयें।''[37]

सुशीला आकभौरे की नानी की तरह सभी दलित भगवान को गाली नहीं देते, वे भी पूजा–पाठ करते हैं, भगवान में आस्था रखते हैं, कुछ उनके अनन्य भक्त होते हैं और कुछ के लिए भगवान की भक्ति अपनी श्रेष्ठता का माध्यम बन जाती है –

''माँ को जब समझ आने लगी कि भगवान वगैरह की सब बातें मनगढ़ंत हैं, तब उन्होंने पूजा–पाठ छोड़ दिया। लेकिन भाई भगवान से चिपका है। भाभी ने तो भगवानों की फौज खड़ी कर रखी है घर में। ...कहने लगी,

''ब्राह्मणों के घर 'देव्हारा' होता है, उनको दिखाने के लिए हमने भी 'देव्हारा' बनाया कि हम भी श्रेष्ठ हैं।''[38]

पारिवारिक उपेक्षा में, हर तरफ से डाँट–फटकर खाती हुई प्रभा खेतान अपने भाई–बहनों के बीच उपेक्षित–सी अलग–थलग पड़ी रहती हैं। उनका दोस्त बनता है 'खेदरवा' –

''खेदरवा मुझे अच्छा लगता, वह मेरा दोस्त था। सड़क पार की खाली जमीन में राम दुलारी की झोपड़ी थी। रामदुलारी गोबर बटोरती, उपले पाथती,

---

[37] सुशीला टाकभौरे, 'शिकंजे का दर्द', पृ.27

[38] कौसल्या बैसंत्री, 'दोहरा अभिशाप', पृ.101–111

कोयले का चूरा बटोरकर खेदरवा ले आता । उसमें गोबर और भूसी मिलाकर काले–काले लड्डू बनाकर राम–दुलारी सूखने डाल देती।''[39]

किंतु एक बार भी प्रभा खेतान अपने प्रिय दोस्त खेदरवा का सही और सम्मानित नाम नहीं ले पातीं, नहीं लिख पातीं। दुनिया के लिए और प्रभा खेतान के लिए खेदरवा 'खेदरवा' ही रहता है। इसी परिप्रेक्ष्य में अपने नाम के प्रति प्रभा खेतान की चेतना की सजगता देखते बनती है –

''दाई माँ कहती, ''हम चमार बिटिया हैं, चम्मा, चमेली बिन्दा और परभा।''

''दाई माँ मेरा नाम प्रभा है, प्रभा बोल.... परभा नहीं।''[40]

दलितों का जीवन अपमान, उपेक्षा, तिरस्कार, छुआछूत, हीनताबोध संघर्ष का जीवन है, एक तो गरीबी और ऊपर से दुत्कार, खाली पेट भूख की पीड़ा के साथ अस्पृश्यता का दंश, दोनों मिलकर दलितों का जीवन दुसह्य बनाते हैं।

सवर्ण भी गरीब होते हैं, संघर्ष करते हैं, किंतु वे छुआछूत का दंश नहीं जानते, गरीब होते हुए भी वे समाज में सम्मानित व्यक्ति माने जाते हैं। सवर्ण स्त्रियाँ भी स्त्री होने के नाते अपनी अस्मिता और अधिकार के लिए संघर्ष करती हैं, उनका भी शोषण होता है किंतु उनके साथ उनका गौरवपूर्ण इतिहास होता है, जातिगत, कुलीनगत श्रेष्ठता का भाव उनके मनोबल को बचाए–बनाये रखता है। सवर्ण स्त्रियाँ स्त्री होने के नाते छुआछूत बरतना खत्म नहीं कर देतीं। कुछ अपवादों को छोड़कर ये स्त्रियाँ भी अपने सवर्ण समाज की ही तरह दलितों के साथ वैसा ही व्यवहार करती हैं। दलितों एवं गैर दलितों के बीच की यह खाई उनकी भाषा में भी बहुत बड़ा फर्क पैदा करती है।

---

[39] प्रभा खेतान, 'अन्या से अनन्या', पृ.23

[40] प्रभा खेतान, 'अन्या से अनन्या', पृ.22

4. लोकगीतों, लोकोक्तियों एवं मुहावरों में यथार्थ और आकांक्षा के स्वर

स्त्री अपनी पीड़ा को, दुख–दर्द–यातना को सदियों से गीतों में ढालती आई है। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियों की स्थिति को लेकर तरह–तरह की लोकोक्तियाँ, मुहावरे और गालियाँ प्रचलित हैं। एक तरफ गीत, मुहावरे, लोकोक्तियाँ, गालियाँ सब–के–सब स्त्री जीवन का यथार्थ हैं तो दूसरी ओर इनसे मुक्ति की आकांक्षा उसके गीतों–लोकगीतों का आदिम स्वर। और ये सब–के–सब स्त्री आत्मकथाओं में दर्ज हो रहे हैं, क्योंकि जब ये स्त्री जीवन का अभिन्न हिस्सा हैं तो स्त्रियों की आत्मकथाएँ इन्हें कैसे छोड़ सकती हैं ? हो सकता है कि साहित्य के आलोचकों को ये नागवार गुजरे, किंतु मृणाल पाण्डेय इसका जवाब बखूबी देती हैं –

''महिला साहित्य के दर्जनों स्वयं नियुक्त समालोचक इधर साहित्य की पारम्परिक भाषा को लेकर लेखिकाओं के प्रश्न सूचक तेवर और उसकी अलग किस्म की भाषा–शैली और बिम्बों पर इस आधार पर खौखियाई टीपें जड़ रहे हैं, कि वे स्वीकृत साहित्य–सोच और चिंता से इतर हैं, अतः व्यर्थ हैं। वे भूल जाते हैं कि माँ–बहन की गालियाँ या पापड़ बेलना, चक्की पीसना, भाड़ झोंकना फिकरे और बिम्ब, उनके लिए भले ही मुहावरे या ठिठोली के बायस हों, इन मुहावरों से लैस एक पूरी भाषा स्त्रियों के लिए अपने जातीय शोषण का ठोस इतिहास और उनके दैनन्दिन वर्तमान की कटु बानगी है। इसके पीछे उनकी हजारों माँओं–दादियों–नानियों का सामूहिक दुख, पीड़ा भरी शिरा–सा धमकता है।''[41]

स्त्रियाँ अपने लोकगीतों में बहुत ही सहजता से जीवन के दुख–सुख की बातें कर लेती हैं –

''चिट्टे चोल बटोती देते मिट्ठा दाड़वां पीड़े दा।

---

[41] मृणाल पाण्डे, 'स्त्री : देह की राजनीति से देश की राजनीति तक', पृ.970

केह हाल तेरे दुखै सुखै का केह हाल तेरिये पीड़े दा।।

(बटोत के सफेद चावल और पीड़ा, गाँव का मीठा अनारदाना बड़ा प्रसिद्ध है। हाँ, तुम्हारा सुख–दुख कैसा है ? तुम्हारे उस दर्द का क्या हाल है?)''[42]

पद्मा सचदेव डोंगरी की प्रसिद्ध कवयित्री हैं। उनकी आत्मकथा में कश्मीरी औरत की व्यथा और आकांक्षा लोकगीतों में पूरी शिद्दत से उभर कर आयी है –

''चन्न माड़ा चढ़ेया ते बेरिया दे ओब्ले
बेर पटाओ म्हाड़ा चन्न मुआं बाले
मिलना जरूर मेरी जान हो !

(मेरा चाँद बेर के दरख्त के पीछे उगा है। बेर का दरख्त कटवा दो ताकि मेरा चाँद मुँह से बोले।)''[43]

सौंदर्य, प्रेम डोगरी के लोकगीतों की शान हैं, तो स्त्रियों के जीवन का दर्द उसकी टीस। पद्मा जी लिखती हैं –

''चल म्हाड़ा चड़या ते दूर धारां चौन्दियाँ
शीशे आह्ले गजरे ते रोज मारां पौन्दियाँ
मिलना जरूर मेरी जान हो !

(मेरा चाँद दूर रिसती पहाड़ियों में चढ़ा है। हाथों में शीशेवाले गजरे हैं और मुझे रोज मार पड़ती है।)

मेरे डुग्गर के गरीब लोगों की औरत की विडम्बना। जब भी मार पड़े, गजरे टूटने का डर है। जिस्म के नीले तो दूर हो जाते हैं, पर गजरे टूटेंगे तो कौन लगाकर देगा।''[44]

---

42 पद्मा सचदेव 'बूँद–बावड़ी', पृ.51
43 पद्मा सचदेव 'बूँद–बावड़ी', पृ.72–73
44 पद्मा सचदेव 'बूँद–बावड़ी', पृ.103

जम्मू कश्मीर में देश की सुरक्षा में लगे फौजी वहाँ के जन–जीवन का हिस्सा बन चुके हैं, फिर भला वो कैसे लोकगीतों में नहीं शामिल होते –

''बारी बरसती खट्टन गया सी
खट्ट के ले परान्दी

कुड़िये पसंद कर ले
गड्डी पर फौजियाँ दी जान्दी...

(बारह बरस की कमाई करके एक चुटिया लाया है। फौजियों से भरा ट्रक जा रहा है। आओ, अपने लिए कोई लड़का पसन्द कर लें।)''[45]

एक लोकगीत न जाने कितना लम्बा सफर करता है तब अपना पूरा स्वरूप प्राप्त करता है। उसके एक–एक अन्तरे में कितने लोगों के दुख–दर्द और हसरतें गुंथी होती हैं, इसे पद्मा सचदेव बहुत ही गहराई से पकड़ती हैं–

''पता नहीं सबके बीच बैठे–बैठे मैं कैसे अकेली हो जाती थी। तब लोकगीत कैसे बनता था, ये भी मैंने जाना। एक गाँव में मजुड़ा बनता, दूसरे में अंतरा। फिर हर गाँव में अंतरे पड़ते जाते। इन लोकगीतों के रचने वाले गरीब लोग ये कहाँ जानते थे कि वे साहित्य रच रहे हैं।''[46]

मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा में गाँव और गाँव की स्त्रियाँ पूरे दम–खम के साथ मौजूद हैं, और उनके साथ मौजूद हैं सभ्य–समाज के लिए अश्लील माने जाने वाले उनके गीत। जो श्लीलता, अश्लीलता के दायरे से बाहर उनके लिए जीवन का उत्सव हैं –

''मामी और बुआ को जमकर गालियाँ सुनाईं – मेरी सौत, छिनाल, लुच्ची, खानगी ब्याह–गहने करने आई हैं कि फोंगना फाड़ने ? लाओ हम सुनाएँ तुम्हें खरी–खरी। खोलें तुम्हारी चोरी–छिनारी। चटक–छिनार नहीं तो।.. .. गाना आरम्भ हुआ –

---

[45] पद्मा सचदेव 'बूँद–बावड़ी', पृ.80
[46] पद्मा सचदेव 'बूँद–बावड़ी', पृ.82

कलावती – सुनियो रे लोगों, भातैन हमारी के चोरी भई

लौंग सिरी – चोरी में भातैन कौ कर की गयौ ?

कलावती – झटखुसना कंघा चोरी गयौ

विद्या बीबी – गंड़ धुवना लोटा चोरी गयौ

x x x x x x x

दल बाँधकर अश्लील पदों की झड़ी लगा दी –

– धारा कैसी बहै मोय देखने को चाव

– गंगा कैसे बहै मोय देखने कौ चाव

– विद्या दारी नहाने चली, संग चले सब यार।/धारा कैसी...

– जब छारी ने डुबकी मारी, कूद पड़े सब यार/ धारा..।''[47]

स्त्री की लोक भाषा की अश्लीलता के प्रश्न पर मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं–

''अश्लीलता के प्रश्न को ध्यान में रखते हुए देखें तो एक स्तर पर लोकमत में उपस्थित गीत, भाषा का स्वरूप, मुहावरे या गालियों जैसी सहज भावाभिव्यक्तियाँ शास्त्र की दृष्टि से असभ्य, असंस्कृत और अश्लील मान ली जाती हैं। यहाँ लोक और शास्त्र का, अभिजन और जन का जीवन और संस्कृति के स्तर पर विरोध साफ दिखाई देता है। कई बार लोक या जन सत्ता शास्त्र के आतंक से मुक्त होने के लिए जानबूझकर स्थिर, स्थापित सत्ताओं, मर्यादाओं और मान्यताओं का तथाकथित अश्लीलता के माध्यम से मजाक उड़ाता है। भद्रता के पाखंड का यह विरोध लोक की सहज सर्जनात्मक प्रतिभा का विस्तार है।''[48]

---

47 मैत्रेयी पुष्पा, 'कस्तूरी कुंडल बसै', पृ.215

48 मैनेजर पाण्डे, 'औरत उत्तरकथा', संपा.–राजेंद्र यादव, अर्चना वर्मा, पृ.108

विभिन्न अवसरों पर, शादी–ब्याह के उत्सवों पर स्त्रियों द्वारा दी जाने वाली गालियाँ, पुरुष सत्ता से स्त्रियों का सृजनात्मक प्रतिरोध हैं।

लोक जीवन में फैली अनेक कहावतों, लोकोक्तियों में भरी दारुण विवशता को, यथार्थ को, मैत्रेयी पुष्पा अपनी आत्मकथा में अंकित करती हैं –

''लाली, किताबों में क्या पढ़ती हो ? उसमें यही लिखा है कि जिन्दगी अनब्याहे ही काट दो और भारी सिल की तरह भइया की छाती पर लदी रहो। यह कहीं नहीं लिखा कि बेटी धान का पौधा होती है, समय से दूसरी जगह रोप देना ही अच्छा होता है। बखत निकलता जाता है, पौधा मरने लगता है, जड़ें सूख जाती हैं। कड़ा पड़ता जाता है और उखाड़कर फेंक देना पड़ता है। किताबों में यह नहीं लिखा तो किताबें झूठी हैं। औरत की जिंदगी का सार नहीं है उनमें।''[49]

बेटियाँ जरा–सी बड़ी नहीं होतीं कि उन्हें धान के पौधे की तरह उखाड़ कर रोपने के लिए समाज बेचैन हो उठता है, उन्हें अच्छी शिक्षा देने की, आत्मनिर्भर बनाने की चिंता किसी को भले ही न हो, किन्तु उखाड़कर रोपने की चिंता सभी करते हैं। उखाड़े जाने की प्रक्रिया एक स्त्री से उसके मायके के सारे संबंध तोड़ देती है, जड़ें सूख जाती हैं उस मिट्टी में। समाज को बेटियाँ न अब स्वीकार हैं, न तब स्वीकार थीं, बेटों की पूछ कल भी थी और आज भी है –

''चरन सिंह बौहरे ने कराहकर कहावत कही ''बेटी होते बुरी, बेटी जाते बुरी। बेटा जाये खुशी, बेटा ब्याहे खुशी।

X X X X X X

[49] मैत्रेयी पुष्पा, 'कस्तूरी कुंडल बसै', पृ.16

उन्हें क्या पता था मैत्रेयी उनके पाँव में पड़ी ऐसी साँकल है कि मौका पाते ही खींचकर लोग उनकी औकात बता देंगे।''[50]

ऐसी कहावतें और मुहावरे सदियों से स्त्री की हकीकत को बयान करती चली आ रही हैं। बेटी की माँ होना स्त्री के लिए पैरों की साँकल बना दी गई है, एक ऐसी कैन बना दी गई है, जहाँ स्त्री को अपमानित किया जा सके। समाज की नजर में बेटी भले ही माँ के लिए बेड़ी के समान हो किन्तु दोनों का गहरा रिश्ता स्त्रीत्व की शक्ति है –

''माता जी कहा करती थीं ''माय मरी तब जानियो, जब रोबत आबै धिय'' (माँ का मरना तब है, जब उसकी बेटी रोती आए।)''[51]

बेटियाँ कभी ससुराल से मायके रोते हुए नहीं आती हैं, वे अपने मायके अपनी जड़ों की ओर हमेशा खुशी–खुशी आती हैं, किन्तु अपनी माँ, अपने प्रियजनों के दुखद समाचार को सुनकर वे रोते हुए आती हैं। यदि ससुराल वालों की प्रताड़ना से दुखी होकर बेटी रोते हुए माँ के घर आती है तो माँ अपनी बेटी का दुख देखकर मृतप्राय हो जाती है। स्त्री जीवन की कितनी बड़ी विडम्बना छुपी है इस कहावत के भीतर।

दलितों के साथ दलित स्त्री के भीतर दलित होने की पीड़ा का भावबोध इतना गहरा है, जातिभेद इतना गहरा है कि वह बच्चों के खेल या बातचीत में भी उभर आता है, लोकोक्ति बनकर––

''माँ जब रोटी बनाती थी, मैं और छोटे भाई पहली रोटी लेने के लिए झगड़ते थे। माँ रोटी के टुकड़े करके हमें बाँट देती थी। फिर भी हम एक दूसरे को चिढ़ाने के लिए कहते थे –

---

[50] मैत्रेयी पुष्पा, 'कस्तूरी कुंडल बसै', पृ.76

[51] मैत्रेयी पुष्पा, 'गुड़िया भीतर गुड़िया', पृ.127

''पहला पीताम्बर, दूसरा राजा, तीसरा तेली, चौथा चाम, पगली घोड़ी, लगे लगाम। आ रे कुत्ता रोटी खा।''[52]

स्त्री आत्मकथाएँ भाषा को लेकर अत्यन्त सजग हैं। अपने अस्तित्व को नकारने वाली कहावतों, मुहावरों को तो दर्ज करती ही हैं, जीवन के प्रेम और सरलता को भी दर्ज करती हैं। संगीत स्त्री को अपनी वेदना से लड़ने की शक्ति देता है, इसलिए लोकसंगीत श्रमशील संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण तत्व है। दलितों एवं स्त्रियों से ज्यादा श्रम की महत्ता कौन समझता है भला ! स्त्री आत्मकथाओं में यह संस्कृति अपनी पूरी विरासत के साथ मौजूद है।

[52] सुशीला टाकभौरे, 'शिकंजे का दर्द', पृ.5

उपसंहार

समाज की मुख्यधारा से वंचित किये गये मनुष्य, चाहे वो दलित हों, आदिवासी हों या स्त्री हों, उनकी बहुआयामी शोषणपरक स्थिति के विरुद्ध, उनकी पहचान के लिए समाज और साहित्य में जो भी विचार, बहसें, आन्दोलन, विद्रोह आदि हुए और हो रहे हैं, उन्हें अस्मिता विमर्श के नाम से जाना–पहचाना गया है। शोषण से मुक्ति और समानता की प्रतिष्ठा ही अस्मिता विमर्शों की लोकप्रियता और प्रासंगिकता का कारण हैं। स्त्री अस्मिता विमर्श का उद्‌भव भले ही पश्चिम में हुआ हो, किंतु भारतीय सन्दर्भों में उसका स्वरूप पूरी तरह देशीय है, विदेशों से आयातित नहीं।

स्त्री अस्मिता विमर्श स्त्री की लैंगिक पहचान के आधार पर उसके शोषण एवं पितृसत्तात्मक समाज में उसकी दोयम दर्जे की स्थिति के विरुद्ध उपजा और विकसित हुआ है। स्त्री विमर्श का उद्देश्य पितृसत्ता के प्रतिरोध में मातृसत्ता की स्थापना नहीं, बल्कि स्त्री को भी एक मनुष्य के रूप में समान अधिकार और स्वतंत्रता मिले, यह सुनिश्चित करना है। स्त्री विमर्श के विभिन्न मुद्दे तथा देह, प्रेम, यौन, समानता, स्वावलंबन, आर्थिक सशक्तिकरण, शिक्षा आदि स्त्री की मुक्ति की अनिवार्य शर्तें हैं; हाँ इन मुद्दों को व्यक्तिगत हित को ध्यान में रखकर उसके अनुसार परिभाषित नहीं किया जाना चाहिए।

स्त्री आत्मकथाएँ अस्मिता विमर्श से जुड़कर एक लोकप्रिय विधा के रूप में इसलिए स्थापित हो पाती हैं क्योंकि ये अपने समय, समाज और स्त्री के जीवन की यथार्थपूर्ण अभिव्यक्ति करती हैं। आत्मकथाओं के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि पितृसत्ता स्त्री के शोषण एवं उन पर शासन करने, वर्चस्व स्थापित करने के लिए परिवार, विवाह, अधिकारविहीन करना, जीवन की परिस्थितियों को असह्य रूप को कठिन बनाने, यौन शोषण, दलित स्त्री का त्रिस्तरीय उत्पीड़न आदि

अनेक प्रकार के हथकंडों, विचारधाराओं का प्रयोग करती है। अपने जीवन की इन विडम्बनापूर्ण परिस्थितियों को स्त्री आत्मकथाएँ प्रमुखता से अनावृत्त करती हैं।

स्त्री अपने लिए कोई विशेषाधिकार नहीं चाहती है। वह अपने जीवन में स्वतंत्रता की आकांक्षी है, जो उनका अधिकार होते हुए भी नहीं मिलता। अपनी अस्मिता के प्रति जागरूक स्त्री के मन में वर्तमान जीवन की कटु सच्चाइयों एवं भविष्य के जीवन की दुखद आकांक्षा में निरन्तर द्वन्द्व चलता है। स्त्री प्रत्यक्ष रूप से जीवन की कठिनाइयों का भले ही खुलकर सामना न कर पाए, किन्तु मानसिक स्तर पर वह सदैव इनसे मुठभेड़ करती है। स्त्री का मानसिक स्तर पर किया गया संधर्ष, वास्तविक जीवन के संघर्ष की पूर्वपीठिका और प्रेरणा बन जाता है। अपने सशक्तिकरण एवं अपनी अस्मिता के प्रति सजग स्त्री लेखिकाएँ पितृसत्तात्मक व्यवस्था से लम्बा संघर्ष करती हैं और काफी हद तक कामयाब भी होती हैं।

स्त्री आत्मकथाकार अपनी आत्मकथाओं में अपनी अनुभूतियों को सघन रूप में प्रस्तुत करती हैं। इसके लिए वो अपनी आत्मकथाओं में शिल्प के स्तर पर स्मृतियों, फ्लैश बैक, अतीत–वर्तमान में बारंबार आवागमन की सुविधा, स्मृतियों का विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुतिकरण आदि का प्रयोग करती हैं साथ ही स्त्री–पुरुष संबंधों में तनाव, दलित–ग़ैर दलित चरित्रों के भाषिक अन्तर को भी रूपायित करती हैं। लोकगीतों, मुहावरों और लोकोक्तियों आदि से जुड़कर स्त्री आत्मकथाएँ भाषा के स्तर पर समृद्ध बनती हैं।

शोषण के शिकंजे से स्त्रियों की मुक्ति के बिना न तो एक स्वस्थ परिवार का निर्माण किया जा सकता है, न ही स्वस्थ–समद्ध समाज और राष्ट्र का। स्त्री विमर्श के सन्दर्भ में आत्मकथाओं का यह अध्ययन सभी शोषित, वंचित स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करता है – शोषण–उत्पीड़न का भी और मुक्ति की अदम्य आकांक्षा का भी।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

आधार ग्रंथ

कुसुम अंसल	**जो कहा नहीं गया** राजपाल एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1996
कौसल्या बैसंत्री	**दोहरा अभिशाप** परमेश्वरी प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण : 1999
कृष्णा अग्निहोत्री	**लगता नहीं है दिल मेरा** सामयिक बुक्स, नई दिल्ली प्रथम संस्करण : 2010
कृष्णा अग्निहोत्री	**और..... और... औरत** सामयिक बुक्स, नई दिल्ली प्रथम संस्करण : 2010
चन्द्रकिरण सौनरेक्सा	**पिंजरे की मैना** पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण : 2010
पदमा सचदेव	**बूँद–बावड़ी** वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण : 1999
प्रभा खेतान	**अन्या से अनन्या** राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली प्रथम संस्करण : 2010 पहली आवृत्ति– 2012
मन्नू भंडारी	**एक कहानी यह भी** राधाकृष्ण पेपरबैक्स, नई दिल्ली प्रथम संस्करण : 2008 पहली आवृत्ति– 2011

मैत्रेयी पुष्पा	**कस्तूरी कुंडल बसै** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण : 2002
मैत्रेयी पुष्पा	**गुड़िया भीतर गुड़िया** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण : 2008
रमणिका गुप्ता	**हादसे** राधाकृष्ण पेपरबैक्स, नई दिल्ली प्रथम संस्करण : 2005 पहली आवृत्ति– 2010
शीला झुनझुनवाला	**कुछ कही कुछ अनकही** किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण : 2012
सुनीता जैन	**शब्द काया** सरस्वती बिहार नोएड (उ.प्र.) प्रथम संस्करण : 2005
सुशीला टाकभौरे	**शिंकजे का दर्द** वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण : 2010

सन्दर्भ ग्रन्थ

अनामिका	**मन माँझने की जरुरत** सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण : 2006
अनीता भारती	**समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध** स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण : 2013

अभय कुमार दुबे	**आधुनिकता के आईने में दलित** वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली पहला संस्करण : 2002
अभय प्रसाद सिंह (सं0)	**समकालीन भारत में विकास की प्रक्रिया और सामाजिक आन्दोलन,** ओरियंट ब्लैंकस्वान, नई दिल्ली प्रथम संस्करण : 2015
अमर्त्य सेन	**हिंसा और अस्मिता का संकट** राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, संस्करण : 2011
डॉ0 अमरनाथ	**नारी मुक्ति का संघर्ष** रे माधव पब्लिकेशन्स, गाजियाबाद प्रथम संस्करण : 2007
ओम प्रकाश वाल्मीकि	**दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र** राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण : 2001
कँवल भारती	**दलित साहित्य की अवधारणा** बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर प्रथम संस्करण : 2006
कँवल भारती	**धर्मवीर का फासिस्ट चिंतन** स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण : 2012
प्रो0 कमला प्रसाद	**स्त्री मुक्ति का सपना** वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण : 2006
कृष्णदत्त पालीवाल	**दलित साहित्य : बुनियादी सरोकार** वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण : 2009

गीतेश शर्मा	**धर्म के नाम पर** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण : 2003
गोबिन्द प्रसाद	**आलाप और अन्तरंग** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली पहला संस्करण : 2011
डॉ0 गोविन्द रजनीश (सं0)	**रैदास रचनावली** अमरसत्य प्रकाशन, दिल्ली
जगदीश्वर चतुर्वेदी	**स्त्रीवादी साहित्य विमर्श** अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2000
जनार्दन झा (टीका0)	**मनुस्मृति** सिद्धार्थ बुक्स, दिल्ली संस्करण : 2011
तुलसीदास	**रामचरितमानस** गीता प्रेस गोरखपुर संस्करण : सं0 2068
दीपक कुमार, **देवेन्द्र चौबे** (सं0)	**हाशिये का वृत्तान्त** आधार प्रकाशन, हरियाणा प्रथम संस्करण : 2011
डॉ0 धर्मवीर	**तीन द्विज हिन्दू स्त्रीलिंगों का चिंतन** वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण : 2012
डॉ0 नगेन्द्र, **डॉ0 हरदयाल** (सं0)	**हिन्दी साहित्य का इतिहास** मयूर पेपरबैक, नोएडा प्रथम संस्करण : 1973 पुनर्मुद्रण : 2012

डॉ0 पुष्पपाल सिंह (सं0)	**कबीर ग्रन्थावली** नमन प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण : 2004
प्रभा खेतान	**उपनिवेश में स्त्री : मुक्ति कामना की दस वार्ताएँ** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण : 2003
डॉ0 भगवानदास तिवारी	**मीरा का काव्य** साहित्य भवन प्रकाशन, इलाहाबाद संस्करण : 1997
महादेवी वर्मा	**श्रृंखला की कड़ियाँ** लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद संस्करण : 2008
मुद्राराक्षस	**धर्मग्रन्थों का पुनर्पाठ** इतिहास बोध प्रकाशन, तृतीय संस्करण : 2009
मेरी वोल्सटन क्राफ्ट	**स्त्री अधिकारों का औचित्य साधन** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण : 2003
मृणाल पाण्डे	**स्त्री देह की राजनीति से देश की राजनीति तक** राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण : 1987
रमणिका गुप्ता	**स्त्री मुक्ति : संघर्ष और इतिहास** सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण : 2014

रमणिका गुप्ता	**आदिवासी : विकास से विस्थापन** राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली तीसरा संस्करण : 2015
रमणिका गुप्ता	**आपहुदरी** सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण : 2016
रमेश उपाध्याय, **संज्ञा उपाध्याय** (सं0)	**आज का स्त्री आन्दोलन** शब्द संधान प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण : 2014
राजकिशोर (सं0)	**स्त्री, परम्परा और आधुनिकता** वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण : 2010
राजेन्द्र यादव, **अर्चना वर्मा** (सं0)	**औरत उत्तरकथा** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण : 2002
राजेन्द्र यादव	**आदमी की निगाह में औरत** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण : 2006
राधा कुमार	**स्त्री संघर्ष का इतिहास** वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण : 2002
डॉ0 रामकली सर्राफ (सं0)	**दलित लेखन के अन्तर्विरोध** शिल्पायन, दिल्ली संस्करण : 2012
रेखा कस्तवार	**स्त्री चिंतन की चुनौतियाँ** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली चौथा संस्करण : 2016

रोहिणी अग्रवाल	**स्त्री लेखन : स्वप्न और संघर्ष** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण : 2011
रोहिणी अग्रवाल	**साहित्य की जमीन और स्त्री मन के उच्छ्वास** वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण : 2014
विनीता अग्रवाल	**हिन्दी आत्मकथाएँ : सिद्धान्त एवं स्वरूप विश्लेषण** सचिन प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण : 1989
विमल थोराट	**दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर** अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली प्रथम संस्करण : 2008
श्यामाचरण दूबे	**समय और संस्कृति** वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण : 1996
डॉ0 श्यौराज सिंह बेचैन, डॉ0 देवेन्द्र चौबे (सं0)	**चिंतन की परम्परा और दलित साहित्य** लता साहित्य सदन, गाजियाबाद, संस्करण : 2010
श्री धरम	**स्त्री संघर्ष और सृजन** अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद प्रथम संस्करण : 2008
सरला माहेश्वरी	**नारी प्रश्न** राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण : 1998

साधाना आर्य, **निवेदिता मेनन,** **जिनी लोकनीता** (सं0)	**नारीवादी राजनीति : संघर्ष एवं मुद्दे** हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय प्रथम संस्करण : 2001
सुमन राजे	**हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास** भारतीय ज्ञानपीठ पाँचवाँ संस्करण : 2015
हरिराम मीणा	**आदिवासी दुनिया** नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली प्रथम संस्करण : 2013

पत्र–पत्रिकाएँ

1. **अपेक्षा,** जुलाई–दिसम्बर 2003, संपादक : तेज सिंह
2. **अपेक्षा**, जनवरी–मार्च 2008, पृष्ठ : 6 संपादक : तेज सिहं
3. **अपेक्षा**, जुलाई–दिसम्बर 2010, संपादक : तेज सिंह
4. **आजकल**, मार्च 2007, संपादक : सीमा ओझा
5. **कल के लिए**, जुलाई–दिसम्बर 2012, संपादक : डॉ0 जयनारायण
6. **पाखी**; सितम्बर 2011 संपादक : प्रेम भारद्वाज
7. **बयान**, मई 2011, संपादक : मोहनदास नैमिशराय
8. **स्त्रीकाल,** अप्रैल 2010, संपादक : संजीव चन्दन
9. **हंस,** जुलाई 2007, संपादक : राजेन्द्र यादव
10. **हंस,** जून 2008, संपादक : राजेन्द्र यादव

11. **हंस,** नवम्बर 2008, संपादक : राजेन्द्र यादव

12. **हंस,** मई 2012, संपादक : राजेन्द्र यादव

13. **हंस,** मई 2013, संपादक : राजेन्द्र यादव

कोश ग्रंथ

अभय कुमार दुबे (सं0)	**समाजविज्ञान विश्वकोश (खण्ड–1)** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण : 2013
कालिका प्रसाद, **राजवल्लभ सहाय,** **मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव** (सं.)	**बृह हिन्दी कोश** ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी पंचम संस्करण : 1984
डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा (सं0)	**हिन्दी साहित्य कोश (भाग–1)** ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी तीसरा संस्करण : 1985
डॉ0 हरदेव बाहरी	**अंग्रेजी हिन्दी शब्द कोश** राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली